त्रैमासिक

हिन्दुस्तानी

हिन्दुस्तानी

[त्रैमासिक शोध पत्रिका]

भाग ४३ | जनवरी-मार्च

अङ्क १ | सन् १९८२ ई०

प्रधान सम्पादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

सम्पादक

डॉ० जगदीश गुप्त

सहायक सम्पादक

डॉ० रामजी पाण्डेय

मूल्य : ५ रुपये | वार्षिक २० रुपये

अनुक्रमणिका

महाभारत :
बुद्धोत्तरकालीन रचना है

श्री हरिप्रसाद नायक

इस समय महाभारत नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध है, उसमें श्लोकों की संख्या डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल के अनुसार ८२,१३६ है, परन्तु गीता-प्रेस (गोरखपुर) द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में ८६,६०० (उत्तर भारतीय पाठ) श्लोक हैं। दक्षिणात्य पाठ तथा उवाच मिलाकर श्लोकों की संख्या लगभग एक लाख (१००२१७) हो जाती है। इसलिए इसे 'शतसाहस्री संहिता' भी कहते है। यह श्लोक संख्या अठारह पर्वों की ही नहीं है, बल्कि 'हरिवंश' के श्लोको को मिलाने से ही एक लाख तक पहुँचती है। 'हरिवंश पुराण' को महाभारत का 'खिल' कहा गया है, अर्थात् महाभारत में अपूर्ण रह गई घटनाओं की पूर्ति के लिए यह एक 'उपसंहार' की तरह लिखा गया है। इस पुराण में सोलह हजार श्लोक हैं। महाभारत और हरिवंश के श्लोकों का योगफल लगभग एक लाख (८६,६०० + १६,००० = १०२६००) हो जाता है।

वर्तमान महाभारत असल महाभारत (भारत) का समुपबृंहित रूप है। असल महाभारत वस्तुत: एक ऐतिहासिक ग्रन्थ था, न कि औपदेशिक। कहा जाता है कि मूल महाभारत में कुल ८००० श्लोक थे और इसका नाम 'जय' था जिसका उल्लेख 'आदिपर्व' में है—"जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा (६२·२०)।" इसके अतिरिक्त प्रत्येक पर्व का प्रारम्भ वक्ष्यमाण आशीर्वाद से होता है—

"नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥"

'जय' शब्द का अर्थ महाभारत नामक इतिहास ही है। पाण्डवों के विजय-वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का नामकरण 'जय' किया गया प्रतीत होता है।

(२)

महाभारत का युद्ध निश्चित रूप से कब हुआ था, इस विषय पर आज भी अनुसंधित्सुओं का प्रयास जारी है। यह युद्ध हुआ ही नही था, ऐसा भी कहना उचित नहीं हैं। कुछ विद्वानो ने इस युद्ध के होने का तर्कपूर्ण विरोध किया है। 'आदिपर्व' में श्लोक है कि कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओं की संख्या अठारह अक्षौहिणी थी। एक अक्षौहिणी सेना में रथों की संख्या २१८७० होती है और हाथियों की भी इतनी ही संख्या होती है। पैदल सेनाओं की संख्या १०९३५० तथा घुड़सवारों की संख्या ६५६१० होती है (द्वितीयोऽध्याय : २३-२६)। डॉक्टर सरकार का यह कहना सर्वथा मान्य है कि अठारह अक्षौहिणी सेना का कुरुक्षेत्र जैसे मैदान में इकट्ठा होना असम्भव है।

महाभारत-युद्ध के स्थितिकाल को लेकर विद्वानों में मतभेद है। पार्जिटर महोदय ने इस युद्ध का समय ८५० ई० पू० के लगभग निश्चित किया है, परन्तु डॉ० विंसेंट स्मिथ ने १००० ई० पू० को मान्यता दी है। डॉ० बी० पी० सिन्हा के मतानुसार यह युद्ध ई० पू० १२०० और १००० के बीच किसी समय हुआ इलियट और ने लिखा है कि इस युद्ध की तिथि ज्योतिष के आधार पर ईसा से १२०० वर्ष पहले की मानी जाती है पाणिनि की में भारत

और महाभारत (६.२.३८) के अतिरिक्त 'वासुदेवार्जुन' (४ ३.६८) का भी उल्लेख है। अनेक विद्वानों के मतानुसार पाणिनि का काल १२०० ई० पू० है। इस आधार पर यह युद्ध १२०० ईसा पूर्व होना चाहिए। लोकमान्य गंगाधर तिलक ने 'भागवत धर्म का उदय और गीता' (गीता-रहस्य के अन्तर्गत) शीर्षक लेख में लिखा है कि 'ईसाई सन् के लगभग १४०० वर्ष पहले भारतीय युद्ध और पाण्डव हुए होंगे।' डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने पुराणों में उपलब्ध वंशावलियों की समीक्षा कर इस युद्ध का समय १४२४ ईस्वी पूर्व स्वीकृत किया है और सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा भी यह काल समर्थित है। ऐसे तो डॉ० एलिफिंस्टन ने इस युद्ध का काल १४५० ई० पू० माना है; परन्तु डॉ० जायसवाल द्वारा दी गई तिथि प्रामाणिक प्रतीति होती है। विद्वान् पुरातत्त्ववेत्ता ने इस विषय पर श्लाघनीय अनुसन्धान किया है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी महाभारत-युद्ध का समय १४०० ई० पू० माना है। इस विषय पर अमृत बसन्त पंड्या ने पौराणिक राज्यवंशों पर गवेषणा करके यह सिद्ध कर दिया है कि यह युद्ध ई० पू० १४५० और ८५० के मध्य हुआ। उनके मतानुसार ई० पू० १४५० का वर्ष कुछ प्रामाणिक प्रतीत होता है।

आजकल के बहुसंख्यक विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि गौतम बुद्ध का निर्वाण ५४४ ईस्वी पूर्व में हुआ, अर्थात् इनका काल छठी सदी ईसा पूर्व था। इस दृष्टिकोण से गौतम बुद्ध का आविर्भाव महाभारत-युद्ध (१४२४ ई० पू०) के सैकड़ों वर्ष बाद हुआ। 'दि महाभारत एण्ड इण्डियन आरकियालाजि (प्रज्ञा भारती : प्रथम वर्ष, अंक १-२)' शीर्षक अपने लेख में डॉ० बी० पी० सिन्हा ने तर्क दिया है कि 'महाभारत के वीर रथ पर आरूढ़ होकर तीर-धनुष से लैस होकर रणक्षेत्र में उतरते हैं। किसी भी योद्धा को घोड़े पर सवार नहीं देखते हैं। हम बुद्ध को घोड़े पर सवार देखते हैं जो घोड़ा मौर्य सेना के लिए प्रमुख सवारी है। इसलिए बुद्ध से बहुत पूर्व महाभारत-युद्ध होना चाहिए।' परन्तु सिन्हा जी का यह कोई सर्वमान्य तर्क नहीं है। प्राग्वैदिक काल से ही अश्वारोही सेना का प्रचलन चला आ रहा था। बाहर से आये आर्यों का लड़ाई का सबसे बड़ा साधन घोड़ा ही था जिसकी मदद से भारत में बसे दासों को उन लोगों ने पराजित किया। घुड़सवारों और रथों की तेज मार के आगे दासों का खड़ा रहना असम्भव हो गया (मोतीचन्द्र कृत सार्थवाह)। इसके अलावा डॉ० सिन्हा अक्षौहिणी सेना में घुड़सवारों की संख्या क्यों भूल गए जहाँ स्पष्ट रूप से लिखा गया है—

"पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च।
दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ॥२६॥"— दूसरा अध्याय (आदिपर्व)
(एक अक्षौहिणी सेना में घोड़ों की संख्या ६५६१० कही गई है।)

उन दिनों घोड़ों का इस्तेमाल सिर्फ सेनाओं के लिए होता था, जन-साधारण के लिए इसका प्रयोग वर्जित था; परन्तु व्यक्ति-विशेष के लिए इसकी छूट थी। गौतमबुद्ध असाधारण व्यक्तित्व के प्राणी थे और अगर वह घोड़े पर सवार थे तो इससे उनके स्थितिकाल में कोई व्यवधान नहीं पड़ता है।

महाभारत-युद्ध में तीर-धनुष के अतिरिक्त पत्थर भी एक आयुध थे, इस कारण महाभारत को प्रस्तर-युग में रखना भयंकर भूल होगी। महाभारत के अवलोकन से पता चलता है कि महाभारत-युद्ध गौतम बुद्ध के पश्चात् हुआ।

गौतम बुद्ध का काल-निर्णय करने में इतिहासज्ञों ने भूल की है जिसके प्रति प्रथम ध्यान आकर्षित करने का श्रेय ई० जे० रैपसन को है; परन्तु इन्होंने किसी निश्चित तिथि का उल्लेख नहीं किया है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (प्रथम खण्ड)' में इन्होंने लिखा है—

> आनफारच्यूनेटलि इवन आफ्टर आल दैट हैज बीन रिटन् आन दि सब्जेक्ट आफ अर्लि बुद्धिस्ट, क्रॉनॉनॉजि, वी आर स्टिल अनसर्टन् एज टु दि एक्जाक्ट डेट ऑफ दि बुद्धाज बर्थ। दि डेट ४८३ बी० सी० अडाप्टेड इन दिस हिस्ट्री मस्ट स्टिल बी रिगार्डेड एज प्राविजनल।"
>
> (दुर्भाग्य से, बुद्ध की प्रारंभिक तिथि के विषय में सब कुछ लिखे जाने के पश्चात् भी बुद्ध की सही जन्म-तिथि के सम्बन्ध में हम अभी भी अनिश्चित है। इस इतिहास में ईसा पूर्व ४८३ की मान्य तिथि को अभी भी अस्थायी ही मानना चाहिए।)

विंसेन्ट स्मिथ ने इस विषय मे कई मौलिक खोज का प्रयत्न नहीं किया, तो भी इन्होने बुद्ध की प्रचलित निधन-तिथि पर अपनी शंका प्रकट करते हुए लिखा है कि इनकी तिथि सही नहीं है—

> "दि डेट ऑफ हिज डिसीस् लाइक दैट ऑफ महावीर्स कैननाट् बी डेटरमिन्ड विथ आक्यूरेटसि।"

गौतम बुद्ध के निश्चित तिथिकाल को बरगलाने में मेगास्थनीज के भारत-विवरण-सम्बन्धी ग्रन्थ 'इण्डिका' का सबल हाथ है। इस ग्रन्थ मे पालिब्रोथा (Palbothra अथवा Palimbothra) तथा सेण्ड्राकोट्टस (Sandrakottos या Sanrdocyptus) के उल्लेख हैं। इसी सेण्ड्राकोट्टस की राज्यसभा में मेगास्थनीज राजदूत के रूप मे रहा था। सर विलियम जोन्स ने यह सिद्ध कर दिया है कि पालिब्रोथा पाटलिपुत्र का ग्रीक नाम है तथा सेण्ड्राकोट्टस चन्द्रगुप्त मौर्य है। जोन्स का यह अनुसन्धान विल्फोर्ड, विल्सन, लैस्सन, मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानो द्वारा समर्थित है; परन्तु प्रोफेसर टोयर ने जोन्स की इस मान्यता पर अपना सन्देह प्रकट किया है। प्रोफेसर मैक्समूलर ने इस विषय पर और भी अन्वेषण करके यह निश्चित कर दिया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का ही ग्रीक नाम सेण्ड्राकोट्टस अथवा सेण्ड्रोकिप्टस है। इसी 'इण्डिका' के आधार पर पाश्चात्य विद्वानो ने गौतम बुद्ध का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी माना है और इनका अनुकरण बहुसंख्यक भारतीय इतिहासकारों ने किया है।

यूनानी तिथिवृत्तकार यह नहीं बताते कि यह चन्द्रगुप्त गुप्तवंश का है अथवा मौर्यवंश का। कोटा वेंकटाचलम् ने अपना विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

> "दि राङ्ग आइडेंटीफिकेशन ऑफ दि मौर्य चन्द्रगुप्त एज दि कन्टेमपरारी ऑफ एलेक्जेण्डर विशिएटेड दि इन्टायर क्रॉनॉलॉजि ऑफ दि एन्शेंट हिस्ट्री ऑफ भारत इन्क्लूडिंग दि डेट ऑफ लार्ड बुद्ध।"
>
> (सिकन्दर के समकालीन मौर्य चन्द्रगुप्त को गलती से मान लेने की त्रुटि ने भगवान् बुद्ध की तिथिसहित भारत के प्राचीन इतिहास की सभी तिथियों को भ्रष्ट कर दिया है।)

इनके मतानुसार 'इण्डिका' का चन्द्रगुप्त गुप्तवंश का है जिसका काल ३२७-३२० ई० पू० है क्योंकि सिकन्दर का भारत-आक्रमण ई० पू० ३२६ में हुआ था। यह निश्चित है कि जिस चन्द्रगुप्त (Sandrocyptus) का उल्लेख यूनानियों ने किया है, वह मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्त न होकर गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त था। इस भूल के कारण पाश्चात्य तथा भारतीय इतिहासवेत्ताओं ने भारतीय इतिहास की तिथियाँ निश्चित करने में करीब तेरह सौ साल की भूल कर दी है टी० एस० नारायणशास्त्री

ने प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की तिथि १५३५ ई० पू० से १२१९ ई० पू० तक मानी है। इसी संदर्भ मे कोटा वेंकटाचलम् ने पुनः लिखा है —

> "बुद्ध वाज दि कन्टेमपरॉरी ऑफ क्षेमजीत, बिम्बसार एण्ड अजातशत्रु — दि ३१स्ट, ३२ण्ड एण्ड ३३र्ड किंग्स रिस्पेक्टवलि ऑफ मगध।"
>
> (बुद्ध ३१वें, ३२वें तथा ३३वें क्रमानुसार राजा क्षेमजीत, बिम्बिसार और अजातशत्रु के समकालीन थे।)

बौद्ध ग्रन्थों का कहना है कि भगवान् बुद्ध ७२ वर्षीय थे जब अजातशत्रु को राजा बनाया गया था। गौतम बुद्ध का निधन ८० वर्ष की अवस्था में १८०७ ईस्वी पूर्व हुआ।

महाभारत-युद्ध मे सुदूर दक्षिण तथा पूर्व के राजाओं ने दोनों पक्षों (कुरु और पाण्डव) का साथ दिया था, इस प्रकार के किसी भी राजा का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में नही है। मध्यदेश स्थित 'अश्मक' की चर्चा है; परन्तु पूर्वाञ्चल के 'अंग' का नही। इन उल्लेखाभावों से गौतमबुद्ध महाभारत के पहले ही आविर्भूत हुए थे।

चीनी यात्री सुयेन-च्वांग ने भारत की यात्रा सन् ६३० ई० में की थी। अपने यात्रा-विवरण में वह बुद्ध के निर्वाण के विषय मे लिखता है कि 'कुछ लोग कहते हैं कि निर्वाण को हुए १२०० वर्ष हुए; कुछ १५०० वर्ष बतलाते है।' कोई निश्चित तिथि उन दिनों भी प्रचलित नही थी। इस चीनी यात्री के समय अगर बुद्ध को दिवंगत हुए अधिक-से-अधिक १५०० वर्ष मान लिया जाय, तो भी इनके निर्वाण का काल ईसा पूर्व ८०० की ही पुष्टि होती है।

'गौतमबुद्ध ने यज्ञों, बलिदान एवं वेद भगवान का ही वर्णन किया है और पौराणिक मत के प्रतिकूल कुछ भी नही कहा। इससे प्रकट है कि उस समय पौराणिक मत प्रचलित न था। इधर शङ्कर स्वामी ने पौराणिक मत के सहारे से ही बौद्ध मत को भारत मे ध्वस्त किया। इन विचारों से प्रकट है कि पौराणिक मत बुद्धदेव और शङ्कर स्वामी के समयों के बीच में फैला (मिश्रबन्धु : हिन्दू धर्म)।' पुराणों का उल्लेख महाभारत मे है, इसलिए महाभारत से पूर्व बुद्ध का आविर्भाव हो चुका था।

एथेन्स में मिली एक समाधि का उल्लेख ए० बी० त्यागराज ने अपने ग्रन्थ 'इण्डियन आर्किटेक्चर' में किया है जिस समाधि पर निम्न अंश उत्कीर्ण है—

> "हियर लाइज इण्डियन श्रमणाचार्य फ्राम बोध गया, ए शाक्य मौंक टेकन् टु ग्रीस बाइ हिज ग्रीक प्यूपिल्स एण्ड दि टॉम्ब मार्क्स हिज डेथ एबाउट् १००० बी० सी०।"
>
> (यहाँ बोध-गया से आए एक भारतीय श्रमणाचार्य चिर-निद्रा में लेटे पड़े हैं। इन शाक्यमुनि को यूनानी शिष्यों के द्वारा ग्रीस लाया गया था। यह समाधि उनकी मृत्यु लगभग १००० ई० पू० में होने की स्मृति में बनायी गई थी।)

इस उपलब्ध समाधि के आधार पर त्यागराज ने और भी अन्वेषण करके अपना मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि बुद्ध का समय ईसा से १७०० वर्ष पूर्व ही होना सम्भावित है।

गौतमबुद्ध की सुनिश्चित तिथि निर्धारित करने मे भारतीय विद्वान् इतिहासकार पुरुषोत्तम नागेश ओक ने श्लाघनीय एवं स्तुत्य अनुसंधान किया है इन्होंने अपने एक लेख लार्ड बुद्धाज

ऐटिक्यूटि अंडर-एस्टीमिटेड बाइ १२०० इयर्स' में गौतमबुद्ध के काल-निर्धारण में १२०० वर्षों की भूल का प्रकटीकरण किया है। गुजरात के तत्कालीन शिक्षा उपमन्त्री डॉ० भानुप्रताप पाण्डेय ने भी ओक के मत का समर्थन किया है। प्रबल साक्ष्यों की उपलब्धि के अनुसार बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व १८८७ में हुआ एवं इनका स्वर्गारोहण ई० पू० १८०७ मे। व्हो० तिरुवेंकटाचारियर भी बुद्ध के जीवन में उपलब्ध ज्योतिषीय आँकड़ों पर अनुसन्धान करते हुए इनकी निर्वाण-तिथि १८०७ ई० पू० पर ही पहुँचे हैं। बुद्ध के जीवन में चन्द्र की विभिन्न स्थितियों तथा अन्य ग्रहों का अध्ययन करने के उपरान्त निष्कर्ष यही है। स्वामी कन्नू पिल्ले कृत 'लाइफ ऑफ गौतम' के आधार पर तिरुवेंकटाचारियर ने अपना यह विचार प्रस्तुत किया है—

> "इन नो अदर इयर डज़ दि डेटा गिवन टैली विथ इन्ट्रीज इन दि
> एकेमरिज एक्सेप्ट इन दि इयर १८०७ बी० सी०।"
> (१८०७ ई० पू० के वर्ष के अतिरिक्त और किसी भी वर्ष में नक्षत्रों
> की स्थिति जन्म-कुण्डली में वर्णित स्थिति से मेल नहीं खाती।)

गौतमबुद्ध की इस तिथि की प्रामाणिकता के लिए भड़ोच जिलान्तर्गत भगड़िया तालुक मे झाजीपुर ग्राम समीपस्थ कड़िया पहाड़ियों में सात बुद्ध-गुफाओं की प्राप्ति उल्लेखनीय है जिसका समय ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्वकाल आँका गया है।

अब यह प्रमाणित है कि महाभारत-युद्ध (१४२४ ई० पू०) के पूर्व गौतमबुद्ध का आविर्भाव हुआ था और इन्होने अपने धर्म का व्यापक प्रचार किया था और इस धर्म ने इनके निर्वाणोपरान्त भी कई शताब्दियों तक भारत में अपना प्रभुत्व जमाये रखा। महाभारत के कई स्थलों पर बौद्धधर्म के विरोध में विवादास्पद विषय स्पष्ट रूप से उल्लिखित है।

(३)

आश्वलायन गृह्यसूत्र में महाभारत के दिग्गज धर्माचार्य सुमन्त, जैमिनि, वैशम्पायन और पैल के अतिरिक्त भारत और महाभारत दोनों का ही अलग-अलग उल्लेख एक वाक्य में है—"सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्य······(३.४.४)।" इस गृह्यसूत्र के अन्त में 'शौनक' को बार-बार नमस्कार किया गया है—'नमः शौनकाय नमः शौनकाय।" यह शौनक भार्गववंशीय कुलपति थे। इससे यह निश्चित होता है कि आश्वलायन शौनक के शिष्य थे। 'अष्टाध्यायी' के एक सूत्र मे इनका नाम आया है—"शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४.३.१०६)।" इस सूत्र के आधार पर शौनक किसी शाखा अथवा 'ब्राह्मण' के प्रवचन-कर्ता थे।

जनमेजय का उल्लेख महाभारत और 'शतपथ ब्राह्मण' दोनों में है और महाभारत ने इस 'ब्राह्मण' को समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माना है। इस 'ब्राह्मण' ग्रन्थ का संकलन महाभारत-काल में ही हुआ हो तो आश्चर्य नही। यही 'ब्राह्मण' ही नहीं, सम्प्रति सब 'ब्राह्मण' ग्रन्थ जिनके प्रवक्ता वेदव्यास के शिष्य-प्रशिष्य आदि हैं, महाभारत-काल में ही संगृहीत हुए। शाखा-प्रवर्त्तक होने से शौनक व्यासजी के समकालीन होते हैं, अर्थात् महाभारत का परिवर्धित रूप इन्हीं शौनक के समय में अस्तित्व में आया।

आश्वलायन गृह्यसूत्र का रचनाकाल पाणिनि के आस-पास स्थिर होता है; क्योंकि 'अष्टाध्यायी' में 'भारत, महाभारत (६.२.३८), वासुदेव और अर्जुन (४ ३.९८)' के नाम आए है। इन उल्लेखों से इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत और उसके पात्रों से आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा पाणिनि भली-भाँति परिचित थे। इन उल्लेखों से यह पता नहीं चलता है कि महाभारत-युद्ध हुआ था तो भी इस युद्ध के नहीं होने का भी स्पष्टोल्लेख नहीं है

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी का कहना है कि यह आश्वलायन 'मज्झिम-निकाय' के 'अस्ससायण-सुत्त' (वि० पू० ४२८) का आश्वलायन है। इस सुत्त के अनुसार आश्वलायन की अवस्था सोलह वर्ष (सोलसवस्सुद्देसिको जातिया) की थी जब वह बुद्ध के पास गया। परन्तु डॉ० रायचौधरी का यह अनुमान स्वस्थ प्रतीत नहीं होता है। अगर इस आश्वलायन को 'मज्झिम-निकाय' के 'अस्ससायण-सुत्त' का आश्वलायन मान लिया जाय, तो गौतमबुद्ध और महाभारत-काल में चार सौ वर्षों का व्यवधान पड़ जाता है और इतनी लम्बी आयु का उपभोग आश्वलायन अथवा किसी मानव-जाति के लिए अविश्वसनीय ही कहा जायेगा। यह कोई दूसरे आश्वलायन थे जो 'वाद' हेतु बुद्ध के पास गये थे और उनसे परास्त होकर उनके शिष्य हो गए थे। यह आश्वलायन निश्चित रूप से गृह्यसूत्रकार आश्वलायन नहीं थे। नाम-साम्य के कारण डॉ० रायचौधरी ने दोनों को एक होने की भूल की है। आश्वलायन गृह्यसूत्र की रचना महाभारत-रचना के बाद हुई। कुछ विद्वानों के मतानुसार इस गृह्यसूत्र का निर्माण बुद्ध के पूर्व हुआ, परन्तु प्रमाणों की उपलब्धि के कारण इसका रचनाकाल बुद्ध के बाद आता है।

(४)

'मनुस्मृति' का ही दूसरा नाम 'मानव धर्मशास्त्र' है जिसके प्रथम प्रवक्ता आचार्य भृगु थे। 'नारद-स्मृति' के अनुसार सुमति भार्गव ने इस स्मृति का प्रवचन किया था। समय-समय पर इस 'स्मृति' के वचनों में वृद्धि होती रही और अन्त मे वे वर्तमान 'मनुस्मृति' अथवा 'मानव धर्मशास्त्र' के रूप में विकसित हुए। इसलिए हम कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ एक युग की रचना नहीं है।

प्रो० लासेन तथा जॉन विल्सन ने 'मनुस्मृति' को बुद्ध से पूर्व की रचना माना है। जॉन विल्सन के मतानुसार इस ग्रन्थ का संकलन-काल ईसा पूर्व सातवी अथवा छठी शताब्दी है। गौतम-बुद्ध का आविर्भाव काल ईसा पूर्व १८८७ सुनिश्चित है, इसलिए 'मनुस्मृति' बुद्धोत्तरकालीन रचना ही सिद्ध होती है। किसी भी धर्म-सम्प्रदाय में स्त्रियो के दीक्षित होने के उल्लेख से 'ब्राह्मण' अपरिचित हैं, जबकि बौद्धधर्म में स्त्रियाँ काफी संख्या में दीक्षित हो रही थीं और स्त्रियों की इस क्रिया से 'मनुस्मृति'-कार ने अपना क्षोभ प्रकट किया है (श्लोक—८, ३६३)।

मूल अथवा परिवर्धित रूप मे 'मनुस्मृति' का अस्तित्व बुद्धोत्तरकालीन ही है। निम्न श्लोक द्रष्टव्य है जिसमें पुण्ड्रक (पुण्ड्रवर्धन), ओड (स्वात), द्रविड़, कम्बोज (कम्बोडिया—आधुनिक कम्पुचिआ), यवन (ग्रीक), शक (सीथियन), पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद (दर्दिस्तान) तथा खश को वृषल (पतित) कहा गया है—

"पुण्ड्रकाश्चोडद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥—१०.४४

'अनुशासन पर्व' में लिखा है कि द्रविड़, पुण्ड्रक, दरद, किरात, यवन इत्यादि पहले क्षत्रिय थे, किन्तु ब्राह्मणो के साथ ईर्ष्या करने के फलस्वरूप 'वृषलत्व' को प्राप्त हुए —

"मेकला द्राविडा लाटाः पौण्ड्राः कान्वशिरास्तथा।
शौण्डिका दरदा दार्वाश्चौराः शबरबर्बराः॥१७॥
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानाममर्षणात्॥१८॥"— ३५वाँ अध्याय

'हरिवंश पुराण' मे भी यवन और कम्बोज-निवासी को क्षत्रिय कहा गया है —

"शका यवनकाम्बोजाः पारदाश्च विशाम्पते।

सर्वे ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषां निराकृतः।"—१४ : १८ और १९

इन लोगों के पतित होने के बाद इनके सारे शिर को मूंड दिया गया—

"अर्धं शकानां शिरसौ मुण्डयित्वा विसर्जयत्।
यवनानां शिरः सर्वं कंबोजानां तथैव च ॥"—हरिवंश, १४:१६

पाणिनि के गणपाठ में 'यवनमुण्ड' और 'कंबोजमुण्ड' आए हैं जिनसे पता चलता है कि शक तथा यवनों मे मूंड मुड़ाने की प्रथा थी। बौद्ध धर्मानुयायियों के लिए मूंड़ मुड़ाना अनिवार्य था। शक तथा यवनों ने बौद्धधर्म को अपना लिया था और इसलिए उन्हें 'वृषल' कहा गया।

महाभारतकार पंजाब के गणतन्त्रो को हेय दृष्टि से देखते थे तथा इन्हें म्लेच्छ, यवन, बर्बर तथा दस्यु कहने में भी संकोच न करते थे, क्योंकि यहाँ के लोग बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। आन्ध्र, शक, यवन इत्यादि को 'मृषानुशाषित' पाया और इसलिए 'मृषावादपरायणा' थे—

"मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः।
आन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च यवनाश्च नराधिपाः ॥३५॥

यवनों से बुद्धकाल अपरिचित नहीं था। सिकन्दर के भारत-आगमन के पूर्व मे ही भारत-वासी यूनानियो के सम्पर्क में आ चुके थे। यूनानी लिपि से पाणिनि भी परिचित थे। 'मज्झिम-निकाय' के 'अस्ससायण-सुत्त' में 'योनकंबोजेसु' कहकर यवनों के साथ इस देश का उल्लेख किया गया है। गौतमबुद्ध आश्वलायन से कहते हैं—

"तुमने सुना है कि यवन और कम्बोज में और दूसरे भी सीमान्त देशों में दो ही वर्ण होते हैं – आर्य और दास (=गुलाम)। आर्य ही दास हो (सक) ता है, दास ही आर्य हो (सक) ता है (राहुल सांकृत्यायन द्वारा संकलित 'बुद्धचर्य्या'—पृ० १८१) ?"

(५)

'मनुस्मृति' में एक श्लोक है जिसमे स्त्रियों के श्रमण-भिक्षुणी होने का उल्लेख है—

"पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरायीनां च योषिताम् ॥९०॥"—५वाँ अध्याय

इस श्लोक में 'पाषण्डमाश्रितानां' शब्द आया है। 'अमरकोश' में बौद्ध क्षपणकादि शास्त्र-वर्तियों के नामक्रम मे 'सर्वलिङ्गिन' के साथ 'पाखण्ड' भी उल्लिखित है—'पाखण्डा सर्वलिङ्गिन.'। पालि साहित्य में 'पाषण्ड' का अर्थ सम्प्रदाय से है और 'पाषण्डी' अन्य सम्प्रदाय के सन्यासी को कहा जाता है।

जैनसूत्रों में 'पाखंड' शब्द आया है और मथुरा को 'पाखंडिगर्भ' कहा है, अर्थात् जहाँ कई सम्प्रदाय के साधु-संन्यासी रहा करते थे। जैन आश्रमों में सूयगडंग (सूत्रकृतांग) एक अग है। इस ग्रन्थ के समवसरण अध्याय में बौद्ध साधुओं के लिए 'पाखंडी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार अनुयोगदार (अनुयोगद्वार) में पाखण्डियों के अन्तर्गत श्रमण पाडुरग, भिक्षु, कापालिक, तापस और परिव्राजक का उल्लेख है।

अशोक के शासन-काल में बौद्धों की तृतीय-संगीति पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुई थी। इसी समय से बौद्ध आगम लिपिबद्ध किए गए। उसमें अशोक के धर्म-परिवर्तन-सम्बन्धी उल्लेख है कि 'राजा ने अभिषेक का प्राप्त हो तीन वर्ष ही तक बाह्य-पाषण्ड =दूसरे मत का ग्रहण किया बुद्धचर्य्या

—पृ० ५६८)।' अशोक के अभिलेखों मे उत्कीर्ण 'पाषण्ड' शब्द सम्प्रदाय, विशेषकर बौद्ध सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त हुआ है। गिरनार शिला के द्वादश अभिलेख में 'सारवृद्धि' (बालावडि) सम्बन्धी आदेश उत्कीर्ण है जिसमें 'देवानं पिये पियदसि' (देवानां प्रियः प्रियदर्शी) सम्राट् अशोक का निम्न आदेश है—

"सब पासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च
विवाधाय च पूजाय पूजयति..............।"
(सभी सम्प्रदायों—प्रव्रजित और गृहस्थ को पूजते हैं; दान और
विविध प्रकार की पूजा से पूजते हैं।)

इसी स्थान के त्रयोदश अभिलेख में भी—"म्हि यत्र नास्ति मानुसानं एकतरम्हि पासंडम्हि न नाम प्रसादो......" अर्थात् ऐसा कोई जनपद नहीं है जहाँ मनुष्यों का किसी सम्प्रदाय (पासंड) में विश्वास न हो। कालसी शिला के द्वादश अभिलेख में अपनी इच्छा प्रकट करते हुए 'देवानां प्रिय' कहता है कि सभी धर्म बहुश्रुत तथा कल्याणगामी हों ('सव पाषंड बहुसुता चा क्यानागा च हुवये ति।') ऐसा करने से इसका फल होता है अपने सम्प्रदाय (पाषण्ड) की वृद्धि तथा धर्म का प्रकाश ('इयं च एतिषा फले। यं अत पाषंडवडि च। होति धमंष चा दिपना।') मानसेहरा के सप्तम शिलालेख मे इसी आशय का आदेश उद्धृत है—

"देवनप्रियो प्रियद्रशि रज सव्रत्र इछति सव्रपषंड वसेयु सव्रे हि ते
सयम भवशुधि च......।"
(देवानां प्रियदर्शी इच्छा करते हैं कि सभी पाषंड अर्थात् सम्प्रदाय
बसें; क्योंकि वे सभी संयम और भावशुद्धि की कामना करते है।)

अशोक के अभिलेखों मे जहाँ कहीं भी 'पार्षंड' शब्द उत्कीर्ण है, सभी सम्प्रदाय-अर्थक है। बौद्ध सम्प्रदाय के लिए यह शब्द बुद्धकाल से ही प्रयुक्त होता आ रहा है। 'वनपर्व' में भी एक श्लोक है जिसका 'पाषंड' शब्द बौद्ध सम्प्रदाय की ओर ही संकेत करता है—

"बहुपाषण्डसंकीर्णाः परान्नगुणवादिनः।
आश्रमा मनुजव्याघ्र भविष्यन्ति युगक्षये ॥४८॥"—१८८वाँ अध्याय

बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी 'पाषण्डी' कहलाने लगे, अर्थात् बौद्ध धर्मावलम्बियो की एक संज्ञा 'पाषण्डी' हुई और आगे चलकर इस शब्द का विकृत (घृणित) अर्थ प्रचलित हो गया जिस प्रकार बुद्धधर्म के मानने वाले कालान्तर में 'बुद्धु' (बुद्धु) हो गए अर्थात् अज्ञानी, बेवकूफ, मूर्ख। इसी प्रकार मौर्य सम्राट् अशोक द्योतक 'देवानां प्रिय' को अन्य धर्मावलम्बियों ने आगे चलकर 'गधा' का पर्य्याय माना।

भगवतीप्रसाद पांथरी ने लिखा है—

"अशोक के समय सम्प्रदाय अथवा धर्म के लिये 'पासंड' शब्द का प्रयोग किया जाता था। यद्यपि आजकल की संस्कृत के अनुसार इसका अर्थ अच्छे भाव में नहीं लिया जाता है। यह 'पासंड' संस्कृत शब्द पाषण्ड का अपभ्रंश है। किन्तु श्री भंडारकर की सम्मति में पासंड संस्कृत पाषण्ड नहीं, वरन् 'पार्षद' व 'पार्षण्ड' का विकृत रूप है। यह 'पार्षण्ड' शब्द अन्य संस्कृत ग्रन्थों में नहीं मिलता है, किन्तु संभवतः यह शब्द अशोक के समय बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होता रहा हो (अशोक—पृ० २४८)।"

परन्तु इसे 'पार्षद' अथवा 'पार्षण्ड' का विकृत रूप मानना तर्कसम्मत नहीं प्रतीत होता है। भाषाविज्ञान में तत्सम शब्द ही तद्भव रूप में परिवर्तित होता है, न कि तद्भव का परिवर्तित रूप तत्सम होगा। इसी प्रकार किसी शब्द का यथार्थ ही कालान्तर में विकृतार्थ होता है। विकृतार्थ से यथार्थ का निर्मित होना उल्टी गंगा बहना है। 'पाषण्ड' शब्द के आधार पर हम कह सकते हैं कि महाभारत के पूर्व ही गौतमबुद्ध का आविर्भाव हो गया था।

वैदिक युग के बाद ब्राह्मणों की रूढ़िवादी क्रिया से देश की वैचारिक चेतना विनाश की ओर अग्रसर हो रही थी। नारी जाति के प्रति उनकी निषेधात्मक प्रवृत्तियों ने स्त्रियों के सहज विकास को सर्वथा अवरुद्ध कर दिया था। बड़े घर की स्त्रियाँ तो 'असूर्यस्पश्या' थीं, अर्थात् ऐसे घर की स्त्रियों को सूर्य तक देखने को नहीं मिलता था। खुली हवा में उनका साँस लेना भी कठिन हो गया था। सर्वसाधारण स्त्रियाँ घर की चहारदीवारी में ही घुट-घुट कर मर जाती थीं। स्वच्छन्द वातावरण का उपभोग उनकी भाग्यरेखा में नहीं था। इसी के प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध अथवा जैन धर्म में स्त्रियाँ दीक्षित होने लगी थीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन धर्मों ने स्त्रियों के धार्मिक मार्ग को स्वतन्त्र एवं प्रशस्त किया था। स्त्रियों की यह स्वतन्त्रता ब्राह्मणों तथा अन्य धर्मानुयायियों के लिए असहनीय हो गई थी जिसकी पुष्टि 'मनुस्मृति' के कई श्लोकों से होती है (५.१४८; ९.३)। ऊपर उल्लिखित श्लोक (५.९०—मनुस्मृति) में स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर क्षोभ एवं आक्रोश प्रकट करते हुए कहा गया है कि 'पार्षंडमाश्रिता' (अन्य सम्प्रदाय में दीक्षिता नारी) को जलांजलि न दें। इस आधार पर हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि 'मनुस्मृति' की रचना गौतमबुद्ध के बाद हुई। इस ग्रन्थ के वचन प्राचीनतम होने के बावजूद भी इसका समय बुद्ध के पश्चात् ही स्थिर होता है। जब यह ग्रन्थ बुद्धोत्तरकालीन है, तब महाभारत का रचनाकाल भी बुद्ध के बाद आता है।

(६)

'शान्तिपर्व' के १८वाँ अध्याय में तीनों वेदों के अप्रतिम ज्ञाता विदेहराज जनक (सीरध्वज जनक और कराल जनक के बीच का जनक जिनकी स्त्री का नाम कौशल्या था) सम्बन्धी एक कथा है। यह कथाअंश उस युग का है जब बौद्धधर्म का व्यापक प्रचार था। बौद्ध-जैन साधुओं पर भागवतों द्वारा प्रहार की पुष्टि होती है। उस युग में आकिञ्चन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसके अनुयायी सिर मुडाकर मुट्ठीभर अनाज से अपने को सन्तुष्ट समझते थे और कपाल में ही भिक्षा-वृत्ति को महत्त्व देते थे।

विदेहराज जनक भिक्षु-वृत्ति अपनाकर और हाथ में खपड़ा लेकर 'कपाली' हो गए और मुट्ठीभर भुंजा हुआ अनाज खाकर रहने लगे। इनकी इस वृत्ति से रानी कौशल्या को बहुत ही क्लेश और क्षोभ हुआ। विक्षुब्ध होकर एकान्त में उसने राजा को बहुत फटकारा (क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद् वचः।) जनक के प्रति अपनी स्त्री का जो संकेत है, उससे यह स्पष्ट आभास मिलता है कि महाभारत-काल में बौद्धधर्म का अच्छा प्रभुत्व था। बौद्ध-भिक्षुओं के कार्य-प्रलाप पर व्यंग्य-प्रहार है।

बौद्ध-भिक्षु सर मुड़ाकर गेरुआ वस्त्र धारण करता था। जनक-पत्नी कहती है— "परिव्रजन्ति दानार्थं मुण्डाः काषायवाससः (१८ : ३२)।" ऐसे भिक्षुओं की निन्दा खूब की गई है (श्लोक संख्या : ३४)।

गौतमबुद्ध अपने राजपाट को त्यागकर तथागत हो गए थे, इस वृत्ति को अपरोक्ष रूप से लक्ष्य करके जनक-भार्या कहती है—

कथमुत्सृज्य राज्यं स्व   म् ।
कापाली वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्न ते वरः ॥७॥"
(आपने धनधान्य से सम्पन्न अपना राज्य छोड़कर यह खपड़ा लेकर भीख माँगने का धंधा कैसे अपना लिया ? यह मुट्ठीभर धान आपको शोभा नहीं दे रहा है।)

'अनुशासन पर्व' के ८७वें अध्याय में गार्हस्थ्य-धर्म को बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है (श्लोक संख्या : २५)। हिन्दू (आर्य, सनातन) धर्म में गृहस्थ धर्म की विशेष महत्ता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा अन्य गृह्यसूत्र इसी से सम्बन्धित हैं। 'मनुस्मृति' में भी तत्सम्बन्धी कई श्लोक हैं। इस धर्म में गृहत्यागी को कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है। गृहत्यागी भिक्षुओं पर कुठाराघात करते हुए वेदव्यास ने इसकी जो परिभाषा दी है, उससे घृणाभाव की ही अभिव्यक्ति होती है (शान्ति : १२वाँ अध्याय – श्लोक संख्या १०)।

महाभारत-काल में बौद्ध भिक्षुओं की संख्या आशातीत बढ़ रही थी। 'मुण्डकोपनिषद्', 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' तथा 'मैत्री उपनिषद्' में परिव्राजक, मुण्डक तथा भैस शब्दों का उल्लेख हुआ है। पालि-परम्परा के अनुसार तीर्थक, क्षपणक, आजीवक, नग्नक और अवधूत शब्द भी मिलते हैं।

रानी कहती है कि आपके इस प्रकार से गृह-त्यागी होने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है—'राजन् संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु (श्लोक : १४)॥' इस श्लोकार्थ में जैनधर्म की ओर सकेत है, क्योंकि जैनधर्म का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति है।

सिद्धार्थ अपनी पत्नी यशोधरा का परित्याग कर भिक्षुरूप (सिर का बाल कटवा कर गेरुआ वस्त्र धारण किया) में घर से निकल गए थे। इसे ही लक्ष्य करके कौशल्या (जनक-पत्नी) जनक से कहती है कि वेद और शास्त्रों के परम ज्ञाता होते हुए भी अपनी प्रतिगृहीता का परित्याग करना आपके लिए अशोभनीय है, अनुचित है, धर्म-विरुद्ध है, पाप-कर्म है जिससे आपका न लोक सुखद होगा, न परलोक—

"नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः ।
धर्म्यान् दारान् परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम् ॥१५॥"

रानी कहती है कि आपके इस चरित्र के कारण पुत्रवती होते हुए भी आपकी माँ निःसतान हो गई और मैं अभागिनी अनाथ हो गई (अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया ॥१२॥)। रानी अपने ब्रह्मज्ञानी एवं तत्त्वज्ञानी स्वामी को आक्रोश के वशीभूत होकर 'कुत्ता' तक कहती है—

"श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत् सम्प्रति वीक्ष्यसे ।१२।"

किसी भी हिन्दू स्त्री का अपने पति को कुत्ता कहना अधर्म है, पाप है। उस पर कौशल्या जैसी आर्य विदुषी का जनक जैसे तत्त्वज्ञ नृप को 'श्ववत्' (कुत्ता) कहना कितना अपावन है। परन्तु वेदव्यास ने तत्कालीन बौद्ध धर्मानुयायी पति को अपनी पत्नी द्वारा 'श्ववत्' कहाकर बौद्ध-धर्म के प्रति अपना रोष एवं क्षोभ ही प्रकट किया है।

इस कथा-अंश में अकिञ्चन-व्रत लेकर और सिर मुड़ाकर वन में, गाँव में पर्यटन करने वाले साधुओं के मार्ग का खण्डन है। महाभारत-रचना के समय बौद्धधर्म की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हो रहा था जिसके लिए आर्यश्रेष्ठ महर्षि व्यास चिंतित और व्यथित दीख पड़ते हैं। इस धर्म के विरोध में उपर्युक्त कथा का समावेश इस महाग्रन्थ में किया गया है जिसकी प्रामाणिकता पर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल को शंका है—

"महाभारत के ये कुछ श्लोक बौद्ध-जैन साधुओं पर भागवतों का
प्रहार है और अर्जुन के चलाये हुए मूल प्रसंग में यह पीछे से जोड़ा
गया अंश है (पृ० १३)।"—भारत सावित्री : खण्ड ३

डॉ० अग्रवाल ने महाभारत के इस अंश को इसलिए प्रक्षिप्त माना है; क्योंकि बुद्ध तथा महावीर का स्थितिकाल अधिक विद्वानों द्वारा ईसा पूर्व छठी शताब्दी मान्य है और डॉ० अग्रवाल ने भी इसे माना है। इस स्थितिकाल के आधार पर बुद्ध तथा महावीर से कई शताब्दी पूर्व महाभारत की रचना हो गई थी और ऐसी परिस्थिति में महाभारत के उत्तरकालीन बौद्धधर्म का वर्णन महाभारत में होना असंभव है; इसलिए महाभारत का तत्सम्बन्धी अंश प्रक्षिप्त होना चाहिए। नवीनतम शोध के अनुसार जब यह सर्वथा प्रामाणिक है कि महाभारत-काल से बहुत पूर्व गौतमबुद्ध का आविर्भाव (जन्म ईसा पूर्व १८८७ और निर्वाण १८०७) हो गया था, तब महाभारत के उपर्युक्त कथा-अंश को पीछे से जोड़ा हुआ मानना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाभारत में प्रक्षिप्त श्लोकों की बहुतायत नहीं है, तो भी इस ग्रन्थ में ऐसे बहुत-से उपलब्ध प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ की रचना बुद्ध के बाद हुई थी।

(७)

आज के उपलब्ध महाभारत में प्रक्षिप्त श्लोकों का बाहुल्य है, तो भी भारतीय साहित्य का अद्वितीय एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' महाभारत का अभिन्न अंश है जिसका समर्थन प्रायः सभी विद्वानों ने किया है। पाश्चात्य विद्वानों में सर मोनियर विलियम्स, डॉ० विंसेंट स्मिथ आदि 'गीता' को पीछे से जोड़ा हुआ अंश मानते हैं। जहाँ तक उपाख्यानों का सम्बन्ध है, इन्हें मूल महाभारत से असंबंधित माना जा सकता है; परन्तु 'गीता' को नहीं, जो महाभारत का केन्द्र-बिन्दु है, प्राणतत्त्व है। यह ग्रन्थ भागवत-सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ है। सामान्य हिन्दू इस छोटे-से ग्रन्थ को महाभारत का एक अभिन्न अंश होने के कारण भी उतना ही ऐतिहासिक मानता है जितना महाभारत को।

'गीता' के अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अर्जुन से कहते हैं कि सभी धर्मों को छोड़कर तू मेरी ही शरण में आ, मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा—तू चिन्ता मत कर—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥"

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् इस श्लोक को प्रक्षिप्त नहीं मानते हैं; परन्तु इस श्लोक की व्याख्या में उन्होंने 'धर्म' के लिए 'कर्तव्य' लिखा है। 'धर्म' लिखने से 'गीता' के रचनाकाल पर प्रश्नचिह्न लग जाता। जॉन मेकेनजी ने 'धर्म' के लिए 'ला' शब्द लिखा है (हिन्दू ईथिक्स : पृ० १३०)। इस श्लोक का अर्थ करते हुए हनुमानप्रसाद पोद्दार ने 'सब धर्मों को छोड़कर (सर्वधर्मान् परित्यज्य)' ही लिखा है। 'सर्वधर्मान्' लिखने से यह स्पष्ट होता है कि गीता-रचना के समय हिन्दू धर्म (आर्य) के अतिरिक्त अन्यान्य धर्म भी अस्तित्व में थे।

जैन, बौद्ध, आजीवक इत्यादि कई सम्प्रदायों का अस्तित्व महाभारत-काल में था। बुद्ध अथवा महावीर के पूर्व वैदिक संस्कृति के आधार यज्ञ-यागों का जोर बहुत था जहाँ हिंसा की प्रबलता थी। ऐसे हिंसात्मक यज्ञ-यागों से अधिकांश जनता को बड़ी घृणा थी।

शतपथ ब्राह्मण के एक मन्त्र में उल्लेख है कि महर्षि दुग्ध गायों और बैलों

(धेन्व्-अनडुह) का ऐसा मांस खा सकते थे जो अंसल ('दृढ़' और 'कोमल') हो। आश्वलायन गृह्य-सूत्र के अनुसार रुद्र को प्रसन्न करने के लिए बैल का बलिदान दिया जाता था (रुद्राय महादेवाय जुष्टो वर्धस्वेति ।।—४.६.६)। पुनः आहुतियाँ इस प्रकार देने का विधान दिया गया है—

"हराय मृडाय शर्वाय शिवाय भवाय महादेवोग्राय भीमाय पशुपतये रुद्राय शंकरायेशानाय स्वाहेति ।१७।" बैल की पूंछ, चमड़ा, सिर और पैर अग्नि में डालें।

वेदों के आधार पर कर्मकाण्ड का प्रचार तथा उसमें भी हिंसा आदि का प्रयोग होना उपनिषद्-काल से ही बुद्धिवादियों को खटक रहा था। वे लोग कर्मकाण्ड के स्थान पर ज्ञानकाण्ड के उपासक होते जा रहे थे और यह आवाज उठने लगी थी कि इस प्रकार के याज्ञिक-अनुष्ठान अब जर्जर नाव के समान हो गए (प्लवा ह्येता अदृढा यज्ञ रूपाः)। यज्ञ-प्रधान प्राचीन वैदिक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई और जनता की बहुत बड़ी संख्या वैदिक संहिताओं के प्राबल्य से इन्कार कर बुद्धि और तर्क पर आश्रित नये धर्मों के अनुसरण में प्रवृत्त हो गई। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने ठीक ही लिखा है—

> "वैदिक यज्ञों में कई ऐसे थे जिनमें पशु आलभन, पशु की हिंसा होती थी। वह बन्द तो हो ही गए, उनके साथ दूसरे यज्ञयाग भी उठ गए। ××× यज्ञों में केवल द्विजों को अधिकार था, परन्तु बुद्धदेव का यह उपदेश था कि आध्यात्मिक बातों में मनुष्य मात्र को समान रूप से अधिकार है। इससे भी वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अश्रद्धा हो गई। ××× आध्यात्मिक जीवन का केन्द्र श्रुतिविहित कर्म्म से हट गया (पृ० ११४)"—हिन्दू देव परिवार का विकास

शुरू-शुरू मे यज्ञों का विधान बहुत ही सरल था; परन्तु बाद (ब्राह्मण-काल) में पशुओं के बलि-यज्ञों का प्राधान्य हो गया। देश मे हिंसा का प्रचार इतना बढ़ गया था कि मूल पशुओं का वध केवल जीभ के स्वादहेतु किया जाता था। कोई उत्सव हो या समारोह, धार्मिकानुष्ठान हो अथवा पर्व-त्योहार, पशुबलि के बिना सम्पन्न नही होता था। पितर सन्तुष्टि, आतिथ्य तथा तन्त्र विद्या मे पशुओं को बलिवेदी पर चढ़ा देना धार्मिक अनुष्ठान था। 'शतपथ ब्राह्मण' में आतिथ्य-सत्कार के लिए एक 'महोक्ष' (महान् बैल) अथवा 'महाज' (महान् बकरा) के वध का नियमित विधान था। अतिथि को 'गोघ्न' भी कहते हैं जिनके आतिथ्य के लिए गौ की बलि दी जाय। अतिथि-सम्मान मे गोवत्स की हत्या करने की प्रथा भवभूति (वि० सं० ८वी शताब्दी) के समय में थी (देखें—'उत्तररामचरितम्' के चतुर्थ अंक 'मधुपर्क' का उल्लेख)। मधुपर्क के लिए गवालम्भ का विधान आवश्यक था। इसकी व्याख्या करते हुए पं० श्री कान्तानाथ शास्त्री तेलङ्ग ने लिखा है—

> "गृह्यसूत्रकारों का कहना है कि आचार्य, ऋत्विक, वैवाह्य, राजा, प्रियजन, जो उत्कृष्ट जाति के हों अथवा समान जाति के और स्नातक (ग्रेजुएट्स) अर्घ्य (पूज्य) होते हैं। इनमे कोई जब किसी के घर आवे तो गृहपति को चाहिए कि इनका मधुपर्कादि के द्वारा सत्कार करे। सत्कार बिना मांस के नहीं होता। अतः इसके लिये गवालम्भ करने को कहा है। मधुपर्क प्राशन हो जाने पर गृहपति खड्ग और गौ पूज्य व्यक्ति के सामने करे। अर्घ्य (पूज्य व्यक्ति) यदि मांस खाने वाला हो तो मारने की आज्ञा दे। यदि वह

निरामिष भोगी हो तो छोड़ देने की आज्ञा दे। यज्ञ और विवाह में
छोड़ने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए (पृ० ४०८-४१०)।"
—उत्तररामचरितम् (प्र० चौखम्बा : १९७६)—नोट्स

बलि-प्रथा महाभारत-काल में भी थी। उन दिनों मांस-भक्षण का बहुत प्रचार था। 'मनुस्मृति'-कार ने तो स्पष्ट लिखा है—

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः।" ५:३९
(ब्रह्मा ने पशुओं की रचना यज्ञ तथा यज्ञों की समृद्धि के उद्देश्य से
किया है, इसलिए यज्ञ में पशु-हिंसा अहिंसा ही है।)

पशु-पक्षी की बात तो दूर रही, नर-बलि की प्रथा भी थी। मनुष्य ही मनुष्य का बलि देता था जिसका उल्लेख 'ऋग्वेद' में है। शुनःशेप ने वरुण की स्तुति से अपने को बलि-स्तम्भ से बचा लिया (१.२४.१२ तथा ५.२.७); परन्तु 'ऐतरेय ब्राह्मण' की वर्णित कथा में वरुण ने अभिषेचन के दिन शुनःशेप को बलि दिया। परन्तु यह 'पुरुषमेध' ब्राह्मणों की मूल प्रवृत्ति के प्रतिकूल रही और इसका ह्रास दिन-प्रति-दिन होता रहा। नरमेध का अन्त एकाएक हो गया हो, ऐसी बात नहीं थी। महाभारत के कई स्थलों पर नरबलि का उल्लेख है। 'सुत्तनिपात' में भी पुरुषमेध की चर्चा है—

"अस्समेधं पुरिसमेधं (सम्मापासं) वाजपेय्यं निरग्गळं।
एते यागे यजित्वान, ब्राह्मणानं अदा धनं ॥२०॥"—ब्राह्मणधम्मिक-सुत्तं

प्राचीन पाली ग्रंथों में लिखा हुआ है कि 'पुरुष-मेध' के इस अनुष्ठान का पौरोहित्य ब्राह्मण ही करते थे। संभवतः नरबलि शास्त्रविहित एवं राजसमर्थित हो गयी थी। नाग (वंश) तथा राक्षसों की बलि दी जाती थी।

जैसा कि कहा गया है कि ब्राह्मण-काल में यज्ञों की प्रधानता थी और बलि बिना यज्ञ की वैधानिक सम्पन्नता असंभव थी। प्रतिदिन हजारों की संख्या में पशुओं का वध किया जाता था। बलि की अधिकता से पुरोहितों का प्रभुत्व बढ़ता ही जाता था। इस प्रकार के हिंसाप्रधान यज्ञों से, यज्ञ कराने वाले पुरोहितों से तथा याजकों से लोग घबड़ा गए थे, विचलित हो गए थे तथा उनमें असंतोष का वातावरण फैल रहा था। इसी कारण बहुसंख्यक जनता श्रमण-संस्कृति की ओर झुकी थी।

ब्राह्मणों का फतवा था कि पशुबलि से यज्ञाग्नि तथा अन्य देवता प्रसन्न होते हैं और उनकी प्रसन्नता से स्वर्गलोक की प्राप्ति हो जाती है। उन दिनों पशुवध अथवा पशुबलि की युगीन परम्परा सीमा लाँघ चुकी थी। कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' के उद्घोष को प्रबल से प्रबलतर किया। उन दिनों हिन्दू (आर्य) धर्म अपनी शक्ति और सात्त्विक पवित्रता खो चुका था। ऐसी परिस्थिति में जनसाधारण द्वारा हिंसा के विरुद्ध उग्रतर आन्दोलनों का प्रारम्भ होना सर्वथा स्वाभाविक था।

वर्धमान महावीर तीर्थंकर, तथागत शाक्य मुनि गौतमबुद्ध एवं मक्खलि गोसाल जैसे सुधारकों ने 'अहिंसा परमोधर्मः' के जयघोष के साथ अपने-अपने धर्मों का प्रचार किया और इन लोगों को सफलता भी मिली। महावीर और बुद्ध ने वैदिक सनातन-धर्म के विरुद्ध बगावत का झण्डा उठाया जिसका प्रतिफल हुआ वैदिक-हिंसा का बन्द हो जाना भले ही अहिंसा का

कम ही समय तक रहा। क्षत्रियों-क्षत्रियों के बीच का धार्मिक युद्ध इस देश में बना रहा। यज्ञ-याग से ऊबी हुई सामान्य जनता ने तुरन्त इन धर्मों को अपना लिया। तो भी राजावर्ग तथा धनी ब्राह्मण अपने स्वार्थ-सिद्धिहेतु यज्ञ करते ही रहते थे जिसका अस्तित्व मौर्यकाल तक बना रहा।

महाभारत मे वैदिक अनुष्ठानो का विशेष उल्लेख हम पाते हैं। 'शान्तिपर्व' के १२वें अध्याय में कहा गया है—"वेदवादापविद्धांस्तु तान् विद्धि भृशनास्तिकान् ।५।" (जो वेदों की आज्ञा के विरुद्ध चलते हैं, उन्हें बड़ा भारी नास्तिक समझिये)। गृहस्थाश्रमों की श्रेष्ठता का यथेष्ट वर्णन इस पर्व में है। यह गृहस्थाश्रम सब आश्रमो से ऊँचा है ('अत्याश्रमानयं'—।६।)। इस आश्रम मे यज्ञ को अनुपेक्षित नहीं रखना चाहिए, ऐसा करने वाले पाप के भागी बनते हैं—

"तत् सम्प्राप्य गृहस्था ये पशुधान्यधनान्विताः।
न यजन्ते महाराज शाश्वतं तेषु किल्विषम् ।।२३।।

बाहर और भीतर जो कुछ भी मन को फँसाने वाली चीजें हैं, उन सबको छोड़ने से मनुष्य त्यागी होता है। केवल घर छोड़ देने से त्याग की सिद्धि नहीं होती—

"अन्तर्बहिश्च यत् किंचिन्मनोव्यासङ्ककारकम्।
परित्यज्य भवेत् त्यागी न हित्वा प्रतितिष्ठति ।।३५।।"

उपर्युक्त श्लोकों में परोक्ष रूप से बौद्धों की गृह-त्यागी भावना पर व्यंग्य है। बौद्ध श्रमणों को गृहस्थी के जंजाल में फँसे रहने का विधान नही है। इस धर्म की प्रमुख क्रिया केशोत्पाटन है। आमिष भोजन परित्यज्य है; परन्तु आज बौद्ध धर्मानुयायी देशों में आमिष भोजन की ही प्रबलता है, यहाँ तक कि गोमांस भी वर्जित नहीं है जिस गोहत्या को बन्द करने के लिए भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल में सफलतापूर्वक प्रयास किया था और कई शताब्दियों तक गोवध पर अंकुश लगा रहा। लेकिन धीरे-धीरे इस अंकुश की धार कुण्ठित होती गयी। कहा जाता है कि अशोक द्वारा बौद्धधर्म अपना लेने पर भी मोर का मांस उसकी पाकशाला में प्रायः नित्य पकता था। महाभारतकालीन राजाओ, राजकुमारो, सामन्तो, व्यापारियों, गृहस्थों इत्यादि को बौद्धधर्म के प्रति श्रद्धापूर्वक झुकाव हो गया था।

महावीर (जैनधर्म), बुद्ध (बौद्धधर्म) और आजीवक धर्म के प्रवर्त्तक— तीनों समकालीन थे। आजीवक धर्म के मानने वाले अपने हाथ में बाँस की कट्टी (डण्डा) रखते थे, इसलिये आजीवक धर्म के प्रवर्त्तक को मस्करिन गोसाल भी कहा जाता था। ऐसे भिक्षु (संन्यासी) का उल्लेख पाणिनि-कृत 'अष्टाध्यायी' में है—'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः" (६.१.१५४)। मस्कर बाँस को कहते हैं और जो अपने हाथ में बाँस रखे, उसे मस्करिन कहा जाता है। इस सूत्र से यह निश्चित होता है कि पाणिनि के पूर्व आजीवक सम्प्रदाय का अस्तित्व था। पाणिनि के पूर्व गौतमबुद्ध का स्थिति-काल सुनिश्चित है, अर्थात् महाभारत से पूर्व बुद्ध का काल आता है।

जैन, बौद्ध तथा आजीवक सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य ३६३ धार्मिक सम्प्रदायों का भारत में प्रचार था जिनमें अक्रियावाद, अज्ञानवाद (अथवा अनिश्चितवाद), उच्छेदवाद (शुद्ध भौतिकवाद) तथा शाश्वतवाद का भी थोड़ा-बहुत स्थान था जिनके प्रवर्त्तक क्रमशः पूरणकस्सप (दिगम्बर साधु), सञ्जयवेलट्ठपुत्त (वैदीत्व पुत्र), अजितकेसकम्बल तथा पकुधकच्चायन (पकुद्ध कात्यायन) थे। यज्ञ और कर्मकाण्ड की जो वैदिक परम्परा थी, उसके विरोधी ये सभी प्रवर्त्तक थे।

पहले धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणो के हाथ में था; परन्तु भारतवर्ष में तथा उसके बाहर जब बौद्धधर्म फैल रहा था तब ब्राह्मण निष्प्रभ हुए थे जिसकी पुष्टि 'सुत्त पिटक' अन्तर्गत 'दीघ

निकाय', 'मज्झिम निकाय', 'अस्सलायण सुत्त', 'खुद्दक-निकाय' अन्तर्गत 'धम्मपद' एवं 'सुत्त-निपात' इत्यादि ग्रन्थों से होती है जिनमें ब्राह्मणों की निन्दा से सम्बन्धित अनेक वाक्य मिलते हैं। गृहत्यागी श्रमण, मुनि और भिक्खु के हाथों में धर्म का नेतृत्व आ गया। 'सुत्तनिपात' में कहा गया है कि गृहस्थ भिक्षु की बराबरी नहीं कर सकता (गिही नानुकरोति भिक्खुनो—१.१२.१५)। जनता ने ब्राह्मणों की अगह अब इन गृहत्यागियो को आदर देना तथा इनके उपदेशों के अनुसार जीवन-यापन करना प्रारम्भ किया। जैन और बौद्ध सम्प्रदायों से भारत मे एक नई धार्मिक चेतना का जागरण हो रहा था और निस्संदेह यह एक बहुत बडी धार्मिक क्रान्ति थी।

आर्यधर्म (कर्मकाण्डी ब्राह्मणों का धर्म) का युग-युगीन धरातल अस्थिर होने लगा जिसे सुस्थिर करने के लिए महाभारत का निर्माण हुआ जहाँ युद्ध अर्थात् हिंसा की ही प्रबलता है। ब्राह्मणों तथा उनके गुणगान से यह ग्रन्थ परिपूर्ण है। तीर्थंकर महावीर तथा गौतमबुद्ध की प्रसिद्धि इतनी बढ़ रही थी कि जनसाधारण में ये दोनों विभूतियाँ पूज्य हो गए और लोग इन्हे भगवान् कहने लगे जिसका समर्थन तत्कालीन ग्रन्थो से होता है। भागवत धर्म पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जैन-मन्दिरों के भित्तिचित्रो में तीर्थंकरों तथा सिद्धों के सम्मुख देवताओं को छोटे रूप में तथा विनीत मुद्रा में खड़ा दिखाया गया है।

बौद्ध-ग्रन्थो मे गौतमबुद्ध के लिए 'भगवा' तथा 'भगवंत' शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। इन्ही शब्दों के सम पर अथवा बुद्ध के प्रभुत्व को निष्प्रभ करने के लिए वेदव्यास ने श्रीकृष्ण को ला खड़ा किया और इन्हें अवतारी पुरुष की संज्ञा दी गई और इस प्रकार इनकी पूजा का विधान चालू हुआ। कृष्ण को विष्णु का पूर्ण-अवतार की श्रेणी में स्थापित किया गया और इनके मुख से 'श्रीमद्भगवद्गीता' का प्रवचन कराके तत्कालीन भारतीयों के धार्मिक रुख को बदला गया।

'गीता' के श्लोकों से हम निश्चित कह सकते हैं कि उन दिनों कम-से-कम उत्तर-भारत मे 'अहिंसा' का अर्थ लोग जानते थे। इस पावन ग्रन्थ में पशु-बलि का कहीं भी उल्लेख नहीं है। वैष्णव धर्म 'गीता' की देन है। इस धर्म में पशुहिंसा वर्जित है और आज भी यह धर्म पूर्णरूपेण शाकाहारी है। 'वैष्णव' निरामिष का पर्याय हो गया है। जैन-बौद्धों द्वारा परिचालित अहिंसा-आन्दोलन से महाभारतकार निश्चित रूप से प्रभावित रहा।

'गीता' के द्वितीय अध्याय में ब्राह्मी स्थिति-सम्बन्धी श्लोक हैं (श्लोक संख्या : ५५, ५६, ६२, ६३, ७१ और ७२)। यह सम्पूर्ण वर्णन बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है जिसको पुष्टि अंतिम श्लोक से होती है—

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥"

बौद्धों के कुछ तत्वों का विपर्य्यास किया गया है। उनमें मुख्य 'कर्मयोग' है जो 'धम्मपद' के अनुसार इस प्रकार है—

"सब्ब पापस्सं अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्तपरियोदपनं एवं बुद्धाम् सासनं ॥१८३॥"

गीता के उपर्युक्त श्लोक में 'धम्मपद' के भाव अभिव्यञ्जित है। 'गीता' रचना के पीछे भगवान् गौतमबुद्ध के उपदेशात्मक ग्रन्थ 'त्रिपिटक' (तिपिटक) की आधार-भूमि निश्चित रूप से थी।

बुद्ध के प्रमुख सिद्धान्तो मे एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है घृणा से घृणा का अन्त नही होता

है, बल्कि प्रेम से ही घृणा का अन्त होता है; परन्तु 'गीता' का प्राथमिक सिद्धान्त है—शूल से ही शूल निकलता है (कण्टकं कण्टकेनेव)। बौद्धिक सिद्धान्त के विरोध में ही गीता का रचनोद्देश्य है। जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय उन दिनों भारत में व्याप्त थे, उन सबों को त्यागकर आर्यधर्म को स्वीकार करने के लिए कुरुक्षेत्र की रणभूमि में श्रीकृष्ण के मुख से महर्षि वेदव्यास कहलवाते हैं—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। इसी क्रम में श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपना धर्म गुणरहित हो और दूसरे का धर्म अच्छी तरह अनुष्ठित हो तो भी दूसरे के धर्म की तुलना मे अपना धर्म ही श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरना भी श्रेयस्कर है। दूसरे का धर्म तो भयावह होता है—

"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥"—तृतीय अध्याय

नवीनता के प्रति आकर्षित होना लोगों की सहज प्रवृत्ति है। बौद्धधर्म के आकर्षण से प्रेरित होकर लोगों की बहुत बड़ी संख्या इसमे दीक्षित होने लगी जिससे ब्राह्मण वर्ग का व्याकुल होना सर्वथा स्वाभाविक था और अन्य कोई चारा नही देखने से 'परधर्मो भयावह' का फतवा वे लोग देने लगे। अहिंसा-सिद्धान्त की तुलना में बौद्धधर्म की श्रेष्ठता निर्विवाद थी और इसलिए 'श्रेयात्स्वधर्मो विगुणः' की वकालत व्यास जी को करनी पड़ी। काल्पनिक स्वर्ग-नर्क को भौतिक रूप दिया गया जिसकी भरमार पुराणों मे हम देखते हैं। उपर्युक्त श्लोक के पीछे जैन, बौद्ध आदि धर्मों के प्रति विक्षोभ-प्रदर्शन है।

बौद्धधर्म के विरोध में गीता ने अच्छा प्रचार किया और इस धर्म को निष्प्रभ करने मे इस ग्रन्थ ने कोई कोर-कसर नहीं रखी। निम्न श्लोक मे कहा गया है कि शास्त्र के विधान को छोड़कर अपनी इच्छाओं के अनुसार जो व्यक्ति कार्य करता है, उसे न सिद्धि (पूर्णता) प्राप्त होती है, न सुख प्राप्त होता है और न परगति (सर्वोच्च लक्ष्य) ही प्राप्त होती है—

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥"—१६वाँ अध्याय

'शास्त्रविधिमुत्सृज्य'—बौद्धधर्म के लक्ष्य की ओर ही संकेत है। देशकाल के अनुसार ही धर्मशास्त्र की उपादेयता है, नहीं तो ऐसे शास्त्र-विधान का सर्वथा त्याग कर देना ही युक्तिसंगत तथा शुभ है। बौद्धधर्म के व्यापक प्रचार के बावजूद भी आर्यधर्म (हिन्दू सनातन धर्म) का एकदम लोप नहीं हो रहा था।

भारत में वर्ण-व्यवस्था की युगीन परम्परा व्याप्त थी। धर्म के नाम पर इसने बहुत जोर पकड़ लिया था और पण्डितों ने इसे दमन का साधन बना लिया था। इस वर्ण-व्यवस्था से हिन्दू समाज पूर्ण रूप से ग्रस्त था; क्योंकि हिन्दू धर्म में इस वर्ण-व्यवस्था का पालन बहुत ही कठोरता से होता था। इस कठोर व्यवस्था के कारण सामान्य हिन्दू, विशेषकर वैश्य और शूद्र इस धर्म के प्रतिपालन में शिथिलता बरत रहे थे। गौतमबुद्ध ने इसका अनुभव किया और अपने धर्म में जाति-भेद को उपेक्षित रखा। बौद्धसंघ के भिक्षुओं में कोई जाति-भेद नहीं रहा; परन्तु भारतीय वर्ण-व्यवस्था से अपने को सर्वथा मुक्त करना बौद्धों के लिए सहज नहीं था और इस व्यवस्था ने बौद्ध-धर्म के लिए गति-अवरोध का काम किया। तो भी जाति-भेद की उपेक्षा-भावना ही बौद्धधर्म मे रही। बौद्धभिक्षु सब जातियों से भिक्षा ग्रहण करते थे, इसीलिए ये भिक्षु सामाजिक निन्दा के पात्र थे। जाति-भेद की उपेक्षा-भावना के कारण काफी संख्या में हिन्दू इस धर्म में दीक्षित होने लगे जिसके कारण कर्मकाण्डी ब्राह्मणों में अशेष चिन्ता व्याप्त हो गई थी। वेदव्यास प्रकाण्ड विद्वान् थे

और हिन्दू (आर्य) धर्म के कट्टर अनुयायी थे। बौद्धों के बढ़ते कदम से वह विचलित हो गए थे। 'श्रीमद्भगवद्गीता' की रचना करके उन्होने वर्ण-व्यवस्था की नियमनिष्ठा में उदारता दिखाई जिसकी अभिव्यक्ति इस ग्रन्थ में है। 'गीता' में वर्ण-व्यवस्था की जो उदार भावना है, उसकी आधारभूमि बौद्धो की जाति-भेद-शिथिलता है।

'गीता' आर्यधर्म की अप्रतिम रचना होते हुए भी वेदों के प्रति असंतोष के स्वर से मुखरित है। वेद-विरोधी भावना का प्रदर्शन गीता के द्वितीय अध्याय (श्लोक संख्या : ४२, ४५, ४६, ५२ और ५३) में है। आगे चलकर पुराणों में भी वेदों को अपदस्थ किया गया है। वेदों का नाम लेते गए, पर उनकी जड़ें खोदते गए। 'गीता' के श्लोकों एवं महाभारत की घटना से इसकी पुष्टि होती है कि महाभारत-निर्माण के समय किसी अवैदिक परम्परा का वातावरण भारत में व्याप्त था और यह अवैदिक परम्परा निश्चित रूप से जैन और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित थी; क्योंकि हम जानते हैं कि इन दोनों धर्मों की वेदों के प्रति अनुदार भावना है, वेदों पर विश्वास नही है।

'गीता' को लोकमान्य तिलक ने भी बुद्ध-पूर्व नहीं माना है। धर्मानन्द कोसम्बी का भी यही विचार है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'भगवान् बुद्ध' मे लिखा है जो श्रीपाद जोशी के शब्दों में इस प्रकार है—

> "किसी भी लेखक ने उसे (गीता को) बुद्ध-समकालीन नही बताया है। पाश्चात्य पण्डितों ने जो अलग-अलग अनुमान लगाये है, उनके अनुसार गीता का काल भगवान् बुद्ध के पश्चात् पाँच सौ से लेकर एक हजार बरस तक का प्रतीत होता है (पृ० २१३)।"

जे० एन० फर्कुहर ने भी 'गीता' के ज्ञानमार्ग' के उल्लेख-क्रम में लिखा है—

> "दि फर्स्ट इज दि ज्ञानमार्ग, एण्ड वे ऑफ नालेज, एज टाट् इन दि उपविषद्स एण्ड दि सांख्य फिलासफी, एण्ड इन दि मोडिफाइड् वे बाई बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म (पृ० ८)।"—एन आउट लाइन ऑफ दि रिलिजियस लिटरेचर ऑफ इण्डिया

अर्थात्, ज्ञानमार्ग-सम्बन्धी व्याख्या उपनिषदों एवं सांख्य दर्शन में है और इसी का संशोधित रूप बौद्धों एव जैनियो में परिलक्षित है। 'गीता' महाभारत का ही अंश है, इसलिए महाभारत बुद्धोत्तरकालीन रचना सिद्ध होती है।

(८)

कृष्ण का एक सुप्रसिद्ध नाम 'केशव' है। यह नाम महाभारत मे अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। 'केश' किरण (सूर्य और चन्द्र को) को भी कहते हैं और तत्सम्बन्धी निरुक्ति 'शान्तिपर्व' (श्लोक संख्या : ४८ और ४९—३४१वाँ अध्याय) में है। 'अमरकोश' में 'केश' के कई अर्थ दिए गए है जिनमें 'किरण' अर्थ नही है—"चिकुरः कुन्तलो बासः कचः केश शिरोरुहः।"

कृष्ण के कई नामों में 'केशव' का उल्लेख 'अमरकोश' में है जिनमें 'केशव' का अर्थ दिया गया है—'केशवः केशिकः केशी।' अर्थात् अच्छे बाल वालों के नाम—केशव, केशिक और केशिन्। हेमचन्द्राचार्य-विरचित 'अनेकार्थ संग्रहो नामकोशः' में 'केशवः केश संयुते' लिखा गया है और 'केशव' नाम वासुदेव के लिए प्रसिद्ध हो गया।

सर मोनियर-मोनियर विलियम्स की 'डिक्शनरी—इंगलिश एण्ड संस्कृत' में कृष्ण के विभिन्न नामक्रम में एक नाम 'केशव' का भी उल्लेख है जिसका अर्थ दिया गया है—'दि लांग

ह्यर्ड'। कार्ल कैपीमर द्वारा सम्पादित पीटसबर्ग कृत संस्कृत इगलिश डिक्शनरी के अनुसार केशव (विशेषण) का अर्थ है—हैविंग लाग हेयर ।

'जटिलसुत्त' में गौतमबुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा है कि लम्बे केश नहीं रखना चाहिए। अधिक-से-अधिक दो अंगुल लम्बे केश अथवा दो महीने के केश भिक्षु रख सकते है, परन्तु भिक्षुओं ने केश रखना ही एकदम बन्द कर दिया और मुण्डित रहने लगे। 'शिर-मुण्डा' के लिए 'मुण्डक' शब्द 'बुद्धचर्य्या' में आया है। ऐसे तो बुद्ध के लिए भी 'मुण्डक' शब्द प्रयुक्त हुआ है (पृ० ३८९)। परवर्ती काल के कर्मकाण्डी ब्राह्मणों द्वारा ऐसे भिक्षुओं को 'मथमुण्डे' कहा जाने लगा जिससे घृणा-भाव की ही अभिव्यक्ति होती है। बौद्ध-भिक्षुओं को 'मुण्डक-श्रमण' भी कहा जाता था। महाभारत में 'मुण्डा' शब्द बौद्ध-भिक्षुओं अथवा श्रावको के लिए आया है, न कि जैन श्रमणों के लिए; क्योंकि जैनियों में केश-मुण्डन की व्यवस्था नहीं है, जैन साधु केश रखते हैं। इन्हीं मुण्डों के विरोध में 'केशव' शब्द का निर्माण करके कृष्ण के लिए स्थापित किया गया। इस शब्द के आधार पर हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि गौतमबुद्ध के बाद ही महाभारत का निर्माण हुआ।

(९)

'पुरुषोत्तम' शब्द परमेश्वर (भगवान्) का पर्य्याय है। यह शब्द महाभारत के 'भीष्मपर्व' में आया है जहाँ श्रीकृष्ण को ही 'महात्मा पुरुषोत्तम' कहा गया है—

"मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयत्यद्भुतं महत् ।
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ॥३॥" —सप्तषष्टितमोऽध्यायः

'उद्योगपर्व' में इस शब्द की व्याख्या है—"पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः (७०: ११)॥" 'गीता' के कई श्लोकों में यह शब्द उल्लिखित है जो सर्वत्र श्रीकृष्ण के लिए ही आया है।

महाभारत से पूर्व 'पुरुषोत्तम' शब्द का प्रयोग गौतमबुद्ध के लिए हुआ था। गौतमबुद्ध अपने जीवन-काल में ही 'भगवान्' (भगवा अथवा भगवंत) संज्ञा से विभूषित होने लगे थे। 'सुत्तनिपात' के एक सूत्र में अजित, गौतमबुद्ध को सम्बोधित करते हुए 'नरुत्तम' कहता है—"लक्खणानं पविचय, बावरिस्स नरुत्तम (परायण वग्गो: वत्थुगाथा : ४६)।"

महाभारत के प्रारम्भ मे कृष्ण को विष्णु का अंशावतार माना गया; परन्तु आगे चलकर इन्हें पूर्णावतार माना गया और ये 'भगवान्' हो गए। 'गीता' को इसलिए 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' की संज्ञा मिली। गौतमबुद्ध को इनके शिष्य-प्रशिष्यों मे 'पुरुषोत्तम' कहा, इसलिए वेदव्यास ने अपने प्रमुख पात्र श्रीकृष्ण को इस 'पुरुषोत्तम' संज्ञा अथवा विशेषण से सुविख्यात किया। भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'भगवद्‌गीता की बुद्धिवादी समीक्षा' मे लिखा है—

> "हम नहीं जानते कि वे (कृष्ण) उस समय 'लोक' और 'वेद' मे 'पुरुषोत्तम' पद से विख्यात थे वा नहीं ? × × × हम यह मान सकते हैं कि उस समय श्रीकृष्ण भी 'पुरुषोत्तम' बन गए होगे, क्योंकि इससे बहुत पहले भगवान् बुद्ध 'पुरुषोत्तम' हो चुके थे (पृ० ४०)।"

यह 'पुरुषोत्तम' शब्द महाभारत को बुद्धोत्तरकालीन कृति होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

(१०)

वैदिक पूर्वकाल में जड़पूजा की प्रधानता थी। उस काल में वृक्षों, नदियों, पहाड़ों, भूत-प्रेत इत्यादि का पूजन होता था। वैदिक उत्तरकाल में भी तरु-पूजन की परम्परा अक्षुण्ण रही जो प्राचीन जड़-पूजन का ही अवशिष्टांश है और यह कुछ संसार-पूजन से भी सम्बन्ध रखता है। 'गीता' का एक श्लोक है जिसमें संसार की उपमा अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष से दी गई है—

"ऊर्ध्वमूलमधः शाखम् अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेदस वेदवित् ॥१॥"—१५वाँ अध्याय

(लोग उस अविनाशी पीपल के वृक्ष के विषय में बताते हैं जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं और शाखाएँ नीचे की ओर हैं। उसके पत्ते वेद है और जो यह सब जानता है, वही वेदविद् है।)

इस श्लोक के सन्दर्भ में भदन्त आनन्द कौसल्यायन लिखते हैं—

"संसार का वृक्ष-रूप में वर्णन करने की पुरानी प्रथा है, उसी प्रथा का यहाँ भी निर्वाह मात्र है। संसार को किसी ने वट-वृक्ष बनाया, तो किसी ने गूलर का वृक्ष। गीताकार ने इसे अश्वत्थ-वृक्ष बनाया है। असंभव नहीं कि गीताकार के समय अश्वत्थ-वृक्ष बोधि-वृक्ष पीपल के वृक्ष का माहात्म्य रहा हो (बुद्धिवादी समीक्षा : पृ० ३९-४०; निवेदन)।"

'गीता' में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वृक्षों मे मैं पीपल का वृक्ष हूँ—"अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां (१० : २६)।" पीपल वृक्ष के नीचे (बोधगया में) ही गौतम को ज्ञान-प्राप्ति हुई और वह 'बुद्ध' नाम से सुप्रसिद्ध हुए। इसलिए इस वृक्ष को बोधि-वृक्ष भी कहते हैं। पीपल के वृक्ष को प्राथमिकता देना महाभारत (गीता) को बुद्धोत्तरकालीन मानने का एक अतिरिक्त प्रमाण है।

अशोक वृक्ष के नीचे महावीर वर्धमान को तथा अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ (गौतमबुद्ध) को ज्ञानोद्दीप्ति हुई थी, इसलिए जैनियों तथा बौद्धों में वृक्ष-पूजन का विशेष महत्त्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तरु-पूजा जैनियों एवं बौद्धों की देन है। इसी का अनुकरण महाभारत में है।

(११)

महाभारत में 'चैत्य' शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है। आर्यों में अन्त्येष्टि-पूजा का रिवाज नहीं था। वेदों में इसकी चर्चा नहीं है; परन्तु भारतवर्ष में इसका प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। मुनि कान्तिसागर ने लिखा है—

"अपने पूज्य पुरुषों के सम्मान में या जीवन की विशिष्ट घटना की स्मृति-रक्षार्थ स्तूप बनवाने की प्रथा का सूत्रपात किसके द्वारा हुआ, अकाट्य प्रमाणों के अभाव मे निश्चय रूप से कहना कठिन है। पर जो ग्रन्थस्थ वाङ्मय हमारे सामने उपस्थित है, उस पर से तो यही कहना पड़ता है कि इस प्रकार की पद्धति का सूत्रपात जैन-परम्परा में ही सर्वप्रथम हुआ (खण्डहरों का वैभव : पृ० १४)।"

महावीर के निर्वाण-स्थान पर एक स्तूप बनवाये जाने का उल्लेख जैन साहित्य में आता है परन्तु उन दिनों वह स्तूप पूज्य नहीं था जैनियों में स्तूप-पूजा का प्रचलन बौद्धों की देन है

बौद्धों में स्तूप-पूजन का प्रचलन था। रेनोड लिखता है कि 'बुध का प्रयोग बौद्ध-मन्दिर के लिए ही नहीं; परन्तु बौद्ध-स्तूप के लिए भी होता था जो प्रायः मन्दिर के पास बनाया जाता था।' उस युग में महात्मा पुरुषों की शरीर-धातुओं पर एक थूहा (स्तूप) बना दिया जाता था जिसे 'चैत्य' कहते थे और इस शब्द की व्युत्पत्ति 'चिता' से है। बौद्ध-ग्रंथों के अनुसार स्तूप उस थूहे की संज्ञा थी जो बुद्ध की चिता-भस्म-अस्थि, केश, दन्त अथवा प्रसिद्ध बौद्ध महात्माओं और आचार्यों की शरीर-धातुओं की समाधि के रूप में बनाये जाते थे। उन दिनों देवस्थान के समान यह 'चैत्य' पवित्र माना जाता था। 'अमरकोश' में भी 'चैत्यमायतनं तुल्ये' लिखा गया है। 'हलायुधकोश' में 'चैत्य बुद्धाण्डकेऽप्युक्तं' (अर्थात् बुद्ध-मन्दिर को चैत्य कहा जाता है) लिखा गया है। इसी संदर्भ में 'हलायुधकोश' के सम्पादक पं० जयशंकर जोशी ने 'अकारादि शब्दानुक्रम' में इस शब्द के कई पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख किया है—

"बुद्धस्मारकम्; देवायतनम्; आयतनं; यज्ञस्थानं; बुद्धाण्डकं; केचित्तु मुखरहितं देवकुलसदृशं यज्ञायतनम् सञ्चित्यमचित्यचित्यमपीत्याहुः। मृदा देवकुलत्।"

'इतिहास और जैनागम-साहित्य में मन्दिरों का उल्लेख 'चैत्य' शब्द से किया जाता था। आज भी हम लोग 'चैत्यालय' और 'चैत्यवंदन' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु उन दिनों 'चैत्य' शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत होता था, उस अर्थ में आज नहीं लिया जाता है।

'महापरिनिव्वाणसुत्त' में देवस्थान के लिए 'चैत्य' शब्द आया है। गौतमबुद्ध आयुष्मान् आनन्द से कहते हैं—'वज्जियों के (नगर के) भीतर या बाहर के जो चैत्य (= चौरा = देवस्थान) हैं, उनका सत्कार करते है, पूजते है (बुद्धचर्य्या : पृ० ५२१)।" इसी ग्रन्थ में आगे चलकर पुनः लिखा गया है—"मुकुट-बंधन नामक मल्लों का चैत्य (= देवस्थान) है, वहाँ भगवान् के शरीर का दाह करें (पृ० ५४३)।" परन्तु 'बुद्धचर्य्या' के 'धम्मचेतियसुत्त' का 'धम्मचेतिय' (धर्मचैत्य) सर्वथा विभिन्न अर्थक है। राजा प्रसेनजित् के भाषण के बाद गौतमबुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"धर्मचैत्यों को सीखो, धर्मचैत्यों को पूरा करो, धर्मचैत्यों को धारण करो (पृ० ४८०)।" 'बृहत्कल्पभाष्य' (प्राचीन जैन ग्रंथ) के दूसरे भाग में चार प्रकार के चैत्य गिनाए गए हैं—सधर्मिक, मंगल, शाश्वत और भक्ति। आगे चलकर इसी 'धर्मचैत्य' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग महाभारत के 'शान्तिपर्व' में हुआ है—

"शुचि देशमनड्वाहं देवगोष्ठं चतुष्पथम्।
ब्राह्मणं धार्मिक चैत्यनित्यं कुर्यात् प्रदक्षिणम् ॥८॥"—१९३वाँ अध्याय
(पवित्र स्थान, बैल, देवालय, चौराहा, ब्राह्मण, धर्मचैत्य—इनको दाहिने करके चले।)

महाभारत में उल्लिखित यह 'चैत्य' शब्द बुद्धोत्तरकालीन है, अर्थात् यह शब्द बौद्धों एवं जैनियों की देन है। बौद्धों के अनुकरण पर ही देवगोष्ठ (देवस्थान) बनना शुरू हो गए थे। देवालय के अर्थ में यह शब्द 'वनपर्व' में आया है—

"पुरुषादानि सत्त्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा।
नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते ॥५८॥—१८८वाँ अध्याय
(नर-भक्षी हिंसक जीव तथा पशु-पक्षी नगर के बगीचों एवं देवालयों में शयन करेंगे।)

मुनि कान्तिसागर ने लिखा है

"महापुरुषों के निर्वाण या दाह-स्थानों पर उनकी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए वृक्ष लगाये जाते थे या प्रस्तर-खण्ड तथा शरीर के अवशेष रखकर मढ़िया बना दी जाती थी (खण्डहरों का वैभव : पृ० ६८)।"

मढ़िया का ही परिवर्तित रूप 'मठ' है जो देवस्थानबोधक है (जैसे—शिवमठ, रामकृष्ण मठ, बेलूर मठ इत्यादि)। बौद्धों के रहने के स्थान को 'मठ' कहते हैं। बौद्ध-भिक्षुओं का सम्बन्ध मठों से रहता है; परन्तु जैन श्रमणों का नहीं। 'मठ' के लिए 'चैत्य' शब्द का प्रयोग विशेषतः बौद्धग्रंथों में है। बुद्ध से पूर्व इस अर्थ में 'चैत्य' शब्द का निर्माण अथवा प्रयोग नहीं हुआ था। मन्दिर (देव-मन्दिर) का ही पूर्ववर्ती रूप 'चैत्य' है। 'चैत्य' के रूप में बौद्धों ने देवमन्दिरों का निर्माण बहुतायत में किया था।

बुद्ध के जीवन-काल से ही बौद्ध धर्मानुयायियों के अस्थि-अवशेष पर स्तूप बनने लगे थे और ऐसे स्थान को 'चैत्य' की संज्ञा दी जाती थी। 'सुत्तनिपात' में 'अग्गालवे चेतिये' का उल्लेख है। 'धम्मपद' के 'बुद्धवग्गो चुद्दसमो' में भी यह शब्द उल्लिखित है। कालान्तर में इस शब्द का अर्थ और भी व्यापक हो गया और यह न केवल स्तूप का वाचक रहा, बल्कि मन्दिर अथवा शरीर-अवशेष के लिए निर्मित किसी भी प्रकार की वस्तु (थूहे या मण्डप) के लिए प्रयुक्त होने लगा। प्राचीन जैन ग्रन्थों मे चैत्य (चेदए) शब्द का प्रयोग 'आराम' (रेस्ट हाउस) के लिए भी होने लगा। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में 'काष्ठचैत्य देवता' शब्द आया है (विशोऽध्यायः निशान्तप्रणिधि)। इन उपर्युक्त आधारों से महाभारत का रचना-काल बुद्ध के बाद ही स्थिर होता है।

(१२)

जैनधर्म में नाग प्रमुख प्रतीक है। जिन महावीर तथा गौतमबुद्ध की कई प्रतिमाएँ खुदाई मे उपलब्ध हुई है जिनमें कई फणवाले विशाल नाग के नीचे ये बैठे उत्कीर्णित हैं। इण्डोचीन के कम्पुचिआ देश (प्राचीन नाम कम्बोज और बाद मे कम्बोडिया) स्थित 'अंगकोरवात' में आज भी गौतमबुद्ध का एक मन्दिर है जिसमें विशाल नाग (संभवतः शेषनाग) के सहस्र फनों के नीचे भगवान् बुद्ध ध्यानमग्न आसन लगाये बैठे हैं। इस मन्दिर के निर्माण के विषय में कहा जाता है कि इसका निर्माण १२वी शताब्दी मे हुआ था। किसी युगीन परम्परा की ही प्रतिकृति यह नाग-प्रतीक है। हम जानते हैं कि महाभारत-काल के पूर्व से ही काम्बोज बौद्ध धर्मानुयायी देश था जिसकी बड़ी निन्दा महाभारतकार ने की है। काम्बोज (आधुनिक कम्पुचिआ) आज भी बौद्ध धर्मानुयायी देश है यद्यपि अहिंसा के सिद्धान्त के प्रति यहाँ के लोग उदासीन भाव ही रखते हैं। ये लोग मांसाहारी हैं और इनके भोज्य पदार्थ में गोमांस भी वर्जित नहीं है।

महाभारत के 'आदिपर्व' में मुख्य-मुख्य नागों के नाम मे 'कालिया' का भी उल्लेख है (३५वाँ अध्याय का छठा श्लोक)। 'सभापर्व' के ३८वाँ अध्याय में यह वृत्तान्त आया है कि नीप (कदम्ब) वन के पास ह्रद (कुण्ड) में प्रवेश करके श्रीकृष्ण ने कालिया नाग के मस्तक पर नृत्य-क्रीडा की थी और तत्पश्चात् उस नाग को अन्यत्र चले जाने के लिए आदेश दिया था—

"ह्रदे नीपवने तत्र क्रीडितं नागमूर्धनि ॥
कालियं शासयित्वा तु सर्वलोकस्य पश्यतः। विजहार ततः कृष्णो बलदेवसहायवान् ॥"

महावीर और बुद्ध नाग द्वारा सुरक्षित दिखाए गए हैं; परन्तु महाभारत के कृष्ण कालिया नाग का मान-मर्दन करते हैं तथा उसे अन्यत्र चले जाने को कहते है। परन्तु 'वनपर्व' में भगवान् नारायण शेषनाग को शय्या उस पर शयन करते हैं

सहस्रशीर्षा पुरुष ।
फटासहस्रविकटं शेषं पर्यङ्कभाजनम् ।।३८।।"—२७२वाँ अध्याय

नारायण का ही दूसरा नाम विष्णु है। शेषशायी विष्णु अर्थात् कृष्ण भगवान् का उल्लेख पौराणिक ग्रंथों में कई बार हुआ है। दक्षिण के एक गुफा मन्दिर में एक उत्कीर्ण चित्र का उल्लेख फर्गुसन और बर्गस ने अपने ग्रंथ 'केव टेम्पल' में किया है जिसमें विष्णु अथवा नारायण शेषशायी और लक्ष्मी उनके पाँव दबाती हैं—

"इन दिस केव टेम्पल देयर आर फिगर्स ऑफ विष्णु एण्ड नारायण लाईंग आन दि बाडी ऑफ ए सरपेंट, विथ लक्ष्मी रबिंग हिज फीट (भण्डारकर-कृत 'वैष्णविज्म-शैविज्म' से उद्धृत : पृ० ४४)।"

कृष्ण की इस नागलीला का मूल स्रोत जैन और बौद्ध धर्मों का नाग-प्रतीक है। शेषशायी नारायण (विष्णु और कृष्ण) के भी आधार-स्रोत जैन अथवा बौद्ध नाग-प्रतीक है, अर्थात् यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि इस नाग-प्रतीक को महाभारतकार ने जैन-बौद्धों से ही अपनाया है। इसलिए महाभारत के रचना-काल का क्रम गौतमबुद्ध अथवा वर्धमान महावीर के बाद आता है।

डॉ० मोतीचन्द्र ने 'सार्थवाह' में लिखा है—

"रथ सबसे पहले कब और कहाँ बने, इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं लगता, लेकिन प्राचीन समय में घोड़ों और गदहों से खींचे जाने वाले दो पहियेवाले रथ आ चुके थे। ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में एशिया-माइनर में भी घोड़ों से चलने वाले रथ का आविर्भाव हो चुका था। यूनान तथा मिस्र में भी रथ का चलन ई० पू० १५०० के करीब हो चुका था। विचार करने पर ऐसा पता चलता है कि शायद सुमेर में सबसे पहले रथ की आयोजना हुई। बाद में भारोपीय लोगों ने रथ की उन्नति की और उसमें घोड़े लगाये (पृ० ३५)।"

रथ का उल्लेख वेदों में मिलता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' तथा 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी इसकी चर्चा है।

आज 'रथयात्रा' कहने से जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) की रथयात्रा ही समझी जाती है। ऐसे तो सम्पूर्ण उड़ीसा तथा बंगाल राज्यों में आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को रथयात्रा का समारोह सोल्लास मनाया जाता है; परन्तु जगन्नाथपुरी की रथयात्रा की शान ही निराली है।

विष्णु अथवा श्रीकृष्ण का एक नाम 'जगन्नाथ' भी है; परन्तु कई शताब्दियों से यह नाम जगन्नाथपुरी के देवता के लिए रूढ़ हो गया है। जगन्नाथपुरी के मन्दिर-निर्माण के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि सन् ११०० ई० में कलिंग के गंगवंशी नरेश चोडगंग ने इसका निर्माण कराया था; परन्तु बात ऐसी नहीं है। इस नरेश द्वारा मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ था। इस जीर्णोद्धार के पूर्व यह मन्दिर स्तूप (मठ) के रूप में था जिसका श्रेय बौद्धों को था। कहा जाता है गौतमबुद्ध का वास यहाँ भी हुआ था। उनका 'स्वर्णदंत' कई शताब्दियों तक यहाँ सुरक्षित था जिसके कारण यह स्थान कितने वर्षों तक बौद्ध-धर्मानुयायियों का तीर्थस्थल बना रहा।

बौद्धधर्म के ह्रास के पश्चात् इस स्थान-विशेष पर तांत्रिकों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। मत्स्य, मांस और मदिरा का प्रतीकात्मकार्पण पूजा-साधना में होने लगा। आज भी जगन्नाथ मन्दिर के प्रांगण में स्थित विमला देवी (शक्तिपीठ) के मन्दिर के सम्मुख एक छाग की बलि प्रत्येक वर्ष आश्विन शुक्ल अष्टमी को दी जाती है।

जगन्नाथ के मन्दिर में जगन्नाथ के अतिरिक्त उनके बड़े भाई बलभद्र (बलराम; बलदेव) तथा बहन सुभद्रा की काष्ठ-मूर्तियाँ हैं जो अपूर्ण हैं, मुखमण्डल सम्पूर्ण निर्मित नहीं है, हाथ भी पूरे नहीं बने हैं, टुण्ड-मात्र हैं। इन टुण्ड मूर्तियों पर बौद्धों का प्रभाव है, क्योंकि चीनी यात्री सुयेन-च्वाग के समय बोध-गया के मन्दिर में बुद्ध की प्रतिमा अपूर्ण थी। 'हिन्दी विश्वकोश' में लिखा है—

> "कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मत में ये त्रिमूर्तियाँ बौद्ध प्रभाव और बौद्धों के त्रिरत्नों—बुद्ध, संघ और धर्म की सूचक है। किन्तु भारत में ऐसे मन्दिर प्रायः मिलते हैं जहाँ मुख्य देवता के परिवार के अन्य सदस्यों की भी मूर्तियाँ और उपमन्दिर बने है। तथापि जगन्नाथ के संबंध में ऐसी अनेक रीतियाँ और विश्वास प्रचलित हैं जो अन्य हिन्दू मन्दिरों से सर्वथा भिन्न हैं और जिन पर बौद्ध प्रभाव भी दिखाई देता है। उनमें एक तो यह है कि जगन्नाथ की मूर्ति के भीतर एक अस्थि-मञ्जूषा भी होती है जो समय-समय पर (आजकल प्रति १२वें वर्ष) बदलकर नई मूर्ति में स्थापित की जाती है। ये अस्थि-अवशेष कृष्ण के माने जाते हैं, किन्तु भारतीय इतिहास में बुद्ध के अस्थि-अवशेषों की तरह कृष्ण के अस्थि-अवशेषों की कोई परम्परा नहीं है। असम्भव नहीं कि आधुनिक जगन्नाथ मन्दिर के स्थान पर प्राचीन काल में कोई बौद्ध-स्तूप रहा हो, जिसकी मूल अस्थियाँ जगन्नाथ की मूर्ति में भी स्थापित कर दी गई हों।"

बौद्धों में न जाति-भेद है और न छुआछूत है। जगन्नाथ-मन्दिर में भगवान् को रोज भोग लगता है और प्रसाद को 'अटका' कहते हैं। सभी वर्ण के लोग बिना किसी भेद-भाव के 'अटका' को चखते हैं और क्रय करते हैं। 'अटका' के जूठा होने का प्रश्न ही नहीं है, यहाँ तक कि श्वानों के स्पर्श से भी ये 'प्रसाद' अपवित्र नहीं होते हैं। इस रीति पर भी बौद्ध प्रभाव परिलक्षित है।

आज जगन्नाथपुरी का वैष्णव धर्म प्राचीन बौद्धधर्म का ही क्रमानुयायी है, अर्थात् 'पुरी' के इस मन्दिर में जिस प्रकार की पूजा-पद्धति है, वह प्राचीन बौद्धधर्म से ही प्रभावित है।

जगन्नाथ-मन्दिर की तीनों मूर्तियों के रथ पृथक्-पृथक् हर साल निकलते हैं। जगन्नाथ-मन्दिर के निर्माण के बहुत पूर्व से ही 'रथयात्रा' का प्रारम्भ है। 'रथयात्रा' बौद्धों की देन है। जेम्स फर्गुसन के मतानुसार आज की रथयात्रा किसी अन्य धार्मिक परम्परा का अनुकरण मात्र है। चीनी यात्री फाहियान ने अपने यात्रा-विवरण में गौतमबुद्ध की रथयात्रा के विषय में लिखा है जो जगन्मोहन वर्मा के शब्दों में इस प्रकार है—

> "भगवान् का चार पहिये का रथ बनाया जाता है। वह तीस हाथ ऊँचा होता है और चलता हुआ प्रासाद जान पड़ता है। सप्तरत्न के तोरण लगाये जाते हैं। रेशम की ध्वजा और चाँदनी से सुसज्जित किया जाता है। भगवान् की मूर्ति रथ में पधराई जाती है। दोनों ओर दो बोधिसत्व रहते हैं। सब देवता साथ-साथ चलते हैं। सब मूर्तियाँ सोने चाँदी की बनी होती हैं। ऊपर ध्वजा उड़ता है। × × प्रत्येक संघाराम के अलग-अलग रथ होते हैं। उनकी रथयात्रा के लिए एक-एक दिन नियत है (यात्रा विवरण पृ० ७)"

फाहियान के समय में चौथे महीने की पहली तिथि को यह रथयात्रा प्रारम्भ हुई थी और चौदहवीं को पूरी हुई थी। जगन्नाथ के रथ की ऊँचाई इतनी ही है (२८ हाथ)। बौद्धों की रथ-यात्रा के अनुकरण पर जगन्नाथ की रथयात्रा की शुरुआत हुई। बौद्ध-धर्मानुयायियों की संख्या आज भारत में नगण्य है और इसीलिए भगवान् बुद्ध की रथयात्रा का आयोजन भारत मे नही होता है, यह आयोजन विलीन हो गया है; परन्तु जैनियों में रथयात्रा का आयोजन आज भी प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ल तेरस को विशेष समारोह के साथ होता है जो सम्पूर्ण भारत मे जैनियो द्वारा मनाया जाता है। जैनियो की रथयात्रा की भी प्राचीन परम्परा है जिससे जगन्नाथ की रथयात्रा प्रभावित है। रथयात्रा के प्रचलन के आधार पर भी महाभारत का रचना-काल महावीर अथवा बुद्ध के बाद ही आता है।

(१४)

कुछ विद्वानों के मतानुसार मूर्तिपूजा का प्रचलन वैदिक काल में था; परन्तु इसकी पुष्टि स्पष्ट रूप से नही होती है। मूर्तियों का निर्माण होता था; परन्तु वह पूज्य नहीं थीं। इतिहास साक्षी है कि आर्यों के आगमन के शताब्दियो बाद भी मूर्ति-पूजा को आर्यों ने प्रधानता नहीं दी।

मोहेनजोदडो तथा हड़प्पा से प्राप्त कुछ मूर्तियों मे देवत्व की भावना परिलक्षित है; परन्तु इन मूर्तियों की विधिवत् पूजा भी होती थी, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। खुदाई में भवन, भण्डार-गृह, विशाल स्नान-गृह इत्यादि मिले हैं, परन्तु देव-मन्दिर की प्राप्ति की स्वीकृति किसी भी पुरातत्त्वविद् ने नही दी है।

रामायण-काल में मूर्ति-पूजा का विधान नही था। महर्षि वाल्मीकि ने 'रामायण' में अन्य सैकड़ों विषयों पर लिखा है; परन्तु मूर्ति-पूजा-सम्बन्धी विवरण का सर्वथा अभाव इस महाकाव्य मे है। अगर यह प्रथा उन दिनों रहती तो आदि-कवि इसका उल्लेख अवश्य करते। परन्तु यह मानना पडेगा कि मूर्तिपूजा की भावना श्रीराम के पादुका-प्रसग में अंकुरित हो गई था।

मूर्ति-पूजा के कुछ अस्पष्ट चिह्न भारतवर्ष के प्राचीन धर्मों मे मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों अथवा उपनिषदों में इसका उल्लेख नहीं है। कई एक मन्त्रो में इसका संकेत मात्र है; परन्तु उन मूर्तियों के प्रति लोगों को श्रद्धा भी थी, ऐसा प्रमाण नही मिलता है। उन दिनों मूर्तिपूजा की प्रथा का होना अनिश्चित-सा ही है।

मूर्ति-पूजा का जोर आर्यों मे बौद्धधर्म से ही बढा। हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा पर बौद्धधर्म की स्पष्ट छाप है। बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् बुद्ध की प्रतिमाओं का धड़ल्ले के साथ निर्माण होने लगा। पुरातत्त्ववेत्ताओं को खुदाई में जितनी मूर्तियाँ गौतमबुद्ध को प्राप्त हुई हैं, उतनी शायद ही किसी और की। आरम्भ का बौद्धधर्म मूर्ति-पूजा-विरोधी था और बुद्ध की मूर्तियाँ बनाने की विशेष रूप से मनाही थी। मूर्ति-पूजा का सार्वजनिक प्रचार भगवान् गौतमबुद्ध के निर्वाण के बहुत काल बाद हुआ और इस प्रथा की शुरुआत का कारण बौद्ध-धर्मावलम्बियों द्वारा भगवान् बुद्ध की मूर्तियों का पूजन था। चीनी यात्री इ-त्सिग के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि उन दिनों बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण अधिक मात्रा मे हो रहा था तथा उन प्रतिमाओं की पूजा भी विधिपूर्वक होती थी। बौद्धो की पूजा-विधि की देखा-देखी हिन्दुओ ने भी की।

भारत में बौद्धधर्म का व्यापक प्रचार था और उनकी मूर्तियाँ पूजा-हेतु बनने लगी थीं। फारस वालों ने बुद्धधर्म के अनुयायियों को 'बुत-परस्त' (बुद्ध-परस्त) की संज्ञा दी और उन लोगो नेभारत को बुत-परस्त देश (बुद्ध-परस्त-देश) कहा। आज 'बुत' का अर्थ बुद्ध से नहीं, बल्कि

मूर्ति (प्रतिमा) से है जिसके लिए फारसी और हिन्दुस्तानी में शब्द हैं 'बुत' जो तत्सम् 'बुद्ध' का तद्भव रूप है।

हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा बौद्धों की देन है। डॉ॰ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की भी स्वीकारोक्ति है—

"बौद्धधर्म से ही हिन्दू धर्मावलम्बियों ने बहुत-सी बातें सीखी। उपास्य देवों की पूजा के लिए उनकी मूर्तियों की कल्पना हुई। (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति : पृ० ११)।"

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' मे 'इवे प्रतिकृती (५.३.९६)' उल्लिखित है। मूर्तियों को, जिनमे देव-मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं, 'प्रतिकृति' कहा गया है। इस सूत्र से उस काल में मूर्तियों के अस्तित्व का सहज अनुमान होता है। 'अर्चा' (प्रज्ञा-श्रद्धार्चा-वृत्तिभ्योण:—५.२.१०१) शब्द के आधार पर इतना संकेत मिलता है कि उन दिनों मूर्तियों की विधिवत् पूजा की जाती थी। पाणिनि का स्थिति-काल गौतमबुद्ध के बाद आता है जिसके लिए प्राय: सभी विद्वान् एकमत हैं। महाभारत का रचना-काल पाणिनि से पूर्व है। 'अनुशासन-पर्व' के १४वें अध्याय में 'शिवलिङ्ग पूजा' का उल्लेख है—

"हेतुभिर्वा किमन्यैस्तैरीश: करणकारणम्
न शुश्रुम यदन्यस्य लिङ्गमभ्यर्चितं सुरै: ॥२३०॥"

(दूसरे-दूसरे कारणों को बतलाने से क्या लाभ ? भगवान् शङ्कर इसलिए भी समस्त कारणों के भी कारण सिद्ध होते है कि हमने देवताओं द्वारा किसी के लिङ्ग को पूजित नहीं सुना है।)

परन्तु प्रतिमा-पूजा का स्पष्टोल्लेख 'महाभारत' में नही है। पाणिनि के उपर्युक्त सूत्रो से इतना तो निश्चित है कि उनके पूर्व मूर्ति-पूजा का प्रचलन था। इससे महाभारत की 'शिवलिङ्ग-पूजा' में प्रतिमा-पूजा की भावना निहित है।

शंकराचार्य को भी बौद्धों के प्रतिमा-पूजन से काफी बल मिला। मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दू-धर्म' शीर्षक लेख (सुमनोञ्जलि: प्रथम खण्ड में संकलित) में लिखा है—

"जिस समय भगवान् शङ्कराचार्य ने बौद्ध मत को ध्वस्त करके भारत मे हिन्दू मत का गौरव पुन: स्थापित किया, उस समय उन्होंने बौद्धों मे प्रतिमा-पूजन का बहुत बल पाया। शायद उस समय यह हिन्दुओं में कुछ-कुछ फैल चुका था। × × × इस भाँति हिन्दू-समाज ने बौद्धों से प्रतिमा-पूजन पाया (पृ० २२-२३)।"

उपर्युक्त आधारों से यह निश्चित होता है कि महाभारत बुद्धोत्तरकालीन रचना है।

(१४)

कुछ विद्वानों के मतानुसार अवतारवाद की परम्परा वैदिककाल से अक्षुण्ण है; क्योंकि मौलिक तथा प्राचीनतम आधार वेदों में उपलब्ध है। 'ऋग्वेद' के अनुसार इन्द्र अपनी माया द्वारा अनेक रूप बनाता है—"रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते······(६.४७.१८)॥" इस वेद में विष्णु के वैभव का वर्णन है और कई ऋचाओं में अवतार-वाद का संकेत है। पुराणों के प्रथम पाँच अवतारों (मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह तथा वामन) के बीज या उनकी मूल कथाएँ वैदिक वाङ्मय में ही मिलती हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में अवतार का

तो स्पष्ट उल्लेख नहीं है; परन्तु ईश्वर के अनेक रूप धारण करने का उल्लेख है। परन्तु एक बात गौर करने की है कि पुराण-पूर्व ग्रन्थों में 'अवतार' शब्द का उल्लेख भी नहीं है; इसलिए 'अवतार-वाद' की परम्परा को वैदिक काल से जोड़ना विवादास्पद है। डॉक्टर सम्पूर्णानन्द ने इस विषय पर अपनी शंका प्रकट की है—

> "अवतारवाद कहाँ तक वेदसम्मत है, यह विवादग्रस्त प्रश्न है। ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं जिनमें देव-देवियों ने मनुष्यों की सदेह सहायता की है। परन्तु अवतारों की गतिविधि भिन्न है। जिन अवतारों की विशेष रूप से पूजा होती है, वे पृथिवी पर थोड़ी देर के लिए नहीं आए। बरसों रहे, नरलीला की, पिता, पुत्र, पति जैसा आचरण किया, युद्धों में लड़े, हारे भी और जीते भी— सारा जीवन मानव-स्तर पर बिताया। × × × विष्णु तो वैदिक देव और देवता हैं ही, परन्तु उनके अवतारों की चर्चा भला वेद में कहाँ मिल सकती है (हिन्दू देव परिवार का विकास—पृ० १५८) ?"

राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि अवतारों की कथाओं के बीज वेदों में नहीं मिलते। 'ऋग्वेद' में 'राम' शब्द का उल्लेख है, परन्तु उसका सम्बन्ध उस नाम के एक ऋषि-विशेष से है, अवतार से नहीं है। इसी प्रकार 'कृष्ण' शब्द है जिसका सम्बन्ध कृष्णावतार से नहीं है। वेदों में 'बुद्ध' नाम को ढूंढना सर्वथा निरर्थक है; क्योंकि गौतमबुद्ध शुद्ध रूप से ऐतिहासिक विभूति हैं। 'कल्कि' तो पौराणिक आविष्कार है।

अवतारों का विचार गौतमबुद्ध के पूर्व नहीं उठा था। राम स्वयं अवतारी पुरुष थे, तो भी रामायण में अवतार का उल्लेख कहीं भी नहीं हुआ है। 'गौतमबुद्ध की महत्वपूर्ण जीवनी तथा खंडनात्मक उच्च उपदेशों से भारत में पहले-पहल व्यक्तित्व का बड़ा भारी माहात्म्य बढ़ा जिससे बुद्ध भगवान् के प्रति अवतार का विचार स्थिर हुआ तथा पीछे से आठ पूर्ववर्ती और एक परवर्ती व्यक्तियों में भी अवतार का भाव जोड़कर दशावतार-सम्बन्धी विचारों की कल्पना हुई।' यह निश्चित है कि अवतार का कल्पना-अस्तित्व बुद्ध के बाद आया। विष्णु के विभिन्न अवतारों की कल्पना बुद्ध के पीछे ही स्थापित हुई, अर्थात् पौराणिक काल में विष्णु के अनेक अवतार कीर्तित हुए। अवतारवाद का इतना विपुल प्रचार पुराणों द्वारा ही हुआ।

महाभारत में अवतार का उल्लेख है। 'आदिपर्व' में वासुदेव का अवतार-सम्बन्धी एक श्लोक है—

> "यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः।
> तस्यांशो मानुषेष्वासीद्वासुदेवः प्रतापवान् ॥१५१॥"—६७वाँ अध्याय
> (देवताओं के भी देवता जो सनातन पुरुष भगवान् नारायण हैं, उन्हीं के अंशस्वरूप प्रतापी वासुदेवनन्दन श्रीकृष्ण मनुष्यों में अवतीर्ण हुए थे।)

कुछ विद्वानों के मतानुसार कृष्ण विष्णु के अवतार नहीं है, बल्कि यह कृष्णनामधारी स्वतः विष्णु हैं—'कृष्णास्तु भगवान स्वयम्'। इसलिए कृष्ण के बड़े भाई बलराम को कभी-कभी कृष्ण का अवतार माना जाता है।

'सभापर्व' में कई अवतारों का उल्लेख है, परन्तु 'बुद्धावतार' को जानबूझ कर छोड़ दिया

गया है। पुराणों में 'बुद्धावतार' की गणना दशावतारों में है। गौतमबुद्ध विष्णु का ही अवतार हैं जो धर्म की वृद्धि और अधर्म का क्षय करने हेतु अवतरित हुए थे।

प्रारम्भ में अवतारों के क्रम में बुद्ध को विष्णु का अवतार नहीं माना गया। 'नारद पुराण' मे तो स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि किसी भी परिस्थिति मे ब्राह्मणों को बौद्ध-मठों में प्रवेश नहीं करना चाहिए —

"बौद्धालय विशेद्यस्तु महपाद्यपि वै द्विजः।
न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा प्रायश्चित्तशैतरपि ॥५१॥"

—(पापियों के नरक-दण्ड-वर्णन में उल्लिखित)

इस श्लोक से इतना तो निश्चित है कि इस पुराण के रचना-काल तक बौद्धों के प्रति ब्राह्मणो का घृणा-भाव हो व्याप्त था। परन्तु आगे चलकर बौद्धधर्म की अतिशय व्यापकता के कारण ब्राह्मणों ने बौद्धों के साथ समझौता कर लिया और इस प्रकार ब्राह्मणो द्वारा बुद्ध भी अवतार-श्रेणी में अंगीकृत कर लिए गए।

गौतमबुद्ध स्वतः अवतारवाद के विपक्ष में थे। उनके निर्वाण के पश्चात् बौद्धों ने उन्हे ईश्वर-पद पर प्रस्थापित किया और तत्पश्चात् ब्राह्मणों द्वारा उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया गया। सभी अवतारों में विरोधियों के साथ किसी-न-किसी रूप में संग्राम अथवा युद्ध है; परन्तु बुद्धावतार ही एकमात्र ऐसा अवतार है जिन्हें किसी के साथ युद्ध नहीं करना पड़ा। धर्म और अहिंसा के व्रत का पालन करने वाले भगवान् बुद्ध ने अधर्म और हिंसा को परास्त किया तथा अहिंसा का प्रज्वलित पथ प्रशस्त किया।

अवतारवाद के आधार पर भी महाभारत का रचना-काल गौतमबुद्ध के बाद ही स्थिर होता है। बुद्ध के पूर्ववर्ती ग्रन्थों - ब्राह्मणों, उपनिषदों आदि में, अवतार पर स्पष्ट रूप से विचार नहीं है। अवतारों का विचार पुराणों में है जिनकी रचना महाभारत के बाद हुई।

अवतारवाद के क्रम में त्रिमूर्ति पर विचार कर लेना अपेक्षित है। त्रिमूर्ति का क्रम है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। त्रिमूर्ति की कल्पना आर्य और अनार्य सभ्यताओ के मिश्रण का फल है। इसी आधार पर कतिपय विद्वानों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि त्रिमूर्ति का बीज 'ऋग्वेद' मे है जिसका विकास परवर्ती काल में हुआ। परन्तु हम देखते है कि इस त्रिमूर्ति का उल्लेख न संहिता-भाग में है और न ब्राह्मण ग्रन्थों में। 'गोपथ ब्राह्मण' में तीन देवता का उल्लेख है— अग्नि, वायु और आदित्य (सूर्य) जिसमें 'त्रिमूर्ति' का स्पष्ट बोध नहीं होता है। मिश्रबन्धुओ की धारणा है कि ब्राह्मण-काल-पर्यन्त साहित्य में त्रिमूर्ति का विचार दृढ़ नहीं हुआ। हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि उस काल तक त्रिमूर्ति का महत्त्व बढ़ा हुआ नहीं था। तत्सम्बन्धी विषय की उन्नति बुद्ध के पूर्व नहीं हुई। वाल्मीकि रामायण के प्राचीन भागों मे 'त्रिमूर्ति' का विचार है, परन्तु महाभारत में इसका सर्वथा अभाव है। त्रिदेव की उत्पत्ति का रोचक वर्णन कुछ पुराणो मे है। इस प्रकार गौतमबुद्ध के बाद ही महाभारत का रचना-काल सिद्ध होता है।

सभी उपलब्ध अंतः एवं बाह्य साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि महाभारत बुद्धोत्तर-कालीन कृति है।

पत्रालय—दलसिंह सराय
समस्तीपुर
(बिहार)

जायसी-कृत 'कन्हावत' के दो संस्करण

□

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

१. दो संस्करण

मलिक मुहम्मद जायसी के अभी तक निम्नांकित ग्रंथ मुद्रित और प्रकाशित है— (१) पद्मावत, (२) अखरावट, (३) आखिरी कलाम, (४) चित्ररेखा, (५) कहरानामा, (६) मसलानामा।

१९८१ ई० मे जायसी का एक और नवीन ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसका नाम 'कन्हावत' है। तासी ने इसी को 'घनावत' कहा था। इस वर्ष 'कन्हावत' के दो-दो संस्करण प्रकाश में आए हैं। पहला संस्करण साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग द्वारा प्रकाशित है। मूल्य ७० रु० है। इसमें डबल डिमाई आकार के ८६ (भूमिका) और २५६ (मूल ग्रन्थ) पृष्ठ हैं। इसके संपादक हैं डॉ० शिवसहाय पाठक, जिन्होंने जायसी की एक नवीन कृति 'चित्ररेखा' को १९५७ ई० मे संपादित करके मुद्रित एवं प्रकाशित कराया था।

कन्हावत का दूसरा संस्करण अन्नपूर्णा प्रकाशन, ने १२/१५ आर, बौलिया बाग, राम-कटोरा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक हैं डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त। डॉ० गुप्त चंदायन, मृगावती आदि सूफी प्रेमाख्यानों का पहले संपादन-प्रकाशन कर चुके हैं। कन्हावत के डॉ० गुप्त वाले संस्करण में डबल डिमाई आकार के १३० पृष्ठ (भूमिका) और ३९६ पृष्ठ (मूल ग्रंथ) हैं। मूल्य पचास रुपये है।

२. पाठक-संस्करण के आधारभूत हस्तलेख

(क) **चंद्रबली प्रति**—१९५८-५९ ई० में जब डॉ० शिवसहाय पाठक सालारे जंग पुस्तकालय हैदराबाद से प्राप्त एक फारसी हस्तलेख के आधार पर जायसी-कृत चित्ररेखा का सम्पादन कर रहे थे, तब उनको चंद्रबली सिंह (अब स्वर्गीय) से अहमदाबाद के किसी मुसलमान द्वारा प्राप्त 'चित्ररेखा' का एक दूसरा फारसी हस्तलेख भी उपलब्ध हुआ था। इस फारसी हस्तलेख मे चित्ररेखा के अतिरिक्त जायसी के दो और ग्रन्थ थे—(१) कहरानामा, (२) कन्हावत। कन्हावत खंडित था। इस खंडित प्रति के मात्र ६६ पन्ने उपलब्ध थे। लिपिकाल अनिश्चित, ग्रन्थनाम अनिश्चित।

(ख) **शोभनाथ प्रति**—काशी के शोभनाथ पांडेय हस्तलेखों का संकलन-कार्य करते थे। इन्हें रायबरेली से कन्हावत का एक खंडित हस्तलेख प्राप्त हुआ था जिसमे कुल ८२ पन्ने थे। यह भी फारसी लिपि में है। यह आदि, मध्य, अंत से खंडित है। इसका भी लिपिकाल अनिश्चित है। इससे भी ग्रन्थ के नाम का पता नही चलता। शोभनाथ जी ने यह खंडित प्रति पाठक जी को दे दी थी।

(ग) **जर्मनी की प्रति**—१९६१ ई० में पाठक जी ने तासी की पोथी में जायसी के ग्रन्थो मे

धनावत का उल्लेख किया जिसका फारसी हस्तलेख जर्मनी के डाक्टर स्प्रेंगर के पास था अब वे धनावत के हस्तलेख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हुए। ५ फरवरी, १९७६ का लिखा गया पेरिस विश्वविद्यालय से उन्हें १६ फरवरी '७६ को एक पत्र मिला—"डॉ० ए० स्प्रेंगर के संग्रह के लिए जर्मनी के स्टेट बिब्लिओथेक से संपर्क करें।" इस महत्त्वपूर्ण सूचना के आधार पर पाठक जी को बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय से स्प्रेंगर वाली प्रति की माइक्रोफिल्म प्रति १९७६ ई० के बाद किसी समय प्राप्त हो गई। यह प्रति भी आदि में खंडित है।

इस हस्तलेख के प्राप्त हो जाने पर डॉ० पाठक ने कन्हावत के संपादन में हाथ लगाया और उनका संपादन जनवरी, १९८० तक पूर्ण हो गया और १९८१ में ग्रंथ मुद्रित और प्रकाशित भी हो गया।

३ गुप्त-संस्करण का एकमात्र आधार स्प्रेंगर प्रति

मुगल सम्राट् शाहजहाँ के २१वें राज-वर्ष में मंगलवार, २३ शाबान १०६७ हिजरी (४ अगस्त, १६५७ ई०) को मसौली (कन्नौज) निवासी सादत अत्तार के पुत्र सैयद अब्दुर्रहीम हुसैनी ने कासिमपुर, परगना भोगाँव, सरकार कन्नौज निवासी कल्याणमल के पौत्र, रामदत्त के पुत्र राजाराम सक्सेना कायस्थ के पठनार्थ जायसी के कन्हावत की एक प्रति फारसी लिपि मे प्रस्तुत की थी।

डॉ० एलाय स्प्रेंगर उन्नीसवीं शती के एक अच्छे जर्मन चिकित्सक थे। यह भारतीय विद्या के भी अच्छे प्रेमी और अध्येता थे। इनका जन्म ३ सितंबर, १८१३ ई० को टाइराल, जर्मनी में हुआ था। यह १८४४ ई० में भारत आए और मुहम्मदन कालेज, दिल्ली के प्रिंसिपल हुए। १८५१ से १८५४ ई० तक यह कलकत्ता मदरसा मे रहे, १८५६ ई० में यह जर्मनी लौट गए। १९ दिसंबर, १८९३ ई० को इनका निधन हुआ। इनके रचित कई ग्रन्थ हैं। इनका एक अंग्रेजी हिंदुस्तानी व्याकरण भी है।

स्प्रेंगर साहब भारत में कुल १२ वर्ष रहे थे। इस बीच उन्होंने बहुत से हस्तलेख खरीदे और एकत्र किए थे। जाते समय वह अपने साथ कुल १९७२ हस्तलिखित पोथियाँ ले गए थे। इनमें ९६ पोथियाँ हिंदुस्तानी (हिंदी-उर्दू) की थीं जो फारसी लिपि में लिखी गई थी। १८५७ ई० में इन्होंने अपने इन हस्तलिखित ग्रन्थों की एक सूची "ए कैटलॉग ऑफ द बिब्लिओथेका ओरिएंटेलिस स्प्रेंगियाना" नाम से प्रकाशित की थी। इस सूची के प्रकाशन के तुरंत बाद ही १८५८ ई० मे राजकीय पुस्तकालय बर्लिन ने स्प्रेंगर साहब का यह समस्त संग्रह खरीद लिया।

स्प्रेंगर-ग्रन्थ-सूची में कन्हावत का नाम फारसी लिपि में संख्या १७०१ पर है। विवरण अंग्रेजी में दो पंक्तियों में है। इस विवरण में तीन बातें कही गई हैं—

१. ग्रन्थ जायसी का है।

२. ग्रन्थ छोटे आकार का है, उत्तम (Splendid) है।

३. इसका प्रतिलिपि-काल १०६७ हिजरी है।

प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् गार्सां-द-तासी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई एं एन्दोस्तानी" का प्रथम खंड (मूल ग्रन्थ) १८३९ ई० मे एवं द्वितीय खंड (उद्धहरण) १८४७ ई० मे प्रकाशित किया था। इसका परिवर्द्धित दूसरा संस्करण १८७०-७१ ई० मे तीन जिल्दों में हुआ। इसमें कवि-विवरण और उद्धरण एकत्र कर दिए गए हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस ग्रन्थ के हिंदी से संबंधित अंशों का अनुवाद "हिंदुई साहित्य का इतिहास" नाम से प्रस्तुत किया है जो १९५३ ई० में हिंदुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित हुआ है

तासी ने १८५७ ई० में प्रकाशित स्प्रेंगर-सूची के आधार पर १८७० ७१ ई० में अपने ग्रन्थ में 'कन्हावत' का यह विवरण दिया है —

"और घनावत (Ghanawat) कविता, जिसकी छोटे फोलियो में, १०६७ (१६५६-५७) में प्रतिलिपि की गई, एक अत्यन्त सुन्दर हस्तलिखित प्रति डॉ० ए० स्प्रेंगर (Spranger) के पास है।"

—हिंदुई साहित्य का इतिहास, पृ० ८६

स्प्रेंगर-सूची मे ग्रन्थ का नाम फारसी लिपि में है। इसका हिज्जे है—काफ़, हे, नून, अलिफ़, वाव, ते। यह हिज्जे (वर्ण-वर्तनी) ठीक है। पर हिन्दी शब्दों को फारसी लिपि में अंतरित करते समय क और ग दोनों को एक-सा लिखा जाता है—केवल काफ़, गाफ़ नहीं। तासी ने इसी पद्धति पर 'काफ़' को 'गाफ़' पढ़ा और 'गाफ़' में 'हे' मिल जाने से वह 'घ' हो गया। इस प्रकार तासी की बदौलत 'कन्हावत' 'घनावत' हो गया। अभी तक जायसी ग्रन्थ-सूची में तासी की कृपा से 'घनावत' की गणना होती आ रही थी। अब इन दोनों संस्करणो के प्रकाशन के बाद यह रहस्य-भेद हो गया है कि 'घनावत' गलत नाम है, सही नाम 'कन्हावत' है।

स्प्रेंगर प्रति मे कुल १३२ पन्ने हैं। प्रारम्भ के साढ़े सात पन्नों में जायसी की एक अन्य कृति 'कहरानामा' है। नवें पन्ने के दाहिनी ओर से कन्हावत है जो आदि में खंडित है। आगे के पन्ने भी यत्र-तत्र उलट-पलट गए है। इन्हें ठीक कर लेने पर आगे का अंश पूर्ण रूप में उपलब्ध हो जाता है।

१९७७ ई० मे डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त लन्दन-यात्रा के क्रम मे बर्लिन गए। वहाँ उन्हे सैयद मुजाहिब हुसैन जैदी द्वारा प्रस्तुत उर्दू ग्रन्थों की एक सूची दी गई। पूर्व जर्मनी में सुरक्षित प्राच्य हस्तलेखों की सूची का यह पचीसवाँ खंड है। इसमें ७० ग्रन्थों का परिचय है। इनमे से ५४ बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में है। इन ५४ ग्रन्थों में से ३५ स्प्रेंगर-संग्रह के हैं। इन ३५ ग्रन्थो में दो ग्रन्थ हिन्दी के हैं। एक है चंदायन का एक खंडित सचित्र हस्तलेख, दूसरा है जायसी-कृत कन्हावत। इस सूची मे यह ग्रन्थ कुन्हावत (Kunhawat) नाम से है। कोष्ठक मे (तासी के अनुसार) घनावत नाम भी दे दिया गया है।

डॉ० गुप्त ने इसे जायसी की कोई अज्ञात रचना समझकर इसके माइक्रोफिल्म के लिए आदेश दे दिया जो इन्हे जनवरी या फरवरी, १९७८ मे प्राप्त हो गया। माइक्रोफिल्म की प्राप्ति के प्रायः दो वर्ष बाद डॉ० गुप्त ने सम्पादन प्रारम्भ किया और प्रायः डेढ़ वर्षों मे ही उसे सम्पादित, मुद्रित एवं प्रकाशित कर दिया।

४. पाठक संस्करण के अधिक छन्द

डॉ० पाठक के तीन खंडित हस्तलेख प्राप्त थे, डॉ० गुप्त के एक ही। इन तीनों हस्तलेखों मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हस्तलेख स्प्रेंगर संग्रह का है, क्योकि इसमें सर्वाधिक कड़वक हैं। इसका उपयोग दोनो विद्वान् संपादकों ने किया है।

डॉ० गुप्त संस्करण मे कुल ३६२ कड़वक हैं; डॉ० पाठक-संस्करण में ३६६। पाठक जी ने ग्रन्थारम्भ के पहले दोहे को प्रथम कड़वक न मानकर प्राप्त दूसरे कड़वक का अंग बना दिया है। ऐसा न होना चाहिए था। डॉ० गुप्त ने इसे एक खंडित कड़वक मानकर इसकी गणना अलग से की है, जो ठीक है। ऐसा कर देने से पाठक संस्करण मे ३६६ + १ = ३६७ कड़वक हो जाते हैं जो गुप्त संस्करण से ५ अधिक है। पर यह वास्तविकता नही है। वस्तुतः पाठक जी की पोथी में मात्र यह एक कड़वक अधिक है—

(१४)

हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता। गावहिं वेद भागवत संता ।।
बिष्नु, पदुम, शिव, अलीन पुरानां। भारथ सिरि हरिबंस बखानां ।।
जुतेउँ-पढ़ेउँ भागवत पुरानां। पाएउँ पेम-पंथ संधाना ।।
जोग, भोग, तप और सिंगारू। धरम, करम, सत कै बेवहारू ।।
ज्ञान-भगति-रस कँवल बिगासा। भौंर दूर सों आवहिं पासा ।।
सुमिरौं बेद-बिआस क चरनां। जिन्ह हरि-चरित सहस्सर बरनां ।।
कन्हु के कथा लोक महँ एती। सरगैं नखत तराइन्ह जेती ।।
अइस प्रेम-कहानी, दोसरि जग महँ नाहि।
तुरुकी अरबी फारसी, सब देखेउँ अवगाहि ।।१४।।

यह कड़वक चंद्रबली एवं शोभनाथ दोनों हस्तलेखों में है। स्प्रेंगर हस्तलेख में यह नहीं है
अधिक कडवकों में से ८८ संख्यक तो ८० संख्या पर दुहरा उठा है। रहे शेष तीन कड़वक
डवक ऐसे हैं जो पाठक संस्करण में प्रभु की कृपा से टूट-टूट कर एक-एक के दो-दो हो

(८१)

गा बिंद्रावन कन्ह मुरारी। सबै बनाझति भै फुल (वारी) ।।
बंसि बजाइ भराउ बछेरू। भूले साउज मिरिग (पखेरू) ।।
मेघ मलार मधुर धुनि गाए। ··· होइ (आए) ।।
उनए दैत मेघ होइ छाए। माते दीठि छत्र गति (पाए) ।।८१।।

(८२)

जोजन बारह इंच पहारू। जोजन सात केर बिसतारू ।।
बाएँ हाथ टेकि सब राखा। परबत डेर सो आएउ लाखा ।।
हाँकि भउअ सब आने, तहितर लीन्हिँ उतार।
कछु न बिसाते कन्ह सों, फिरे दइत सब झार ।।८२।।

डॉ० गुप्त संस्करण मे ये दोनों मिलकर कड़वक संख्या ८० हैं, और ठीक हैं।

(१२८)

कहत सो बात, भेस हरिधरा। कीन्ह सिँगार जोग रस करा ।।
कोंडर सोन, मेलि गियँ माला। भएउ चतुरभुज बाल गोपाला ।।
चंदन बभूत त्रिता बैरागी। पदुम खीर भेखा जहि माँगी ।।
कपटे खरग चक्र दोइ हाथाँ। कीन्ह वज्र मूसल पुनि साथाँ ।।१२८।।

(१३०)

हासन मृग कर छाला, बैठेउ मढ़ी दुवार।
कहौ बार अब तो ऐउँ, आवसि बनि अवतार ।।१३०।।

। दोनों मिलकर गुप्त संस्करण में २३० संख्यक एक कड़वक हैं, जो ठीक है।

(१३५)

सब निसि भई चाँद सों केली औ गोहन सम सखी सहेली १३५

(१३६)

भाँवर देहि गाँठि सग जोरी । पाछिल फेरि भएउ पीछोरी ।।
देइ सो भगति आएसि कन्ह मढ़ी । चाँद जाइ धौराहर चढ़ी ।।
हरि जिउ लीन्ह गहन अए गही । भै अचेत मन चित्त न रही ।।
हुत जो गुलाल कुसुम कै बानी । भिमर पान अस भइ कुँभिलानी ।।
सब रंग लीन्ह नरंग भइ बोली । मरि मरि हँसै लसत भइ डोली ।।

फाट चीर तन दरमति, परा गहन सब टूट ।
रहा न काजर सेंदुर, गा सिंगार सब छूट ।।१३६।।

ये दोनों कड़वक मिलकर गुप्त संस्करण में २३४ संख्यक एक कडवक है और ठीक है ।

पाठक जी के ये छहो कड़वक, जो गुप्त संस्करण मे केवल तीन कडवक हैं, स्प्रेंगर प्रति में हैं, फिर भी पाठक जी के यहाँ ये एक से दो-दो कैसे हो गए, यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है ।

पाठक-संस्करण में सात कडवकों के अन्त में एक-एक सोरठे और हैं । ये स्प्रेंगर हस्तलेख मे नहीं हैं—

१. मँहदी अंम्रित मीठ, गुरू सेख बुरहान ।
पेम पंथ गा दीठ, मुहमद एहि निचित पथ ।।५।।—शोभनाथ हस्तलेख

२. जोगि ओदासी दास, पेम-पियाला चाखि कै ।
गिरही माँझ ओदास, साँचा मानुस बनि रहा ।।१५।।
—चद्रबली और शोभनाथ हस्तलेख

३. भेख तपा कै साजु, जो पियारि को तू चहै ।
हिया क दरपन माजु, औ तहिँ एकै होइ रहु ।।१०४।।—शोभनाथ हस्तलेख

४. अपने कौतुक लागि, कीन्हेसि सब जग निरमरा ।
देखि लेहु सो जागि, तहि साईं कै खेल सब ।।११७।।
—चंद्रबली, शोभनाथ हस्तलेख

५. भौर कंत हौं तोर, तूं दीपक वाही अहै ।
होइ फुलवारि अँजोर, केतकि बन बेझहु हिया ।।११८।।
—चंद्रबली, शोभनाथ हस्तलेख

६. अति अपार बिसतार, तीनहुँ लोक देखाइ तहँ ।
सोरह करौं पसार, कन्ह गोसाईं होइ रहा ।।३४२।।
—चंद्रबली, शोभनाथ हस्तलेख

७. जौ न होत अवतार, कहाँ करम, तप, भोग ।
झूठा सब समंसार, साईं केरा खेल महँ ।।३४४।। —चन्द्रबली हस्तलेख

ये सोरठे जायसी-कृत हैं या प्रक्षेप ? यहाँ इस पर विचार नहीं करना है । हमें इतना ही कहना है कि यह जायसी की शैली के प्रतिकूल है । पद्मावत आदि किसी भी ग्रन्थ में कड़वकों के घत्ता रूप में केवल दोहे प्रयुक्त हैं, दोहा-सोरठा दोनो नही । केवल सात कड़वको में सोरठों का होना सन्देह अवश्य उत्पन्न करता है । इन्हें मुख्य ग्रन्थ का अंश न बनाकर पाद-टिप्पणी में देना चाहिए था ।

५ छन्द-क्रम

डॉ० पाठक ने प्रत्येक कड़वक के अन्त में उन हस्तलेखों का उल्लेख कर दिया है जिसमें वे पाये जाते हैं। हस्तलेखों के संकेत ये हैं—

(१) प्र-च. = चन्द्रबली सिंह द्वारा प्राप्त प्रति
(२) प्र-स. = शोभनाथ द्वारा प्राप्त प्रति
(४) प्र-ज. = जर्मनी से प्राप्त स्प्रेंगर वाली प्रति

डॉ० गुप्त ने केवल स्प्रेंगर प्रति का उपयोग किया है। उन्होंने प्रत्येक पन्ने पर पृष्ठसंख्या दे दी है। उन्होंने बाएँ पृष्ठ को 'क' और दाएँ पृष्ठ को 'ख' कहा है। हस्तलेख पृष्ठ ६-क से प्रारम्भ होकर १३२-क तक चलता है।

स्प्रेंगर हस्तलेख के पन्ने उलट-पलट गए हैं। इसका पता दोनों संपादकों को है। डॉ० गुप्त ने छन्द-क्रम को ठीक कर देने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उनके द्वारा इन १२४ पन्नों को नौ भागों में बाँटकर छन्द-क्रम ठीक कर दिया गया है। यह विभाजन यों है—

	पन्ना	कड़वक
(१)	६ क से २७ ख (१६ पन्ना)	१—५८-४
(२)	२८ क से ३६ ख (२ पन्ना)	५८-४—६४-२
(३)	२८ क से ३७ ख (१० पन्ना)	६४-३—६३-४
(४)	८२ क से १०५ ख (२४ पन्ना)	६३-५—१६३-६
(५)	६६ क से ७६ ख (११ पन्ना)	१६३-६—१६५-७
(६)	४० क से ६८ ख (२६ पन्ना)	१६५-८—२८०-७
(७)	१०६ क—११७ ख (१२ पन्ना)	२८०-८—३१५-६
(८)	८० क—८१ ख (२ पन्ना)	३१५-७—३२१-४
(६)	११८ क—१३२ क (१५ पन्ना)	३२१-५—३६२

पाठक-संस्करण में भी यह क्रम ठीक करने का किंचित् प्रयास हुआ है, पर सफलता नहीं मिली है।

	गुप्त-संस्करण का छन्द-क्रम	पाठक-संस्करण का छन्द-क्रम
(१)	छन्द १—६३	छन्द १—६५
(२)	छन्द ६४—१६३	छन्द २१४—२८३
(३)	छन्द १६४—१६५	छन्द १८२—२१३
(४)	छन्द १६६—२०४	छन्द ६६—१०४
(५)	छन्द २०५	छन्द १०६
(६)	छन्द २०६	छन्द १०५
(७)	छन्द २०७—२७६	छन्द १०७—१८१
(८)	छन्द २८०	छन्द २८४
(६)	छन्द २८१—२६३	छन्द २८५—३६६

पाठक संस्करण का छन्द अक्रमता का अन्दाज लगाने के लिए एक उदाहरण लें। पाठ संस्करण में कड़वक ८५ में गोपियों के यशोदा से उलाहना देने के उपरान्त कृष्ण अपनी सफाई देते हुए दिखाए गए हैं। पर कडवक ८६ में वे चंद्रावली को देखकर व्याकुल देखे जाते हैं—

(८५)

देखा हरि विवाद तो लागा। लीन्ह काढ़ि माथे कर पागा ॥
रोवत पास नन्द के आवा। देखहु हौ यह बहुत खिझावा ॥
काहूँ दौरि धरी मोरी जोनी। काहू खिंचत देहि धरि छोनी ॥
काहूँ आनि मटकि सिर देही। केउ बरबसहि लाइ कंठ लेहीं ॥८५॥

पाठक जी के यहाँ यह कड़वक आधा-अधूरा रह गया है। गुप्त जी के यहाँ इसके आगे का अंश यह है—

केउ अधरहिं पै अधर मिलावहिं। केउ मथुरा कहँ संग चलावहिं ॥
केउ जगतन केउ धरहिं नगोटी। छाँड़हि नहिं कितहूँ भुइँ लोटी ॥
केउ तिन्ह लाइँ रही बतैनां। जीउ विमोह गा आउ न बैनां ॥
हँस हँस लगी रोवावइ, घाल आपु महँ बाद।
पुनि अपुनहि उठि धाई, एती करे विवाद ॥८३॥

गुप्त जी के यहाँ यह कड़वक ८३ है। प्रथम चार अर्द्धालियाँ पन्ना ६७-ख की हैं। शेष पंक्तियाँ पन्ना ८२-क की हैं। पाठक जी ने २३वें पन्ने के बाद कड़वक आधे पर ही समाप्त कर दिया है। गुप्त जी ने पन्ना ८२-क लाकर इसे पूरा किया है।

पाठक-संस्करण का अगला कड़वक ८६ चंद्रावली को देखकर कृष्ण की मनोव्यथा प्रकट करता है। गुप्त-संस्करण में इसकी संख्या १८६ है।

(८६)

(जेत) जग फूल तँबोल चढ़ावा। चाँद हटा चित कछु न भावा ॥
(बिख) जनु फूल पान जनु काँटे। चंदन अंग जनु रेंगहिं चाँटे ॥
(कछु) न भाइ सो कीन्ह ओदासी। कैसेहुँ जागै आस निरासी ॥
(अंग) छटपटै हिरदै दाहू। केन पीर कहि जाइ न काहू ॥
(परगट) भएँ नेह न होई। परगट होइ तो मारै सोई ॥
(परगट) प्रीति है कठिन दुहेला। सो खिलार जो सिर सेउँ खेला ॥
(पेम) पंथ साँकर अति गढ़ा। एकै चलै दोहूरैं कहँ चढ़ा ॥
गुपुत-दगध अस ताकर, धुवाँ न परगट होइ।
सँवर सँवर मन झूरै, भेद न जानै कोइ ॥

अक्रमता का यही एक उदाहरण पर्याप्त है। इससे तो कथा का क्रम ही चौपट हो जाता है। आधी कथा यहाँ, आधी वहाँ। उदाहरण के लिए कथा-दृष्टि से एक प्रकरण लें—

चन्द्रावली प्रेमकथा—

(क) गुप्त संस्करण— छन्द १८७—२३७, कुल ५१ छंद

(ख) पाठक संस्करण—

(क)	छन्द २०५—२१३	= ९ छन्द
(ख)	छन्द ८६—१०४	= ९ छन्द
(ग)	छन्द १०६	= १ छन्द
(घ)	छन्द १०५	= १ छन्द
(ङ)	छन्द १०७—१३७	= ३१ छन्द
	कुल	५१ छन्द

पाठक-संस्करण की यह बहुत बड़ी दुर्बलता है। इस छन्द-अक्रमता से कथा इतनी अधिक अव्यवस्थित हो उठी है कि पाठक उलझन में पड़ जाता है और समझ नहीं पाता। कथा-प्रवाह बन ही नहीं पाता। चन्द्रावली प्रेमकथा के ५१ छन्द पाठक जी के यहाँ दूर पड़ गए, पाँच टुकड़ों मे बँट गए हैं।

पाठक-संस्करण में पंक्तियाँ भी छूट गई हैं। जैसे पाठक-संस्करण में कड़वक ६२ में कुल ६ ही अर्द्धालियाँ हैं, गुप्त संस्करण में सातों अर्द्धालियाँ हैं। यह चौथी अर्द्धाली पाठक जी से न जाने कैसे छूट गई है—

सिंह परतंख्या जाइ न चिता। मूरत सोइ सपनें दिखंता॥

६. तुलनात्मक पाठ

फारसी लिपि में हिंदी कविता प्रतिलिपित कर लेना कठिन नहीं है, पर उसे ठीक-ठीक पढ लेना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। एक ही लेख को भिन्न-भिन्न पंडित भिन्न-भिन्न ढंग से पढते हैं और मूल पाठ तक पहुँच पाना उनके लिए दुष्कर बना रह जाता है। उदाहरण के लिए कन्हावत का एक कड़वक यहाँ लिया जा रहा है—

पाठक-पाठ

चार मीत विधनै बड़ कीन्हें। नबी रसूल के गोहनें दीन्हे॥
पहिलें अबाबकर सत बारू। एक मंत्री औ वीर अपारू॥
दोसरें उमर पोरुख हुत आदी। जिता न कोइ बादि के वादी॥
तिसरें उसमा पंडित सयानी। पढ़ि पुरान जिन्ह अरथ बखानी॥
चौथे अली सिंघ बरियारू। खरग देखि कांपे संसारू॥
जो रसूल विधि आयसु दीन्हा। सोई वचन जेहि मिलि कीन्हा॥
और जितहिं मिलि एक मतमता। मारि सींह आना दोइ [?]
चार खूंट कहुँ दिखि रहा, [मासू] रहा बड़ कीन्ह।
जगत न डोले कहुँ जिता, कछु अरभान्ह (?)॥ ३॥

गुप्त-पाठ

चार मीत बिधनै बड़ कीन्हे। ते रसूल के गोहीं दीन्हे॥
पहिले अबाबकर सत बारू। एक मंत्री औ बीर अपारू॥
दूसरें उमर पुरुख हुत आदी। जीता न कोई बाद के बादी॥
तिसरें उसमान पंडित सयानें। पढ़ि पुरान जिन्हि अरथ बखानें॥
चौथे अली सिंघ बरियारू। खरग देखि कांपै संसारू॥
जो रसूल विधि आयसु दीन्हा। सोइ वचन चहुहि मिलि कीन्हा॥
औ चहुँहि मिलि एक मत मता। मार सबहि आनाँ दोइ तता॥
चार खूंट चहुँ दिसि रहा, [?] रह बड़ कीन्ह।
जगत न डोले कहु, जिता कुछ अरीन्ह॥

आगे एक-एक पंक्ति की तुलना प्रस्तुत है। प्रथम पाठ पाठक जी का है, दूसरा गुप्त जी का।

(१) गोहनें·············गोही।

ठीक पाठ गोहनें ही है। अर्थ है, संग साथ। यह इस अर्थ में हमारे यहाँ ज्ञानपुर तहसील में आज भी व्यवहृत है

(२) (क) पोरुख पुरुख।

'पुरुख' 'पोरुख' से अच्छा पाठ है। 'पुरुख' संस्कृत का 'पुरुष' ही है।

(ख) जिता—जीता

कोइ—कोई

बादि के—बाद के

ये सामान्य अन्तर हैं।

(४) क—उसमां—उसमान।

पाठक जी ने छंद-प्रवाह के अनुसार 'उसमां' पाठ ठीक ही रखा है।

ख—सयानी—सयानें

बखानी—बखानें

गुप्त-पाठ 'सयाने' और 'बखानें' व्याकरण-सम्मत हैं और ठीक हैं। 'सयानी' और 'बखानी का संदर्भ पुल्लिङ्ग 'पंडित' से है। पाठक जी ने न जाने कैसे ये अशुद्ध पाठ स्वीकार कर लिए।

(६) जेहि—चहुहिं।

'चहुहिं' ठीक है। मुहम्मद साहब ने जो कुछ आज्ञा दी, उसका पालन चारों मित्रों ने मिलकर किया।

(७) क—जिनहि—चहुहिं।

गुप्त-पाठ ठीक है। चहुहिं=चारों मित्रो ने।

ख—दूसरा चरण दोनों में भ्रष्ट प्रतीत होता है। गुप्त जी ने इसे अशुद्ध समझकर मोटे टाइप में छापा भी है। पाठक जी ने भी अंतिम शब्द के स्थान पर [?] लिख दिया है।

(८) (मासू ?)—[...]

जिसको पाठक जी ने [मासू ?] पढ़ा है, गुप्त जी ने उसे अपाठ्य कहकर छोड़ दिया है। पाठक जी का 'मासू ?' पाठ भी अपाठ्य जैसा ही है और निरर्थक है।

(६) क—कहु—कहु।

सामान्य पाठभेद है

ख—अरभीन्ह—अरीन्ह

दोनों अवपाठ हैं।

इस एक कड़वक के तुलनात्मक अध्ययन से निम्नांकित निष्कर्ष निकले—

(क) कहीं पाठक जी का पाठ ठीक है, जैसे—गोहने।

(ख) कहीं गुप्त जी का पाठ ठीक है, जैसे—सयानें, बखानें, चहुहिं।

(ग) कहीं-कहीं दोनों के पाठ अशुद्ध हैं, जैसे 'अरभीन्ह ?' और 'अरीन्ह'।

७. भ्रष्ट पाठ के एक-एक नमूने

मैंने स्प्रेंगर पाठ की फोटो स्टेट प्रति देखी है। लिखावट ख़ुशख़त है, पर ख़ुशख़त होने से क्या हुआ ? जहाँ न ज़ेर, ज़बर, पेश का पता हो, न बिंदुओं की संख्या का विचार हो, वहाँ तो बहुत कुछ अनुमान का ही सहारा लेना है। इस पर्सियन-सागर में गोता लगाने से मोती भी मिल सकता है, घोंघा भी। कभी-कभी कुछ भी न मिलकर कीच ही मिल सकता है। जिस प्रकार हिंदी के हस्तलेख भ्रष्ट हो सकते हैं, उसी प्रकार स्प्रेंगर का हस्तलेख भी भ्रष्ट हो सकता है नहीं, भ्रष्ट है। एक तो पहले से भ्रष्ट पाठ, फिर फारसी लिपि। दोनों ऐसे है जैसे कोढ़ में खाज। इस कोढ़ की खाज का एक-एक उदाहरण लें—

जायसी अपने नगर का वर्णन करते हैं। गुप्त जी का पाठ है—

कहौं नगर बिंद (रा) बन ठाऊँ। सदा सोहावन जानस नाऊँ॥
सतजुग हुतो धरम अस्थानूँ। तहिया कहत नगर ऊ नानूँ॥

पाठक-पाठ ठीक है—

कहौं नगर बड़ आपुन ठाऊँ। सदा सोहावन जायस नाऊँ॥
सतजुग हुतौ धरम अस्थानूँ। तहिया कहत नगर उदियानू॥

जायस का पुराना नाम, सतयुग के समय का नाम 'उदयान' था। पाठक जी के अनुसार कड़वक ८-१३ में जायस नगर का वर्णन है। गुप्त जी के अनुसार वृन्दावन का। कथारम्भ होने से पहले की विषय-सूची यों है—

विषय	गुप्त-संस्करण छंद	पाठक संस्करण छंद
१. ईश्वर स्तुति	२	१
२. मुहम्मद स्तुति (नात)	३	२
३. चार मीत	४	३
४. शाहेवक्त	५	४
५. मीर	६	५
६. गुरु	७	६
७. जायस नगर वर्णन	८—१३	७—१२
८. रचनाकाल	१४	१३
९. भागवत-वर्णित प्रेमकथा	×	१४
१०. निज दोष वर्णन	१४—१५	१५
११. कथारम्भ	१६ से	१६ से

प्रकरण-विचार से छन्द ८-१३ (७-१२) में जायस नगर का ही वर्णन है; वृन्दावन का नही। इस पर गुप्त जी का ध्यान गया है। इसीलिये वे टिप्पणी में लिखते हैं —

प्रथम पंक्ति का—

कहौं नगर बड़ आपुन ठाऊँ। सदा सोहावन जायस नाऊँ॥

पाठ भी हो सकता है। वह 'आखिरी कलाम' की पंक्ति—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाँव आदि उदियानू॥

का स्मरण कराता हो। किन्तु यह इस कारण संभव नहीं है कि—

(१) पूर्व काल मे जायस नगर के किसी प्रकार के धार्मिक स्थल होने की कोई सूचना किसी सूत्र से प्राप्त नही होती।

(२) जायस का क्षेत्र समतल है, वहाँ किसी प्रकार का कोई पहाड़ नही है जिनका उल्लेख पंक्ति ७ में हुआ है।

(३) कड़वक ६ में देहली के उसके निकट होने का संकेत है जो वृन्दावन के प्रसंग मे ही सार्थक हो सकता है।

गुप्त जी की सातवीं अर्द्धाली का पाठ है—

ठाँव ठाँव पर परी पहारी।

पाठक-पाठ है—

ठाउँ ठाउँ पर बन बहु बारी।

गुप्त जी की एक शंका का निराकरण इस पाठ से हो जाता है, 'पहारी' 'बन बारी' में बदल जाती है।

नव कडवक मे देहली वाला गुप्त पाठ है

देखी नगर सुहावन, देहली हुत जस पास

जस जस नियरै जाइ, जनो चढ़ै कैलास ॥८॥

पाठक पाठ से—

देखें नगर सुहावन, ढलै पुहुप जस बास।

जस जस नियरे जाइ, जानउँ चढ़ै कैलास ॥८॥

'देहली' भी 'ढलै' में बदल गई और इसका भी संदेह-निवारण हो गया।

अब पाठक-पाठ का भी एक भ्रष्ट नमूना देखें। जब गोपियों ने यशोदा के पास जाकर कृष्ण की शरारतों का उलाहना दिया, तब कृष्ण ने रोते हुए अपने बचाव में कहा—

············। देखहु हौ यह बहुत खिझाव।

काहू दौरि धरी मोरि जोनी। काहु खिँचत देहि धरि छोनी ॥८५॥

'जोनी' पर पाठक जी की टिप्पणी है—

जोनी—योनि>जोनी = जननेन्द्रिय।

पाठक जी की कृपा से पुरुषो को भी 'जोनी' या जननेन्द्रिय होने लगी है? क्या कहा जाय इस पाठ को। गुप्त जी के यहाँ यह पाठ है—

काहू दौरि धरी मोरी चूनो। काहू खैंचत लीन्हि धरि क्षूनी ॥८३॥

कहाँ 'जोनी', कहाँ 'चूनी'। चूनी = चोटी, शिखा। कृष्ण कह रहे हैं कि किसी गोपी ने मेरी चोटी पकड़ कर खींच ली—यह कहने-सुनने और समझने की बात है। 'जोनी' पकड़ने की बात न कहने की है, न सुनने-समझने की, अतः यह पकड़ में नहीं आती।

८. निष्कर्ष : उपसंहार

दोनों संस्करणों के इस तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि गुप्त जी का संस्करण क्या पाठ, क्या छन्दक्रम, क्या भूमिका, क्या मूल्य, क्या पृष्ठ-संख्या, क्या साज-सज्जा सभी दृष्टियों से श्रेष्ठतर है। अधिक विस्तार अनावश्यक है।

कन्हावत के इन दो संस्करणों को देखकर मेरे मन में दो बातें आई हैं। एक तो यह कि समर्थ से समर्थ व्यक्ति भी फारसी लिपि में प्रतिलिपित हिन्दी या संस्कृत काव्य के पुनर्हिन्दी लिप्यंतरण मे पूर्ण समर्थ नहीं हो सकता। अतः ऐसे कार्य इस क्षेत्र में काम करने वालों के द्वारा मिलाकर किये जाने चाहिए। न जाने किसकी लालबुझक्कड़ई सार्थक सिद्ध हो जाय। इन दोनों पाठों को सामने रखकर एक तीसरा पाठ तैयार किया जा सकता है जो सर्वथा शुद्ध तो नहीं हो सकता, पर इन पाठों की अपेक्षा अच्छा हो ही सकता है।

दूसरी बात विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में कहनी है। विश्वविद्यालयों में सूफी प्रेमाख्यानों के प्रतिनिधिस्वरूप जायसी कृत 'पद्मावत' प्रारम्भ से ही पाठ्यक्रम में निर्धारित होता आ रहा है। इसे बदलकर कोई दूसरा ग्रन्थ पाठ्यक्रम में आना चाहिए। चाहे वह दाऊद का 'चन्दायन' हो, चाहे जायसी का 'कन्हावत'। एक बार जब इनका पठन-पाठन प्रारम्भ हो जायगा, तब इनका शुद्ध पाठ भी देर-सबेर प्रस्तुत किया जा सकेगा। पर यह श्रम कौन करे? यहाँ तो पका-पकाया माल चाहिए। फिर लीक भी कैसे छोड़ी जाय?

सुधर्म, वाराणसी

पारसनाथ पांडेय 'गोवर्द्धन' और उनका रामकाव्य

□

डॉ० रहमत उल्लाह

आजमगढ़ जनपद की प्राचीन साहित्यिक परम्परा एवं हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास में यहाँ के रचनाकारों के योगदान से समस्त हिन्दी-जगत् भली-भाँति परिचित है। हिन्दी प्रदेश के पूर्वाञ्चल में साहित्यिक वातावरण बनाने एवं काव्यमय गतिविधियों में सक्रियता लाने के लिए यहाँ निरन्तर प्रयास होते रहे हैं। इसी क्रम में विश्व-विश्रुत रामकथा की लोकप्रियता एवं क्रमबद्धता स्थापित रखने के लिए अनेक कवियों ने रामकाव्यों की रचना भी की है। इस प्रकार के रामकाव्यों में पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'वैदेही वनवास', पं० रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिन्तामणि' और 'रामचरित चन्द्रिका', श्री दिवाकर वर्मा का 'पतितपावन', सन्तप्रसाद सिंह का 'रामदूत', धर्मदेव पांडेय का 'राम वनगमन', ईशदत्त शास्त्री का 'वनगमन', फूलचन्द त्रिपाठी का 'श्रीराम', पं० श्यामनारायण पांडेय का 'तुमुल' और 'जय हनुमान' का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है।

इन परम्परावादी इतिवृत्तात्मक काव्यों के अतिरिक्त नयी विधा के कवियों की भी दृष्टि रामकथा पर गई है। श्री पारसनाथ पांडेय 'गोवर्द्धन' ने अपनी नयी कविता के माध्यम से रामकथा के पात्रों और प्रमुख घटनाओं को नया रंग देकर प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस प्रसिद्ध कथानक को अपनाकर तीन काव्यों की रचना की है जिनके नाम 'राम की अन्तर्वेदना', 'दंशित आस्थाएँ', 'लंकेश' हैं। आधुनिक परिवेश में आज का कवि पात्रों का चरित्र-विश्लेषण करने में मनोविज्ञान का सहारा लेने लगा है। विशिष्ट पात्रों का मनोविश्लेषण करके नया कवि उसके सर्वथा नये रूप को प्रस्तुत कर रहा है। अभी तक नाटकीय चरित्रों को ही विविध विरोधी परिस्थितियों में डालकर उसके मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का उद्घाटन होता रहा है। आज का कवि वर्तमान प्रदूषण, भ्रष्टाचार, गिरावट, टूटन, कुढ़न, मिलावट आदि के मनोवैज्ञानिक प्रभाव और प्रतिच्छाया को पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों में प्रतिबिम्बित कर रहा है। अब वह किसी विशिष्ट पात्र के प्रति परम्परावादी या रूढ़िवादी लगाव प्रदर्शित नहीं करना चाहता। वह अपने को सर्वथा उदासीन रखकर पात्रों के मनोविश्लेषण का प्रयास कर रहा है। आज वह किसी को मात्र देवता मानकर उसके चारित्रिक गुणों को सरमाथे चढ़ाने के लिए तैयार नहीं दिखाई पड़ता। मानवीय दुर्बलताओं और सामान्य त्रुटियों का उद्घाटन किए बिना उसको सन्तोष नहीं मिल रहा है। पात्रों को चारित्रिक कसौटी पर कसना अनिवार्य-सा हो गया है। इस सामान्य सिद्धान्त को लेकर गोवर्द्धन जी ने भी अपने पात्रों को परखा है। अतः इस पृष्ठभूमि को लेकर ही उनके काव्य की परख

करनी होगी । इसके पहले कि हम उनके काव्यों को देखें उनके संबन्ध में भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए ।

आचार्य चन्द्रबली पांडेय का नाम समस्त हिन्दी-जगत् में विख्यात है जिनकी पैतृक छत्रछाया में ही गोवर्द्धन जी का जन्म हुआ था। राजनीति को जीवन का ताना-बाना बनाने वाले इस प्रकृत कवि और रचनाकार की क्षमता साहित्य की ओर विशेष रम गई । इसीलिए अल्प आयु में ही कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता बन गये । मौलिक लेखन एवं प्रकाशन इनका जीवन-व्यापार बन गया । कृषिकार्यों की व्यस्तता से कुछ समय निकालकर कई ग्रन्थ लिख डाला । काव्यों के अतिरिक्त 'चार एकांकी', 'खंडित खम्भों का सेतु', उपन्यास, शुभःशेष नाटक प्रकाश में आये । 'एक और अस्वीकार' उपन्यास प्रकाशनाधीन है । तीन काव्य रामकथा से सम्बन्धित हैं । इनके आधार पर गोवर्द्धन जी को रामकाव्य का प्रमुख कवि कहा जा सकता है । नयी विधा में बिल्कुल नये अन्दाज में रामकथा के विविध पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का जितना निकट और गंभीरता से अध्ययन और अवलोकन गोवर्द्धन जी ने किया है, शायद ही कोई कर सका हो । प्रारम्भ से ही कवि के मन में बढ़ते हुए मानसिक ज्वार के कारण ही इन काव्यों की रचना की गई है । परम्परावादी दृष्टिकोण से कवि का नवयुवक एवं जिज्ञासु मन विशेष संतुष्ट नहीं हुआ । इसी मनःस्थिति के संतोष के लिए कवि ने इन काव्यों की रचना कर डाली । 'राम की अन्तर्वेदना' में राम का अन्तर्द्वन्द्व, 'लंकेश' में एकाकी रावण का मानसिक उतार-चढ़ाव, दंशित अवस्थाओं मे सामान्य मानवीय अन्तर्द्वन्द्वों और संघर्षों का दिग्दर्शन कराया गया है । इन तीनों काव्यों के संबन्ध में कुछ विस्तार से विचार करना उपयोगी होगा ।

राम की अन्तर्वेदना

यह गोवर्द्धन जी की प्रथम रचना है जिसका प्रकाशन सन् १९६७ में हुआ था । होनहार कवि और उसकी दूरदर्शिता एवं सूझबूझ से प्रभावित होकर ही महाकवि पंत ने इसकी भूमिका लिख डाली । उन्होंने इसको अपने ढंग की निराली एवं सुन्दर रचना मान लिया । कवि की नवोदित काव्य-प्रतिभा का सहज दिग्दर्शन इस काव्यकृति में हो जाता है । काव्य के कथा-नायक राम पूर्ण मानव हैं, उनमें मानवीय दुर्बलताएँ हैं । इसीलिए उनको अपने किए पर पश्चात्ताप होता है । सीता निष्कासन को वे अपनी भूल मानते है । उत्तर रामचरित को कवि ने अपना प्रेरणा-स्रोत मानकर राम के चरित्र-चित्रण का नवीन मार्ग अपनाया है । इसीलिए राम की मानवीय दुर्बलताओं को प्रस्तुत करने में कवि को रंचमात्र भी संकोच नहीं होता । यह खण्ड-काव्य राम के चरित्र का मौलिक सोपान है । भाव, भाषा, शैली, कवि-कल्पना, सभी दृष्टियों से काव्य की सफलता में कोई कमी नहीं है । महाकवि पंत ने भी काव्य के भाषा-लालित्य, कवि-कौशल, शिल्प-चातुर्य की प्रशंसा की है । ऐसे होनहार कवि की यह प्रारम्भिक रचना उसी प्रकार है, जैसे "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" । चार 'प्रहर' में समाप्त होने वाले इस खण्ड-काव्य में रामकथा के अन्तिम चरण के सभी करुण आयाम अपना करुण एवं स्थायी प्रभाव छोड़कर समाप्त हो जाते हैं । राम अपनी दुर्बलताओं पर पश्चात्ताप करते हैं । इसमें किसी प्रकार का पाप नहीं है । भाई के वचनों का उत्तर देते हुए राम कहते हैं—

सत्य कह रहे बन्धु किन्तु, आत्मनिर्देशन पाप नहीं है । इसी प्रकार राम की मृत्यु के संबन्ध में कवि की मौलिक उद्भावना भी विचारणीय है जिसमें कवि कहता है—

परमेश्वर का उर धर ध्यान, काल आया संमुख पहचान ।
[illegible] को तैयार हुए, प्राण योग बल त्याग दिए ।।

आधुनिक वैज्ञानिक युग मे योगबल से प्राण त्याग की बात करना लेखक की अपरिपक्व बुद्धि का प्रतीक ही कहा जायेगा। विद्यार्थी जीवन की रचना होने के कारण यह किसी सीमा तक क्षम्य है।

इस प्रकार काव्य में राम को महामानव के रूप में प्रस्तुत करके उनकी सामान्य दुर्बलताओं का भौतिक आधार प्रस्तुत करते हुए ही कवि संतुष्ट होता है। कवि कहता है—

उठ गया धरा का आज महामानव।
जैसा कि न कभी हुआ है, न होगा, सचमुच धरती का रत्नदीप, 'राघव'।

दंशित आस्थाएँ

यह कवि का रामकथा से संबन्धित काव्य-नाटक है। इसमें कथा की पौराणिकता की रक्षा करते हुए कवि ने नवीन तर्कों एवं तथ्यों के आधार पर काव्य का स्वरूप निर्मित किया है। इसमें मानवीय अनुभूतियां मुखरित हैं जिसमें अतीत, वर्तमान, भविष्य को एकसाथ चित्रित किया गया है। प्राचीन भारत की पौराणिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का निर्वाह करते हुए इस अनुपम काव्यकृति की रचना की गई है। वर्तमान सामाजिक परिपेक्ष्य में ही रामकथा के पात्रो को निहारने का प्रयास किया गया है। इसके द्वारा हमारा वर्तमान ठीक हो सकता है। भविष्य के लिए संजीवनी मिल सकती है।

काव्य में युद्धनीति और दर्शन की व्याख्या भी सर्वथा नये ढंग से की गई है। सामन्त-वादी सत्ता की स्थापना करने के लिए यज्ञ, अनुष्ठान, श्रुति, गो, ब्राह्मण की मर्यादा को हथियार स्वीकार किया जाता रहा है। जनमानस से लाभ उठाने का प्रयास भी किया गया है। इन जनवादी मूल्यों की स्थापना इस काव्य में की गई है। काव्य का नायक अप्रतिम योद्धा होते हुए भी देवताओं, ऋषियों के संकेतों पर चलता है। राम स्वयं कहते हैं—

मैं कौन हूँ / मैं क्या हूँ / क्या मैं कुछ हूँ भी औरों की इच्छाओं के परे / देवों की, ऋषियों की इच्छाओं पर परिचालित / अयोध्या से लंका तक / सारे विनाशों का कारण हूँ एकाकी / यहाँ से वहाँ तक कन्दुक सा लुढ़काया जाता हुआ / मात्र एक अश्व हूँ जिसकी वल्गा है अन्यों के हाथ।

राम ही नहीं, लंकेश रावण भी सांस्कृतिक मूल्यों का संवेदनशील संरक्षक है। जनतन्त्र का नियामक और विधाता है। वह कहता है—

मैंने जो भी सुना, दस के कानों से / मैंने जो भी देखा, दस की आँखों से / दस के निर्णयों से बँधा रहा सदैव मेरा निर्णय। मैंने जो भी किया दस के हाथों से।

रावण का यह कथन तर्कों और पौराणिक तथ्यों पर आधारित है। स्वत्व और सुरक्षा के लिए युद्ध की अनिवार्यता पूर्ण रूप से स्वीकार की गई है। यह काव्य-नाटक छह अंकों में विभाजित है। इसका सरलता से मंचन भी किया जा सकता है। इस प्रकार इस काव्य-नाटक के द्वारा राम-कथा को नये रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

लंकेश

रामकथा पर आधारित कवि का अप्रकाशित प्रबंधकाव्य है। इसमें विश्वविजयी रावण की मानवीय दुर्बलताओं का स्वाभाविक रूप में दिग्दर्शन कराया गया है। समस्त काव्य रावण के आगत-विगत की सोच-चिन्ता पर आधारित है। कवि रावण की अन्तर्व्यथा का वर्णन कर रहा है—

पूर्वापर की व्यथा बीच दह रहा दशानन / राजभवन के शीर्ष मार्ग पर खड़ा सोच रहा है कूट काल का / कठिन मौन अगोचर असंभावित को लखता / आगत विगत सोचता / दहता।

इसी प्रकार के अन्य मनोरम दृश्य काव्य में चित्रांकित किए गये हैं। रावण की मनः-स्थिति पंक्ति-पंक्ति में मूर्तित है—सूर्य अधोमुख सूर्य।

अस्ताचल की ओर दरन्तता रावण की। अति जर्जर विषण्ण भास्वरता कोलाहल चीत्कार, करुण, संलाप / अमर अमर घूर्णित निःस्वन।

ज्योंकि हिमशिलाओं की बहती नीरवता,
एकान्तिक चीत्कार कर रही
वैसा ही
कुछ वैसा हा हा कार
घोर अति घोर चतुर्दिक्
मौन व्रता भू का,
रावण के मन का।

इस प्रकार कवि के तीनों रामकाव्य इस परम्परा को बड़े ही सशक्त रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रवाहित कर रहे हैं। आजमगढ़ की नयी काव्य-शैली में यह रामकथा अब भी अपनी सार्वकालिकता एवं सार्वदेशिकता की सच्ची कहानी प्रस्तुत कर रही है। कथानक में वही जीवन्तता बनी हुई है। आधुनिक भौतिकवादी वैज्ञानिक अभिरुचि के लिए भी रामकाव्य की वही गरिमा, नवीनता प्रस्तुत करने मे कवि गोवर्द्धन जी पूर्ण रूप से सफल हैं।

●

हिन्दी विभाग
शिबली नेशनल महाविद्यालय
आजमगढ़ (उ० प्र०)

बिहारी के वागितर वाक्

डॉ० युगेश्वर

कहते हैं मनुष्य के पास भाषा बहुत बाद में आई। पहले वह मुख्यतः संकेतों या इशारो से काम लेता था। जीभ अभिव्यक्ति का साधन है। जिसके पास जीभ नहीं है, वह बोल नहीं सकता। अधिकतर अभिव्यक्तियाँ जीभ के द्वारा होती हैं। कुछ अभिव्यक्तियाँ दूसरी इंद्रियां भी करती हैं। जीभ और भाषा की मुख्यता के बावजूद मनुष्य ने दूसरी इंद्रियों का इस्तेमाल नहीं छोड़ा। ताली बजाना, उँगली दिखाना, हाथ मारना, हाथ जोड़ना, पैर छूना, अँगूठा दिखाना, लात दिखाना, मूँछ ऐंठना, जीभ दिखाना, पेट पर हाथ रखना आदि अभिव्यक्ति के साधन हैं। स्वैरिणी स्त्री के बारे में प्रसिद्ध कहावत है—'हँस के चले, ठुमुक के बोले, राह-बाट में आँचर टोवे, अब क्या छिनरी ढोल बजावे।' इसी प्रकार राम ने लक्ष्मण को इशारे के द्वारा शूर्पणखा के नाक-कान काटने का आदेश दिया था। 'बैद नाम कहि अंगुरिन खंडि अकास'। इसमें भाषा और संकेत का अच्छा मेल है। ऐसी भाषा भी स्वयं में संकेत है। इस प्रकार अभिव्यक्ति के अनेक साधन हैं। सवारियों के पोंपों, भोंभों तथा लाल-हरी बत्तियाँ या झंडे भी अभिव्यक्ति के साधन हैं।

रीतिकालीन कवि बिहारी ने शरीर के हर अंगों से भावाभिव्यक्ति कराई है। इसमें नायक और नायिका दोनों की सुविधा थी। बोलने की अपेक्षा संकेत अधिक काम करता है। अधिक प्रभाव डालता है। गुरुजनों और चुगलखोरों का भय है। लोग नायिका और नायक के गुप्त प्रेम को जान न जायँ। उन्हें भरी भीड़ में बातें करनी हैं। बिहारी जीभ की अपेक्षा आँख की अभिव्यक्ति को अधिक प्रामाणिक और सच भी मानते है। मुँह की बातें झूठी हो सकती हैं। आँख की बात कभी झूठी नहीं होती। इसीलिए प्रसिद्धि है आँखें धोखा नही दे सकती। बिहारी कहते हैं कि ईश्वर ने ही आँखों को बातें करने के लिए बनाया है।[1] बिहारी आँखों को बात करने का महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं। यह केवल बिहारी की कल्पना नहीं, प्रत्यक्ष है। हम दुनिया में नित्य देखते हैं। इसीलिए झूठ बोलने वालों की नजरें नीची रहती हैं। नजर नहीं मिलती। नजर फिर जाती है। नजर बदल जाती है। प्रेम के क्षेत्र में तो यह सिद्धान्त है—जीभ से ना और आँखों से हाँ। हृदय की बातें आँखे बोलती हैं, जीभ नहीं। नायिका मुँह से लगातार नही, नहीं, नहीं करती है, किन्तु भौंहों की हँसी के द्वारा हाँ की अभिव्यक्ति करती है।[2] प्रसाद ने तो सीधे भौंहों की भाषा जैसा प्रयोग किया है। बिहारी की नायिका भौहों से हँसती भी है।[3] डाटती भी है। इतना ही नहीं—भौंहो से डाँटती है। मुँह से इन्कार करती है और आँखों से लिपटती है।[4] बिहारी जीभ को तो एकदम ही झूठ मानते हैं। सामान्यतः कान की अपेक्षा आँखे प्रामाणिक मानी जाती हैं। सुने की अपेक्षा देखा अधिक सच है। आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा सामान्यतः इन पाँचों इन्द्रियों में जीभ का मुख्य काम बोलना है। बिहारी आदि कवियों की दृष्टि में आँखें भी बोलती हैं। कभी-कभी त्वचा और नाक भी बोलती हैं। स्पर्श से बहुत-सी बातों की जानकारी हो जाती है। नायक और नायिका दोनों अँधेरी गली में जा रहे थे। गली सँकरी थी। दोनों टकरा गये। स्पर्श के द्वारा एक दूसरे को पहचान गए। बिना बोले स्पर्शजन्य इस पहचान मे बोलकर प्राप्त पहचान से कुछ

अधिक विशिष्ट संवेदना है। बोलकर केवल पहचान होती। स्पर्श में पूर्व अनुभूतियाँ हैं। पूर्व-मिलन प्रसंग है। स्नेह है। शरीर की कोमलता तथा आनन्दानुभव है। प्रसाद ने इसे 'पावन परस' कहा है। प्रसाद के नायक-नायिका का पावन परस सीधा नहीं है। स्पर्श को हवा ले आती है। स्पर्श हवा को होता है। फिर भी कवि सिहर उठता है।[५] बिहारी के नायक-नायिका का स्पर्श हवाई नहीं, सीधा है।[६] यह स्पर्शजन्य अभिव्यक्ति है। न केवल एक-दूसरे की पहचान हुई, बल्कि पूर्व स्मृतियाँ और वर्तमान का आनन्द भी उजागर हो उठे। पहले स्पर्श को पहचाना, तब व्यक्ति की पहिचान हुई। यहाँ भाषा बेकार थी। भाषा स्थूल का परिचय कराती, सूक्ष्म और भावात्मक संवेदना का नहीं। किन्तु बिहारी भाषा से आगे बढ़ते है। व्यक्ति से आगे बढते हैं। व्यक्तित्व से परिचय करते है। व्यक्तित्व के भी बहुत ही कोमल और अछूते अंश को।

शरीर में घ्राण का भी महत्त्व है। मानवेतर प्राणी सूंघ कर बहुत-सी चीजों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु मनुष्य की पहचान प्रायः सूंघ कर नहीं होती। यद्यपि साहित्य में गंधवाली स्त्रियों के वर्णन प्रमाण हैं कि उनकी पहचान गंध से ही होती है। बिहारी की नायिका सोनजुही में जाकर छिप गयी। दोनों का रंग एक था। इसलिए पहचान मुश्किल हो गयी। किन्तु नायिका के शरीर की गंध ने उसका पता बता दिया। नायिका पहचान ली गयी।[७] ऐसे दोहे बिहारी में और भी हैं। कवि नायक-नायिका के रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द सबका वर्णन करता है। सबको सुन्दर मानता है। इन सबकी अलग-अलग इंद्रियाँ है। किन्तु सभी इंद्रियाँ प्रकाशन का काम करती हैं। इस प्रकाशन में कान की कोई भूमिका नहीं है। शायद इसलिए कि कान का शब्द धर्म जीभ द्वारा होता है। जीभ सक्रिय है। किन्तु बिहारी के नायक-नायिका की जीभ कम सक्रिय है। वे दूसरे अंगों से अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे अंगों से समझते हैं। जीभ का सम्बन्ध कान से है। जीभ बोलती है। कान सुनते हैं। बिहारी इनका स्थान दूसरे अंगों को देते हैं। नायिका पुलकित है। उसका शरीर पसीने से भीगा है। यह देख दूसरी नायिका चकित है। वसन्त मे न गर्मी है, न ठंडक, किन्तु इस सम मौसम में भी रोमांच और पसीना दोनों है। रोमांच ठंडक से और पसीना गर्मी से। अद्भुत बात है। दोनों मौसम साथ हैं। इनसे सखी दूसरी सूचना ले रही है। नायिका में सद्यः-संभोग के सारे लक्षण मौजूद हैं।[८] कहीं नायक के सिर पर लगे महावर के निशान पूरी स्थिति की अभिव्यक्ति करते हैं। कहीं नायक के हृदय पर बिना धागे की माला का निशान। नायिका पड़ोस मे उसाँस लेती है। उसाँस से नायक अपने प्रति प्रेम, नायिका की बेबसी, तल्लीनता और कष्ट को समझ जाता है। कुछ स्थितियाँ जीभ से कही नहीं जा सकतीं। न तो कागज पर लिखी जा सकती हैं। इसलिए नायिका दूसरी चीजों का सहारा लेती है। कहीं नायिका की पीठ के रोमांच, कहीं साड़ी की सिकुड़नें, कहीं पूस का पसीना, कहीं मोरों का नाचना, पलकों में लाली, ओठों में अंजन आदि से स्थिति की सूचना मिलती है। कभी-कभी आधा बोलना, पूर्ण बोलने से अधिक प्रभावक होता है। थोरी-थोरी सकुच सों। नायिका संकोच के साथ धीमा और कम बोलती है या स्खलित वचन बोलती है। ये धीमे, थोड़े स्खलित वचन अधिक प्रभाव करते हैं। कुछ स्थितियों में बिना लिखे भी पत्र पढ़ लिए जाते है क्योंकि वियोग में कागज पर लिखते बनता नहीं। कह सकती नहीं। सारा कागज ही भेज देती है। फिर भी नायक नायिका के मन्तव्य और स्थिति को समझ लेता है। टटोलकर पढ़ने वाले अंधे भी जो पढ़ते हैं, वे भी कुछ उभरे अक्षर होते हैं। किन्तु प्रेमान्ध को किसी प्रकार के अक्षर की जरूरत नहीं है। पत्र का निचला भाग जल गया। ऊपर गल गया। शेष भाग में कज्जलयुक्त पानी फैल गया। चिट्ठी लिखी भी नहीं गयी फिर भी पत्र पढ़ लिया गया[९] बिहारी ने हृदय को ही कागज

बनाया। इस कागज पर लिखे अक्षर सामान्यतः नहीं दीखते। किन्तु वियोग की गर्मी पाकर वे उभर आते हैं। प्रसाद की पीड़ा आँसू से आगे नहीं बढ़ती। वह पीड़ा हृदय नहीं मस्तक में है। बिहारी के हृदयाक्षर विरह की गर्मी पाकर दिखाई पड़ने लगे। यद्यपि कवि जो भी कहना चाहता है, स्पष्ट कहता है। उसकी बातें छिप नहीं सकतीं। जैसे अँगिया के बीच कुच उभड़े रहते हैं। ऐसा जान पड़ता है बिहारी जानबूझकर जीभ की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त साधन-प्रकारों का उल्लेख करते हैं। इसमें हृदय कागज है और उस कागज पर टंकण का अपना ढंग है। टाँक आज का टंकण तो नहीं है।

नायक-नायिका के मिलन में बाधा है। दूर-दूर से अपनी बातें पहुँचाते हैं। पत्र नही, संकेत नहीं, प्रतीक से काम लेते हैं। नायिका गुलाब भेजती है। नायक पान भेजता है। दोनों रोमांटिक प्रतीक। प्रिया गुलाबी है। प्रिय पान-सा पतला। मिलकर रंग लाने वाला। दोनों एक दूसरे को समर्पित करते हैं। बिहारी ने सबसे अधिक आँखों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। पुराने कवियों की शिकायत थी आँखों से जीभ का काम नहीं लिया जा सकता। जीभ आँखों का काम नहीं कर सकती। बिहारी के नायक-नायिका की आँखें दोनों अगो का काम करती हैं। देखने वाली आँखों के पास एक अंग है—अक्षिगोलक। किन्तु अभिव्यक्त करने वाली आँखें कई अंगों से बोलती हैं। भौहें बोलती हैं। झुकी आँखें बोलती हैं। अधखुली आँखें बोलती हैं। लाल आँखें बोलती हैं। आँखों में बसी मूर्ति बोलती है। आँखों की चिकनाहट और रुखाई बोलती है। आँखों के द्वारा दूर खड़े दो व्यक्ति समीप का मजा ले रहे हैं। दोनों ही आँखों-आँखों बातों का रस लेते हैं। हँसी करते हैं, विनोद करते हैं।[१०] नायक-नायिका खड़े हैं। खड़े-खड़े बातें हो रही है। बातों के प्रकारों को देखकर आश्चर्य होता है। एकसाथ सात-आठ काम करते है। नायक प्रस्ताव करता है। नायिका इन्कार करती है। इस इन्कार पर नायक और भी आसक्त होता है। नायिका गुस्सा होती है। दोनों मिलते हैं। शायद गुस्सा ठंडा हो गया। मिलकर प्रसन्न होते हैं। शायद रत्यानन्द प्राप्त हो गया। इस आनन्द के बाद नायिका में स्वाभाविक लज्जा का विकास हुआ। इतने कार्य केवल आँखों द्वारा होते रहे। वह भी भरी सभा में। गुरुजनों के बीच में। ये काम वाणी से नहीं हो सकते थे। वाणी के कार्य सीमित हैं। आँखो के कार्य अनेक हैं। बिहारी कहना चाहते हैं कि भावाभिव्यक्ति में वाणी की अपेक्षा आँखे अधिक समर्थ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी ने अभिव्यक्ति का बड़ा ही विस्तृत आयाम अपनाया है। वाक्-सामर्थ्य को बिहारी लाँघ गये है। असमर्थ और अशक्त माध्यम को अभिव्यक्ति के लिये अधिक सामर्थ्य के रूप में चुना है। शायद बिहारी कहना चाहते हैं कि सामान्य ज्ञान की अभि-व्यक्ति ही वाक् द्वारा हो सकती है। विशिष्ट अनुभूतियाँ, नाटकीयता आदि की अभिव्यक्ति के माध्यम दूसरे है। घनानन्द ने मौनमधि पुकार की बात कही है, किन्तु उनके मौन से किसी क्रिया की अभिव्यक्ति नही होती है। बिहारी तो समस्त अभिव्यक्तियों के लिए चुनौती हैं। ध्यान सम्प्रदाय का एक साधु चीन गया था। बादशाह ने पूछा ईश्वर क्या है ? साधु मौन हो गया। बादशाह ने पुनः पूछा। पुनः पूछा। तीन बार पूछा। साधु मौन रहा। चौथी बार पूछने पर बोला—बता तो रहा हूँ ईश्वर कौन है। बादशाह चकित हो गया। उसकी समझ में कुछ नहीं आया। बाद मे समझाया गया ईश्वर मौन है। नहीं। ईश्वर के बारे के कुछ मत पूछो। वह कथन से परे है की नायिका उद्धव को सदेश देने लगी कुछ बोली कुछ आँखों से कहा किन्तु

बातें अधिक थीं इन दो अर्थों से कह न सकी जथा-जुगा जो था, उसे हिचकियों से कह दिया। बोलते-बोलते न बोलने की अभिव्यक्ति अधिक हुई।[११]*

संदर्भ-संकेत

१. झूठे जानि न संग्रहे मन मुँह निकसे बैन।
याही ते मानो किये बातन को विधि नैन॥ २४८॥
२. जदपि नाहि नाहि नहीं बदन लगी जक जाति।
तदपि भौंह हाँसी हाँसीयैं ठहराती॥ २०८॥
३. सौंह करै भौहनि हँसे।
४. मोहनि त्रासति मुखनटति आँखिन सो लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर इंची आगे आवति जाति॥ ४८५॥
५. शीतल समीर आता था कर पावन परस तुम्हारा।
मैं सिहर उठा करता था बरसा कर आँसू धारा॥—आँसू
६. गली अँधेरी साँकरी भो भटभेरा आनि।
परे पिछाने परस्पर दोऊ परस पिछानि॥ १४१॥
७. कहि लहि कौन सबै दुरी सौन जाय मे जाय।
तनकी सहज सुबास बन देती जौन बताय॥ ८३॥
८. इहि बसन्त न खरी अरी गरम न सीतल बात।
कहि क्यों झलके देखियत पुलक पसीजे गात॥ ४०॥
९. तर भुरसी ऊपर गरी कज्जल जल छिरकाय।
पिय पाती बिन ही लिखी बाँची विरह बलाय॥ २७१॥
१०. दूरौ खरे समीप को लेत मानि मन मोद।
होत दुहुन के दगनि ही बतरस, हँसी, विनोद॥ ३१५॥
११. कछू कही नैनन सो कछू कही बैनन सो, रही सही सोऊ कहि दीन्ही हिचकानि सो।—उद्धव शतक।

* बिहारी के दोहों के सारे उद्धरण आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'बिहारी' पुस्तक से दिये गए हैं।

काशी विद्यापीठ
वाराणसी

काव्य में मिथ

श्री आनन्दमोहन उपाध्याय

मिथ आदिम मानव समाज की प्रकृति एवं उसके उपादानों के साहचर्य से उत्पन्न रागात्मक प्रतिक्रियाओं की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति है। प्रकृति के सम्पर्क से उत्पन्न प्रतिक्रिया का कोई रूप नहीं है। वे अरूप और अमूर्त हैं क्योंकि प्रतिक्रियायें भाव-स्वरूपा हैं। उन्हें आंगिक आहार्यों द्वारा ही प्रकट किया गया है। इसके लिए बिम्बाधायक शब्दों की खोज प्रारम्भ होती है जो उन भावों को मूर्त रूप दे सके। मूलतः आदिम मानव-समाज की रागात्मक प्रतिक्रियायें ही मिथ में रूपायित हैं। निश्चय ही आद्य मानव प्रकृति के विशाल काव्यमय परिवेश को देखकर कभी आह्लादित, हिल्लोलित व आनन्दित होता था तो कभी वह उसके प्रलयंकारी भयावह रूपों व कार्यकलापों के सम्पर्क में आकर भयाक्रान्त हो उठता था। हर्ष, भय, कौतूहल, श्रद्धा, प्रेम आदि उद्दीप्त भावों की रूपात्मक अभिव्यक्ति ही मिथकीय कथायें हैं और उक्त भाव अमूर्त भाव हैं। इन्हे भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति के लिए किसी न किसी इन्द्रिय स्पर्शजन्य बोध का आश्रय लेना पड़ेगा। रूप को मधुर और सौन्दर्य को लावण्य कहा जाता है जबकि रूप में न मिठास है और न तो सौन्दर्य नमकीन, फिर भी अनुभूति को स्वादेन्द्रिय द्वारा अनुभूत बिम्ब के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। रूप और सौन्दर्य की मूर्त सत्ता नहीं है, वे अन्तर्जगत् के अमूर्त भाव हैं। उन्हें बहिर्जगत् की बिम्बात्मक भाषा में इसी प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। मिथ भी मानव समाज की आद्य अनुभूतियों का ऐन्द्रियबोध कथा-बिम्ब है जिसके माध्यम से वह अपनी रागात्मक कल्पनाओं को व्यक्त करता रहा है। मिथ और भाषा की सापेक्षता पर आगे विचार किया जायेगा। अतः यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि मिथ आदिम मानव की रागात्मक प्रतिक्रियाओं का बिम्बाधायक शब्दों में रूपायन है।

विको ने प्रथम बार स्पष्ट कहा था कि आदिम मानव के मनोभाव कवित्वमय रहे और उनकी ही मिथों में रूपात्मक अभिव्यक्ति होती है। कान्ट ने कहा था कि मानव-मस्तिष्क एक निष्क्रिय दर्पण नहीं है, वह तो एक सतत् क्रियाशील शक्ति है जो बाह्य जगत् के प्रतिबिम्बन को उसी रूप में प्रतिबिम्बित कर उसे अन्यथाकृत करके प्रस्तुत करता है। परिणामतः दृश्यमान जगत् की वास्तविकता के रूप-निर्माण की प्रक्रिया में मन की क्रियात्मक शक्ति का परिचय मिलता है। स्पष्ट है, इसी धारणा के अनुरूप मिथों की वास्तविकता एवं अनन्त संभावनायें निहित हैं, इसलिए मिथ केवल कथा न होकर मानव-मस्तिष्क के भाव-विचारों में संवेदनाओं की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति हैं। इस दृष्टि से मिथ में निहित प्रतीकत्व भी महत्त्वपूर्ण है। अतः मैक्समूलर का यह कथन कि मिथक का प्रतीक बर्बर, अर्थहीन और मूर्खतापूर्ण कल्पना है, संगत नहीं है क्योंकि इतना तो सत्य है कि मानव (आदिम मानव) द्वारा मिथों में प्रयुक्त प्रतीक सत्य के ही रूप हैं जिनकी अमूर्त भावसत्ता को समझने के लिए क्या बिम्बों का आश्रय लेना आवश्यक है। मिथ के विषय में कतिपय प्रश्न विचारणीय हैं जो इस प्रकार हो सकते हैं। मिथ के प्रमुख रूपों के ही मूल में विचार करना वांछनीय होगा

(१) मिथ आदिम मानव की आद्य कल्पना का कल्पन है, इसलिए इसमें इन्द्रजाल एवं धर्म का तत्त्व प्रमुख है।

(२) यह अतार्किक, अबौद्धिक, असंबद्ध प्रातिभ ज्ञानपरक है, परन्तु फिर भी वह समूची अतार्किकता, असंगति-विसंगति, स्वविरोध के होते हुए भी समूह-मानव-जीवन के सत्य का बिम्बात्मक मूर्तन है।

(३) इसमें समूह एवं जाति की रागपरक कल्पनात्मक चेष्टायें व्यक्त हैं। यह जातीय विश्वास, आस्था, भावना एवं संवेगों का रूपायन है, इसी से यह विशिष्ट से सामान्य की ओर उन्मुख होता है। इसमें व्यष्टि की प्रधानता न होकर समूह की आशाये ही संयोजित हैं।

(४) इसका सम्बन्ध समाज की मौखिक परम्परा से है, इसी कारण इसका कर्ता अज्ञात और स्रोत अपरिचित है। इसी से निश्चयात्मकता का अभाव भी है।

(५) मिथ में कथा-अंश रहता है। बिना कथा वह वर्णन या प्रतीक रह जाता है। मानवेतर कथाये—देवचरित्र एवं कार्यकाल का वर्णन रहता है, परन्तु साथ ही प्राकृतिक सृष्टि, मानव आध्यात्मिक, ब्रह्माण्डपरक कथाओं की कल्पना भी रहती है। इसमें कथातत्त्व होते हुए भी कथा की भाँति घटनाक्रम पर विशेष बल नहीं, अपितु भावात्मक एवं कल्पनात्मक क्षमता की प्रमुखता है।

(६) यह केवल प्रतीक न होकर प्रतीकों का संग्रन्थन होता है जो सर्पवत् व शृंखलाबद्ध क्रम में नियोजित रहते हैं।

(७) मिथों में प्रायः एक मोटिफ होता है जो घुमा-फिराकर किसी न किसी प्रकार प्रत्येक मिथ में आता है जो अन्त में संबंध स्थापित करता है। उदाहरणार्थ जन्म-मृत्यु। यह कथा-रूढ़ि प्रायः हर प्रकार के मिथों—प्राकृतिक मिथ, मृत्युसम्बन्धी मिथ में कार्य करती है। मृत्युसम्बन्धी मिथ में यह सर्जन एवं विनाश, सृष्टिपरक मिथ में जन्म-मृत्यु, रहस्यात्मक मिथ में यह मृत्यु व पुनर्जन्म द्वारा व्यक्त होती है।

(८) मिथ मे आद्य अस्पष्ट आकांक्षाओं, भावनाओं, प्रवृत्तियों की रूपात्मक व्यंजना होती है। अतः मिथ का एक तत्त्व चित्रात्मकता, रंगीनी एवं काव्यात्मकता भी है। हाँ, इतना अवश्य है कि मिथ काव्य नहीं हो सकता, क्योंकि सर्जन कलाकार की सचेतन प्रयासजन्य सर्जना है। मिथ में समूह-मानस का बिना प्रयास सहज उच्छ्वसित भावनाओं का रूपायन होता है।

मिथ की व्याख्या के सन्दर्भ मे शोध करने पर ऊपर निर्देशित तत्त्व उभर कर सामने आते हैं, अतः इसका क्रमशः अध्ययन व व्याख्या अपेक्षित है।

आदिमानव ने कल्पना-शक्ति को प्रेरित करने वाले तत्त्वों—धर्म एवं जादू, कल्पना, आधिदैविक, ऐन्द्रजालिक, दसमुख। पुराण में मिथ को समाज की आवश्यकता के अनुरूप मूर्त रूप दिया है। यहाँ तक कि पुराण व मिथ की सर्जन-प्रक्रिया साथ-साथ है। परन्तु मिथ में सर्जक प्राकृतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष द्रष्टा है, वह उसका साक्षात् भोक्ता है। पुराण में मिथ का स्थिर और दृढ़धर्म प्रधान भावना है क्योंकि मिथ का तटस्थ विश्वास कालान्तर में पुराणों के अन्ध-विश्वासों में परिवर्तित हो गया। अन्ततः पुराण धार्मिक विश्वासों के कारण आधिदैविक तत्त्वों से सम्पृक्त हो गया। इसी से प्राच्य प्रज्ञात्मक दृष्टि से पुराणेतिहास की कल्पना है। लिजेण्ड में व्यक्तिगत जीवन के सवेगों, प्रकृति और उसकी विरोधी शक्तियों के साथ हुए संघर्ष की कथात्मक व्याख्या की जाती है। स्पष्ट है कि इसमें व्यक्ति के परम्परागत यथार्थ के प्रति विश्वास निबद्ध रहता है। इस प्रकार इसकी आधार-भूमि समूह-मानव की आकांक्षाओं का [illegible] है। ठीक इसके

विपरीत मिथ में समूह-मानव-जीवन की अस्पष्ट आकांक्षाओं, इच्छाओं एवं अनुभवों का प्रतीकात्मक रूपायन होता है।

मिथ और भाषा का अन्योन्य सम्बन्ध है। मिथ भाषा का पूरक है। इसी बल पर भाषा खड़ी है क्योंकि आदिम मानव प्राकृतिक शक्तियों की मानवीय अनुभूति व कल्पना को उसी के अनुरूप अनुभव-बिम्बों द्वारा भाषा में अभिव्यक्त करता था। इस प्रकार आदिम भाषा का रूपात्मक होना स्वाभाविक है। इस काल तक भाषा का विकृत रूप नहीं था, अर्थात् भाषा के वर्ण विभक्त नहीं थे एवं संज्ञा, विशेषण का बोध नहीं हो पाया था क्योंकि भाषा का यह विकास विवेकशील मानस की उपज है। इसलिये आद्य भाषा में व्यक्त कल्पना और यथार्थ वर्णन में कोई भेद नहीं था। जो पदार्थ था, वही शब्द भी था। उस समय केवल शब्द ही रहे, अर्थ उनका पीछा करता था। फलतः भाषा के शब्द-बिम्ब और यथार्थ जगत् का पूर्ण ऐक्य था। इसी आधार पर जादू-टोना का प्राधान्य बढ़ गया और आम कल्पना ऐन्द्रजालिक एवं चामत्कारिक हो गयी। इतना अवश्य है कि जब आदिम चित्त की सामूहिक अनुभूतियाँ विवेकपूर्ण भाषा के माध्यम से व्यक्त होती हैं, तो वे असंगतिपूर्ण, अतर्क्य एवं एकांगी प्रतीत होती हैं, पर मानव-चित्त की गहराई मे जाने पर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि वे अन्तर्जगत् को व्यक्त करने का एकमात्र साधन है। अनुभूतियों को व्यक्त करने की कसमसाहट ही उपमान, रूपक, उत्प्रेक्षाओं का जनक है। अन्तर्जगत् बहिर्भूत कैसे हो, ठीक उसी रूप में उसकी बिम्बात्मक अभिव्यक्ति कैसे की जाय, यह समस्या मानव को उद्वेलित करती रही है। उसने मिथ की सर्जनात्मक शक्ति से अप्रस्तुत द्वारा उपभोग्य बनाया। इस प्रकार मिथ में काव्य-तत्त्व आ गया, परन्तु मिथ काव्य नहीं हो सकता क्योंकि काव्यकला तो सर्जन-प्रक्रिया के सचेतन प्रयास का परवर्ती विकास है। मिथ में जो भी व्यक्त है, वह निश्चय ही विवेक-पूर्ण भाषा द्वारा व्यक्त बाह्य जगत् से भिन्न है, मिथ किसी भी प्रकार से बाह्य जगत् की तर्क-सगत व्यवस्था से प्रत्यक्ष साम्य नहीं रखता। इसमें तर्कव्यवस्था का स्वरूप निर्विवाद है।

मिथ काव्य नहीं है, फिर भी कार्य करने वाली सर्जनात्मिका शक्ति का मूल, मानव का आदिम मनोभाव मिथ ही है। वही उसे सर्जन की ओर प्रेरित करता है। काव्य व्यक्ति-चेतना का सप्रयास प्रतिफलन है। मिथ सामूहिक मानव की भावमूर्ति निर्मात्री शक्ति है जिसे युंग ने 'आर्कि-टाइपल इमेज' कहा है। युंग के अनुसार मानव चेतन-अचेतन का समन्वित रूप है। मन का प्राचीनतम भाग अचेतन मन है। इसमें दो भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं—

(१) व्यक्तिगत संस्कारों का भण्डार वैयक्तिक मन (परसनल अनकांशस)

(२) सामूहिक या जातीय संस्कारों का भण्डार (कलेक्टिव अनकांशस)

रचनात्मिका शक्ति इन्हीं दो विरोधी तत्त्वों का समन्वय है। कलासर्जन स्वभावजन्य सहज आवेग है। कलाकार की दृष्टि से व्यक्ति समष्टि का अंग है। उसमे संघर्ष की प्रबलता है। जब सब सर्जनात्मिका शक्ति उस पर हावी होती है, तब उसमें क्रियात्मक स्फूर्ति आती है। इस प्रकार कला मे व्यक्ति का मानव संस्कारों से रहस्यमय सम्मिश्रण रहता है। अनुभवों के इन क्षणों में व्यक्ति की अपेक्षा मानव, व्यष्टि के अलावा समष्टि चित्त भी जागृत रहता है। युंग ने स्पष्ट कहा है कि चेतन मन के निचले स्तर पर जो अवचेतन या अचेतन मन है, वही मानव की प्रेरणा तथा स्फूर्ति का आदि स्रोत है। जब भी भावातिरेक में व्यक्ति का अवचेतन मानस आन्दोलित हो उठता है, तभी उसकी मातृशक्ति ऊर्ध्वगमन करती है। यह अपने वेग से संचालित होकर चेतन मन की पितृशक्ति से संयुक्त हो जाती है। इसी से श्रेष्ठ काव्य का उद्भव होता है।[१] 'समग्र' मिथ सिसृक्षा अवचेतन मन

७

की सबल वेगवती शक्ति है। सर्जनात्मिका शक्ति के प्रबल उद्वेग होने पर मानव सक्रिय इच्छा-शक्ति के विरुद्ध अवचेतन मन से शासित और रूपायित हो उठता है। चेतन अहं उस वेगवान् प्रवाह मे बहकर असहाय बनकर तैरता है।[२] चेतन अहं बहिर्जगत् की न्यायसगत तर्कपूर्ण व्यवस्था से अनुशासित है। मिथ सामूहिक अवचेतन की वेगवती शक्ति है। मिथकीय तत्त्व ऐसी आद्य अनुभूतियाँ हैं जिनका अस्तित्व समष्टिचित्र में है और विकसित भाषा के पूर्व की भावमूर्तियाँ है। इसे ही आर्किटाइप समष्टिचित्र या तान्त्रिक शब्दावली में 'सर्वात्मिका संविद' कह सकते हैं।[३] युंग की अवधारणा से ज्ञात है कि आरम्भिक स्तर से ही व्यक्ति एक सामान्य चित्र की कल्पना में प्रवृत्त रहा है। व्यक्ति की बिम्बग्राहिका शक्ति, शब्द-रचना का क्रियाकलाप सामान्य समूह-मानव में भी समान ही है। मस्तिष्क व्यक्ति और समूह में सामान्य अनुभूतिजन्य प्रतिक्रियाओं को एकसमान ही उत्पन्न करता है। सुख-दुःख, गन्ध-दुर्गन्ध, हास्य-रुदन सबकी अनुभूति प्रायः सभी में समान भाव-बिम्ब उत्पन्न करते हैं। लाल रंग सबको लाल ही दिखेगा। अगर ऐसा किसी को नहीं दिखाई देता तो वह चिकित्स्य है, वह एबनार्मल है, पर सामूहिक चेतना कहती है कि औसतन सामान्य भाव-बिम्ब एक ही प्रकार के होते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि देह-भेद से सर्जनात्मिका शक्ति संकुचित या विकसित है। इस आधार पर यह सिद्ध है कि मिथतत्त्व विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं की विशिष्टता के होते हुए भी अभिप्राय एवं प्रारूप में प्रायः एक ही भावमूर्ति को कथारूढ़ियों (मोटिफ) द्वारा प्रकट करते हैं।

भारतीय आगमिकों ने उक्त अवधारणा पर एक दृष्टि से विचार किया है जो अपने चिन्तन-आयाम की विभिन्नता के होते हुए भी उसी मूल बात को व्यक्त करती है—'अभिनवगुप्त पाद ने कहा है कि सर्वात्मिका संविद देह-भेद से संकुचित हो गयी है। गात्रविक्षेपादि के आयोजनों में वह अनेक व्यक्तियों के चित्त में एकसाथ स्फुरित होती है और सर्वतन्मयी भाव को उदबुद्ध करती है। यह भाव विशुद्ध आनन्द है। वह किसी एक का नही होता। इसीलिये आनन्दनिर्भरा यह सर्वात्मिका संविद ईर्ष्या, असूया आदि संकुचित भावों को दबाकर नृत्य, गीत आदि के द्वारा स्फुरित होकर सच्चिदानन्द से जोड़ देती है।[४] स्पष्टतः अभिनवगुप्त पाद ने नृत्य, गीत आदि को संकुचित अहं की परिधि के बाहर विश्वजनीन चेतना के उद्‌बोधक रूप में माना है।

मिथ भाषा एवं प्रतीक पर आधुनिक प्रसिद्ध दार्शनिकों का विचार देख लेना आवश्यक है। अपनी आरम्भिक अवस्था में भाषा के प्रतीकार्थ बाह्य जगत् के पदार्थ ही होते थे। प्रारम्भिक शब्द पदार्थ की सूचना ही न देकर वह उससे सम्पृक्त रहता था, अर्थात् वह वही रहता है जो है। इसी से शब्द और अर्थ सम्पृक्त थे। बाद में विवेकशील मस्तिष्क ने भाषा के विभिन्न वर्णों संज्ञा, सर्वनाम, विशेषणों का आविष्कार किया और शब्द बाह्य जगत् के एकमात्र प्रतीक बन गये। इन शब्दों का अर्थ बाह्य जगत् है, वे पदार्थिक जगत् को सूचित मात्र करते है। उनसे सम्पृक्त होकर वही नहीं बन जाते। इसे आज भी भाषाविद् समीक्षा में शब्द-प्रतीकात्मिका भाषा कहा गया है।

विको की चिन्तना में मिथ एक प्रकार की काव्यात्मक भाषा है। वह आदिम मानव की प्रारम्भिक भाषा है जिसके माध्यम से वह अपने अन्तर्जगत् को व्यक्त करता रहता है। उनके अनुसार भाषा का प्रारम्भिक विकास अनुभावों या चेष्टाओं द्वारा हुआ है। पुनः वह मिथ द्वारा विकसित होती रही है। अन्त मे वह विकसित होकर आज के सभ्य समाज की विविक्ति वर्णप्रधान और व्यवस्थित भाषा बन गयी। विको मिथ को काव्यात्मक भाषा कहते हुए भी, काव्य एवं मिथ का भेद स्पष्ट नहीं कर पाता। परन्तु मेज ने कहा है कि मिथ केवल काव्य है। हर्डर ने भाषा को मिथ से उत्पन्न माना है, परन्तु इस धारणा के विपरीत कैसिरर का अभिमत है कि दोनों में से कोई

भी एक-दूसरे से उत्पन्न नहीं है, अपितु दोनों ही एक वृक्ष की दो शाखायें हैं। ये मूलतः प्रतीकात्मक रूपायन के संवेग से निःसृत हैं। कैसिटर के लिये ये संवेग साधारण अनुभूतियों का सान्द्रीभूत एवं घनीभूत तीव्र रूप हैं।[५] कैसिटर की धारणा में आदिम भाषा एवं मानवीय अनुभवों का संयोगीकरण है।[६] उसकी यह अवधारणा काव्य को समझने में महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इसके पूर्व यहाँ उसकी भाषा की यथार्थता से क्या सम्बन्ध है, पर विचार अपेक्षित है।

कैसिटर के अनुसार प्रतीकों का सर्जन मानवीय आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों के अनुरूप होता है। इसके लिये प्रतीक सत्य या यथार्थता का एक पहलू न होकर यथार्थ ही है, अर्थात् कैसिटर के मत से वस्तु और नाम में अभेद सम्बन्ध है। दोनों सम्पृक्त हैं क्योंकि जो नाम है, वही वस्तु है और जो वस्तु है, वही नाम है। इसलिये प्रतीक में पूर्णतः विषय या विषयी का तादात्म्य है।[७] प्रतीक नाम और पदार्थ का मिलन-बिन्दु नहीं है क्योंकि आदिम मानव में अहंबोध या अहंबोध का निषेध जैसी कोई वृत्ति नहीं थी। आदिम मानव ऐसी तर्कप्रधान बुद्धि से परिचित नहीं था, उसमें ज्ञाता व ज्ञेय का द्वैत भाव नहीं था। वस्तुतः अहंबोध एवं अहंबोध का निषेध, ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वन्द्व विवेकशील मानस की उपज है। आदिम मस्तिष्क पदार्थ एवं उसके द्योतक शब्द में अभिन्नता का बोध करता था। उसका मिथपरक प्रत्यक्ष ज्ञान एवं देवी-देवता, जो आद्य अनुभवों की उपज हैं, शब्दो के माध्यम से स्थायित्व को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार शब्द प्रतिनिधि न होकर स्वयं वस्तु ही है। वे देवता के नाम देवता ही हैं, इसी से देवता से ज्यादा उसका नाम प्रभावी है। यही मन्त्र का भी रहस्य है, इसीलिये कैसीटर यह कहता है कि अनुभवों के आश्रय के लिये 'नाम' चाहिए। इसी के सहारे वह टिका रह सकता है। नाम ही शब्द है और बिना नाम के अनुभूतियाँ न तो सुरक्षित रह सकती हैं और न ही स्थिर हो सकती हैं। प्रतीक मानव-सिसृक्षा के परिचायक है, अतः वह प्रतीक-विधायक जन्तु हैं।

विलवुर अर्बन ने कला एवं धर्म की आदिम भाषा को स्वीकार नहीं किया है। अधिकांशतः लोग धर्म एवं कविता में मिथ की उपयोगिता पर बल देते हैं।

विको ने स्पष्ट कहा था कि मिथ काव्यमय है। व्यक्ति जिस प्रकार काव्य में जड़ वस्तुओं को जीवन्त प्राणियों की भाँति अंकित करता है और उनमें अपनी इच्छाओं एवं आवेगों का आरोपण कर उन्हें सजीव बनाता है, उसी प्रकार आदिम मानव की प्रकृति के जड़ पदार्थों मे सहज रूप से इच्छाओं, आवेगों और उनमें दुर्धर्ष शक्तियों का प्रत्यक्षीकरण करता है। इस अवस्था तक आदिम भाषा तर्कमूलक नहीं थी। उसकी अनुभूतियाँ धार्मिक कृत्यों एवं विधि-विधान में ही मिल सकती हैं। इस प्रकार विको के अनुसार धर्म एवं कविता-सर्जन मे उक्त दोनों प्रवृत्तियों का हाथ रहा है। विको ने कहा है कि धार्मिक कृत्यों ने आगे चलकर काव्य में छन्द-लय का रूप ले लिया, क्योंकि धार्मिक कृत्यों में नृत्य-गति, अंग-संचालन, गात्रविक्षेप का ही प्राधान्य रहता है। रिचर्ड चेज ने मिथ को कला कहा है। उसके अनुसार मिथिकल कला उत्कृष्ट काव्य का अंग है, अतः कविता एवं कला एक ही रचनात्मक गठन व्यक्त करती हैं। कविता के मिथिकल होने का अर्थ है कि वह मुख्यतः अनुभूति की तिग्मिता और सजीवता से पूर्ण हो। चेज ने कहा है कि कविता एवं मिथ समान रूप से उत्पन्न हैं और दोनों प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। इनसे भय, श्रद्धा, विस्मय आदि भाव मन मे उत्पन्न होते हैं। काव्य जैसे अनुभूत तथ्यों की रूपात्मक अभिव्यक्ति करता है। उसमें एक संरचनात्मक अन्विति होती है। उसी प्रकार मिथ का भी अपना पैटर्न है। कविता एवं मिथ दोनों ही एक प्रकार का विभ्रम श्रद्धा विस्मय पैदा कर अनुभूतियों को अनुप्राणित करते हैं और) को संयत एव परिष्कृत करते हैं रिचर्ड चेज मिथ एव कविता को विरेचन (कैथेरिसिस का साधन

मानता है, परन्तु उसने विरेचन की नयी व्याख्या की है। व्यष्टि और समष्टि के अचेतन मन मे भयंकर पशु छिपे रहते हैं। जैसे जंगल के भयंकर पशुओं को उसमें से निकालकर उन्हें पिंजड़े में बन्द किया जाता है, उसी प्रकार आदिम मानव ने अपने मन के भयंकर एवं उग्र तत्त्वों को निकालकर उन्हे मिथ-रूपी पिंजरे में बन्द कर दिया। बाद में धर्म ने भी वही काम किया जो मिथ ने किया था, परन्तु धर्म के विघटन के साथ मन के भयंकर एवं कुरूप विचार हिंस्र पशु की भाँति बाहर निकल पड़े और उन्हें पुनः सौन्दर्यानुभूति एवं कला के पिंजड़े में बन्द किया गया।

कैसिटर एवं मिस लैंगर ने मिथ में धर्म-विश्वास की प्रवृत्ति को अनिवार्यरूपेण निहित माना है, पर चेज महोदय यह आवश्यक नहीं मानते कि प्रारम्भिक मिथो में धार्मिक विश्वास निहित था। इसलिए उनकी स्थापना है कि कला का आधार धार्मिक नहीं हो सकता। विलुवर अर्बन धर्म एवं कला में आदिम भाषा का प्रयोग नहीं मानते। लैंगर एवं कैसिटर ने मिथ को आदिम तत्त्व-चिन्तन की प्रथम अवस्था कहा है। ये वस्तुतः सामान्य प्रत्यक्षों की प्रथम अवस्था है।[९] कालक्रम से धीरे-धीरे मिथपरक अवधारणायें एवं प्रत्यय का विवेकपूर्ण चिन्तन ने स्थान ले लिया।

यद्यपि कैसिटर एवं लैंगर काव्य एवं मिथ के सम्बन्ध एवं प्रतीकात्मक रूपायन सिद्धान्त को स्पष्टतः निरूपित करने के लिए मिथ का आश्रय लेते हैं। पर वे मिथ के काव्य-सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं मानते। लैंगर का तो यहाँ तक कथन है कि 'लिजेन्डरी कथायें, परियों की कथाएँ स्वयं में काव्य नहीं हैं, वे कला भी नहीं हैं, वे तो काव्य-कला के प्राकृतिक एवं भौतिक उपादान मात्र है, लिजेन्ड मिथ और परियों की कथाएँ स्वयमेव साहित्य नहीं हैं, न ही वे कला हैं, लेकिन समाहित कल्पना, कला के प्राकृतिक तत्त्व हैं।[१०]

परन्तु इस आधार के होते हुए भी अत्याधुनिक समीक्षकों ने मिथ एवं साहित्य के अन्तः-सम्बन्धों को गम्भीरतापूर्वक विवेचित किया है। आधुनिक विचारकों ने मनोविज्ञान के प्रभाव से मिथ के महत्त्व को नये आयाम में प्रस्तुत किया। उनकी धारणा है कि आज भी इस वैज्ञानिक युग की समस्त उपलब्धियों—टेलीविजन, रेडियो, वायुयान, मोटर के उपयोग के बावजूद मानव नींद में, स्वप्न में प्रारम्भिक मिथों के आद्य प्रतीकों को देखता है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न है: क्या स्वप्न, मिथ एवं कविता में भेदाभेद सम्बन्ध है या पूर्णतः अलग इनकी सत्ता है? मिथ, स्वप्न एवं कविता को एक सूत्र में ग्रथित करने का सराहनीय प्रयास कार्ल युंग ने किया। फ्रायड ने कहा है कि मानव का अचेतन मन स्वप्न मे अनायास ही सक्रिय हो जाता है। यह प्रक्रिया कविता की रचनात्मक क्रिया से किसी अंश में भिन्न रहती है। अतः फ्रायड की मिथ के सम्बन्ध में भी यही मान्यता है कि आदिम जातियों की प्राचीन कथायें जागृत स्वप्न की अपेक्षा और कुछ नहीं हैं। परन्तु कार्ल युंग ने इसका विरोध किया और उसने यह स्थापना दी कि स्वप्नावस्था में मानव का अचेतन मन सक्रिय रहता है। इसी से मिथ मानव की सामूहिक चेतना की उत्पत्ति है। प्रतीकों में व्यक्ति-चेतना सक्रिय रहती है। मिथ-प्रतीक में भेद होते हुए भी उनमे विचारणीय समता है। ये दोनों किसी न किसी प्रकार परम्परा से सम्बन्धित हैं, किन्तु प्रतीक प्रयोग की विकसित दशा में सार्वभौम स्तर से 'विशेष' की ओर उन्मुख होने, अतः विशिष्टार्थबोधक बनने की प्रवृत्ति रखते हैं, जबकि मिथ 'विशेष' से 'सामान्य' की ओर अग्रसर होते रहते हैं।'[११]

इस विवेचन से ज्ञात होता है कि मिथ में प्रतीकों का महत्त्व है। मिथ के कथापात्र पदार्थ सब प्रतीकवत् कार्य करते हैं। प्राचीन यूनानी कलाओं के देवी-देवता, वीर योद्धा सब प्रतीकात्मक हैं। मिथकों में प्रतीक की कल्पना के उदाहरण के लिए डायनिसस एवं अपोलो को ले सकते

हैं। डाइनिसस जीवन की मस्ती का प्रतीक है और अपोलो विवेक एवं संयम का प्रतीक है। फ्रायड ने प्रतीकों के प्रयोग की नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार स्वप्न एवं मिथ में कामवासना एवं मृत्यु सम्बन्धी प्रतीक प्रयुक्त हैं। कामवासनाएँ स्वप्न प्रयोजनवत् हैं। स्वप्नों में एक व्यवस्था और अर्थ निहित है। दोनों का विषय प्रायः समान है और उनको प्रस्तुत करने का ढंग भी एक ही प्रकार का है। चित्रों का प्रस्तुतीकरण एवं संघटन दोनों काव्य एवं स्वप्न में समान ही हैं क्योंकि स्वप्न में तीन कार्य प्रमुख हैं—

(१) एक ही बिम्ब में अनेक बिम्बों का सुसंयोजन।

(२) प्रत्यक्षतः महत्त्वशून्य तत्त्व में ही सम्पूर्ण की अर्थवत्ता को समाहित करना।

(३) अनेक महत्त्वपूर्ण परस्पर-विरोधी अर्थों को एक ही तत्त्व पर केन्द्रित करना जिससे वे एक की अपेक्षा अनेकार्थ को व्यक्त कर सकें।

यह स्वप्न-निर्माण की रचना-प्रक्रिया एवं उसका संघटन-तत्त्व है। कविता भी इसी प्रकार की सर्जनात्मक प्रक्रिया से सर्जन करती है, अतः इन समीक्षकों के लिए कविता एवं स्वप्न में भेद नहीं है। कविता भी एक प्रकार का ड्रीम वर्क ही है।

कविता को ड्रीम वर्क मानना कहाँ तक न्यायसंगत है। वस्तुतः कविता एवं स्वप्न मे अन्तर होना चाहिए। स्वप्न कविता नहीं हो सकता है। स्वप्न अनायास मानव के अचेतन मन की क्रियात्मक शक्ति का प्रतीक है। ये मानव द्वारा प्रयत्नपूर्वक निर्मित तत्त्व नहीं हैं। ये प्रयत्न-निरपेक्ष सर्जनात्मक शक्ति की सूचना देने वाले हैं। कविता प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का प्रतिफलन है। यह मिथ का आश्रय लेती है, पर स्वयं मिथ भी नहीं है। वह भाषा से विमुख होकर नहीं चल सकती। इतना ही नहीं, वह भाषा से केवल प्रभाव ही ग्रहण नही करती, अपितु वह उसे अपने ढंग से प्रभावित करती है जिससे उसमें अर्थवत्ता आ सके। इस प्रकार स्वप्न एवं कविता में अन्तर है। प्रतीक का मिथों में महत्त्व अधिक है, फिर भी प्रतीक और मिथ में किंचित् भेद है। प्रतीक एक प्रकार से रूढ़ उपमान है। जब भी उपमान का प्रयोग पदार्थ विशेष के लिए रूढ़ात्मक रूप मे होने लगता है, तब वे ही प्रतीक हो जाते है। जब किसी प्रकार के बिम्ब जातीय जीवन के विश्वास के अंग बनकर आते है तो वे ही मिथ होते है। इस प्रकार मिथ और अन्योक्ति, रूपक (एलेगरी) में भी भेद है क्योकि मिथ में कल्पना के साथ जातीय विश्वास का आधार प्रमुख तत्त्व है जबकि अन्योक्ति रूपक मे कल्पना के साथ विचार ही प्रधान रहता है।

प्रतीकों का गुच्छ ही मिथ है, केवल एक प्रतीक से मिथ नहीं बनता। प्रतीक में कोई सांगोपांग कथानक रूढि (मोटिफ) नहीं होता, जबकि प्रतीकों में किसी न किसी प्रकार से कथानक रूढि काम करती है। फर्टिलिटी मिथ्स की मृत्यु एवं पुनर्जन्म की कथानक रूढ़ि ले सकते हैं। पतझड़ एवं जाड़े में वृक्ष पत्ते गिराकर निर्जीव व श्रीहीन रहते हैं। पृथ्वी में बीज दबे रहते हैं। वसन्तागमन पर चारों तरफ नवोल्लास दृष्टिगत होता है, पृथ्वी की उर्वरता बढ़ जाती है। पत्तों का गिरना, श्रीविहीन, नग्न प्रकृति मृत्यु का प्रतीक एवं पुनः वसुन्धरा मे बीजों का अंकुरित होना पुनर्जन्म का प्रतीक है। इसी प्रकार ग्रीष्म के तपन के बाद आषाढ़ के बादलों का आगमन और प्यासी धरती को जल देकर नवजीवन देना नये जन्म के अंकुरण का प्रतीक है। टी० एस० इलियट ने 'वेस्टलैण्ड' में कुछ इसी प्रकार की कथाओं का प्रयोग किया है जो मिथपरक है। प्रजनन एव जीवन विकास का प्रतीक है, मृत्यु विनाश के लिए प्रयुक्त होती है। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों काम एवं मृत्यु के परस्पर द्वन्द्व से व्यंजक कथाओं का निर्माण होता है। सर्प, ड्रेगन, गार्गव, सर्पेन्ट आदि की कथायें पाप एवं मृत्यु के प्रतीक हैं। इनका विरोधी प्रतीक 'इरास' है जो काम का प्रतीक है कृष्ण का कालियनाग-दमन मृत्यु पर जीवन की विजय-गाथा है मिथ, स्वप्न एव कविता के

सम्बन्ध में विचार करने के साथ मिथकीय समीक्षा के अत्याधुनिक समीक्षकों का विचार भी देख लेना आवश्यक है।

ये समीक्षक विशेषतः मनोविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान आदि द्वारा प्रभावित होकर मिथ की नयी व्याख्या करते हैं जिससे काव्य मे कल्पना का स्वरूप एवं मिथकीय संरचना का उद्घाटन होता है। लैंगर एवं कैसिटर कविता एवं मिथ को अलग-अलग मानते हैं, परन्तु अद्यतन समीक्षक साहित्य एवं मिथ के सम्बन्ध में नयी बात यह कहते हैं कि प्रत्येक समय में मानव यथार्थ लौकिक जगत् से सम्बन्धित मिथों की रचना करता है क्योंकि वह अधिक समय तक अयथार्थ काल्पनिक एवं अमूर्त जगत् में नही रह सकता। नृतत्त्वविज्ञान के अनुसार प्राचीन धार्मिक कर्मकाण्ड, विश्वासो का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि मिथ एवं कविता प्रत्येक संस्कृति के प्रारम्भिक काल में विद्यमान थे। इस प्रकार मनोविज्ञान ने प्रत्येक मानव के भीतर आदिम मानव के रहने की कल्पना की। परिणामतः उसने मिथ एवं कविता को आर्किटाइप से यह ठीक है कि सभ्यता के विकास के साथ कविता सरलता से जटिलता की ओर अग्रसर होती गयी है, परन्तु फिर भी उसमे ऐसे चित्रों, प्रतीको एवं विषय का प्रयोग प्रत्येक युग की कविता या मिथ में है जो सार्वभौम है। नार्थ्रपफ्राई ने कविता एवं मिथ को आर्किटाइप या आदर्श रूप में सम्बन्धित माना है। इसके अनुसार आलोचना का उद्देश्य काव्य का रूप-विश्लेषण न होकर आर्किटाइप की खोज होना चाहिए, क्योंकि रूप-विधान के मूल में आर्किटाइप का ही मूल अस्तित्व है। लेस्टीफीडर भी नार्थ्रपाइ की भाँति एक ही प्रतिष्ठित विषय आर्किटाइप को मानते हैं। व्यक्ति के मन में चिरन्तन आदर्श, वैयक्तिक विचार एवं भाव ही एकीकृत होकर मिथ एवं कविता को जन्म देते है। मिस बाडकिन ने कतिपय आर्किटाइपल पैटर्न आद्य मिथ को चिरन्तन माना है जो मिथ एवं कविता में आते रहते हैं, जैसे रहस्यात्मक गुफाओ पापाक्रान्त भ्रमणशील यात्री आदि के बिम्ब। प्रश्न है कि यह आर्किटाइप क्या है? फ्रायड के लिए आर्किटाइप (आदर्श-आद्य-रूप) पात्र भाव-बिम्ब में पाया जाने वाला वैसा तत्त्व है जिसे व्यापक ऐक्य में बाँधने वाली श्रेणी में रखा जा सकता है। बाडकिन ने अन्तर में स्थित आद्य बिम्बों को आर्किटाइप कहा है, क्योंकि मिथ की रचना को कवि अपनी व्यक्ति-संवेदना को ही रूप न देकर जातीय चेतना के बिम्ब को रूपायित करता है जो उसके अन्तस् में आदिम काल से संस्कार-रूप में प्रतिष्ठित है। इन्हे ही कालिदास के शब्दों में 'अबोध पूर्वस्मृति' कहें या मनोवैज्ञानिकी भाषा में सामूहिक चेतना और आगमिकों की शब्दावली मे 'सर्वात्मिका संविद' कहें, बात एक ही है।

ऊपर के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कैसिटर एवं लैंगर मिथ के प्रतीकात्मक रूप, फ्रायड सामूहिक अचेतन मे निहित मूल वासना, चेज विरेचन, युंग फिडलर, कुमारी बाडकिन आर्किटाइप (आद्य बिम्ब) आदि की दृष्टि से विचार किया गया है। इलियट ने मिथ को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि आज मनोविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान, फ्रेजर के गोल्डेन बाउ ने मिथ की अनन्त संभावनाओं एवं गूढ़ार्थों पर नया प्रकाश डाला है। परिणामतः आज पुराने मिथों को नये सन्दर्भों में प्रयोग का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। इसी के फलस्वरूप हम वृत्तात्मक या वर्णनात्मक प्रक्रिया की अपेक्षा मिथिकल प्रक्रिया को अधिक महत्त्व देने लगे हैं। पुराने मिथों का संबंध मानव की आदिम संवेदनाओं से है। उनके प्रतीक मानव के सामूहिक अचेतन में अपरिचित काल से पड़े हुए हैं और चेतन मन के नित्य परिवर्तनशील जगत् में एक आवश्यक अन्विति बनाये रखते हैं। एलिजाबेथ ड्रयू का कथन है, "उनकी प्रत्येक कल्पना मानवविज्ञान के मनःतत्त्वों, मानव-भाग्य, दुःख-सुख को समाहित किये रहती है। कहने का आशय है कि मिथ में लोकचित्त की सामूहिक संवेदनायें रूपायित हैं। यह व्यक्ति की कुंठाओं का प्रकाशन नहीं, अपितु सामूहिक अन्तर के जागरण का [illegible] सर्जक है। इस प्रकार सम्बन्ध प्रकृति एवं मिथकीय शक्ति का अटूट संबंध है।

हर्बर्ट रीड ने ठीक ही कहा है कि जो मिथ मृत प्रतीत होते हैं, वे अब भी जीवित हैं। जीवन जिस चित्र को प्रस्तुत करता है, वस्तुतः वह इराज (काम) एवं मृत्यु प्रवृत्ति के द्वन्द्वात्मक संघर्ष एवं संयोग का प्रतिफलन है। किसी भी महान् कला का यही उद्देश्य होना चाहिए कि वह मिथ का जीवन्त संबंध मानव की कलात्मक प्रकृति के साथ करे। बाह्य जगत् के प्रति मिथो-योथिक विचारणा, जीवन की आवश्यक अन्विति के साथ विकसित होनी चाहिए। जीवन की समरसता का जो विच्छिन्न रूप आज की वैज्ञानिकता के कारण मिलता है, उसकी आवश्यक एकान्विति के लिए इस शक्ति को जागृत करना आवश्यक है। तभी मानव आध्यात्मिक त्रास को दूरकर विश्व-प्रकृति के साथ ताल में ताल मिलाकर चल सकता है। इलियट ने वेस्टलैण्ड में इसी उद्देश्य की पूर्ति विभिन्न मिथों के प्रयोग द्वारा की है।

मिथ-संरचना की प्रकृति दो प्रकार की है—आदिम मिथो का स्वरूप एवं संरचना; सामूहिक अचेतन मन एवं अचेतन प्रयास का प्रतिफल है। आदिम मिथों में सत्य या मिथ्या का भेद स्पष्ट नही है। वे समग्रतः आदिम मानव के सहज स्फूर्त कथा-बिम्ब है। काव्य में मिथों का प्रयोग सचेतन प्रयास है। इसे जानबूझ कर विशिष्ट प्रयोजनों के लिए निर्मित किया गया है जिससे वे विशिष्ट अर्थ के वाहक बन सकें। डब्लू० बी० ईट्स ने अपनी 'विजन' जैसी कविता मे प्राचीन आयरलैण्ड के मिथों के साथ स्व-निर्मित मिथों का समन्वय करके नयी मिथ की सर्जना करता है, तब उसके इसी मिथकीय सिसृक्षा-शक्ति का परिचय मिलता है। हिन्दी साहित्य में मिथ को आधार मानकर कई रचनायें की गयीं। महत्त्वपूर्ण रूप से आधुनिक कविता में आत्मजयी, एक कंठ विषपायी, मध्यूगाथा, कनुप्रिया, सिसिफस ववस हनुमान, अंधायुग, संशय की एक रात, उर्वशी आदि अनेक रचनायें हैं जिनमे विभिन्न संवेगों और विचारों को दृष्टि में रखकर पौराणिक कथा को अपनाया गया है। यद्यपि महत्त्व केवल मिथों के प्रयोग का नहीं है, वस्तुतः वे किस अंश तक व्यक्ति के रागात्मक भावबोध को उद्वेलित कर उससे एकात्मभाव स्थापित कर पाते हैं। ईट्स ने अपनी कविता में प्रयुक्त आयरलैण्ड के मिथों के साथ अपने सिन्थेटिक मिथ के मिश्रण से यह द्योतित करना चाहा है कि किसी न किसी प्रकार वह आयरलैण्ड के साथ अपनत्व को रूपायित करना चाह रहा है। भारतीय मिथ प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा है कि यहाँ धार्मिक आच्छादन मिथों के चरित्रों पर इतना है कि वे स्पष्टतः मानवीय धरातल पर नहीं आ पाते। परिणामतः पाठक की चेतना हमेशा सजग रहती है कि यह कोई अलौकिक पुरुष है। पात्रो की अलौकिकता की समाप्ति और साधारणीकरण द्वारा ही उनसे तादात्म्य हो पाता है, पर ऐसी स्थिति नही आ पाती। इसके लिए 'सिसिफस वक्स हनुमान' को लिया जा सकता है। इसमें सिसिफसलो जीवन की व्यर्थता के बोध के लिए समर्थ है और हम अपनत्व पा जाते हैं, परन्तु हनुमान का निरूपण उसी स्तर पर नही हो पाया है क्योकि बच्चन जी की हनुमतभक्ति हनुमान को उचित धरातल पर नहीं अंकित करने देती। परिणामतः कवि की यथार्थ दृष्टि की जगह भक्ति-दृष्टि काम करने लगती है।

सभ्यता के विकास के साथ ही बुद्धिमूलक चिन्तन और भाषा की तर्कमूलता के कारण मिथों की आद्य गरिमा रूपान्तरित होती जाती रही है। कवि अपने अनुसार उन्हें तोड़-मरोड़कर, घटा-बढाकर अपना कार्य सिद्ध करता है। इससे उसका प्राचीन स्वरूप, उसका अनगढ़पन, सहजता विनष्ट हो जाती है। इलियट का वेस्टलैण्ड, गेटे का फाउस्ट, ईट्स की अनेक कवितायें मिथ की प्रयोग दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इनमें मिथकों का प्रयोग इतना जटिल और अतिबौद्धिक हो गया है कि उनके वास्तविक स्वरूप को भी समझना कठिन हो जाता है। साथ ही उनका आदिम अनगढ़पन भी विनष्ट हो जाता है। यही कारण है कि नयी मिथ-संरचना पुराने मिथों की भाँति सजीव व प्रभावहीन होकर ताजगी-शून्य है और उसमें प्रभविष्णुता भी नहीं पायी जाती।

आधुनिक हिन्दी काव्य मे मिथो का प्रयोग चार दृष्टियों से किया जा सकता है

(१) ऐसी रचनाधर्मिता जिसमें विभिन्न प्रकार के पुराने मिथों का प्रयोग किया गया है। इन पुराने मिथों का त्रिधा विभाजन कर सकते हैं—

(क) वैदिक मिथ : कामायनी एवं उर्वशी

(ख) पौराणिक मिथ : अन्धायुग

(ग) लौकिक मिथ

(घ) ग्रीक अँग्रेजी फारसी के मिथ : सिसिफस वक्स हनुमान एवं प्रमथ्यू गाथा

दिनकर-विरचित उर्वशी में वैदिक मानवीय व दैवी चरित्रों के माध्यम से कवि ने भावात्मक तत्वों का विवेचन किया है। उर्वशी का प्रेम शुद्ध ऐन्द्रिय भोग और पुरुरवा का प्रेम सहज मानवीय प्रेम को प्रतीकित करता है जो मृण्मय और चिन्मय है। औशीनरी का प्रेम निर्भोग समर्पण (प्लेटोनिक लव) का प्रतीक है, जबकि सुकन्या का प्रेम गार्हस्थ-प्रेम है जिसमें काम का पूर्ण उपभोग है, परन्तु वह धर्म-स्वीकृत है। कामायनी की समूची कथा का अप्रस्तुत पक्ष—अहंकार की क्लेशमयी स्थिति से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक, मनोमय कोश से आनन्दमय कोश तक का है। मनु मनोमयकोश में स्थित जीव का प्रतीक है, श्रद्धा हृदय (विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति) एवं इडा बुद्धि की प्रतीक है। जलप्लावन के माध्यम से यह इंगित किया गया है कि जब मन ऊपर विज्ञानमय कोश में ही रम जाता है तो चेतन पूर्णतः उस माया में ही भ्रमित हो जाती है।

(२) ऐसी रचना जिसमें महत्त्वपूर्ण मिथिकल अभिप्रायों का नये सन्दर्भों या कल्पित नये वातावरणों में प्रयोग। 'एक कंठ विषपायी' नामक काव्य-नाटिका में दुष्यन्तकुमार ने जर्जर रूढ़ियों एवं परम्पराओं में आसक्त लोगों के सन्दर्भ में शिव के सती शव से चिपके रहने की लालसा को प्रतीकात्मक ढंग से आधुनिक पृष्ठभूमि के नव्य मूल्यों को व्यंजित करने के लिए प्रयुक्त किया है। 'शव' प्रतीक है उन कुश परम्पराओं एवं जर्जर रूढ़ियों का जिनके प्रति रूढ़िवादी आसक्त रहते हैं। वे उन्हीं मृत परम्पराओं को सनातन और चिरन्तन मानते हैं। परम्पराओं का खण्डन और नये मूल्यों की स्थापना उन्हें खटकती है। अतः वे अनावश्यक मोह के कारण नयी स्थापनाओं से ही विद्रोह कर बैठते हैं। सारांशतः 'जर्जर रूढ़ियों और परम्परा के शव से चिपटे हुए लोगों के सन्दर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नये मूल्यों को संकेतित करने के लिए कथा में पर्याप्त सामर्थ्य है।'[१२]

(३) ऐसी रचना जिसमें मिथोपोइक शक्ति कवि की प्रकृति के प्रति दृष्टि में निर्देशित है या मनोवैज्ञानिक उद्वेग, स्वप्न या चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त।

सन्दर्भ-संकेत

१. साइकोलाजिकल रिफलेक्शन (सम्पादित, सं० जैकोबी)। २. ब्रूस्टर ग्रिजोलन : दि क्रियेटिव प्रोसेस, पृ० २२२। ३. हजारीप्रसाद द्विवेदी : लालित्य सर्जना एवं विविक्त वर्णभाषा, अलोचना, अक्टूबर १९६७। ४. तन्त्रलोक—३८।५। ५. लैंगर : लैंग्वेज एण्ड मिथ, पृ० ८८। ६. विलियम के० विमसैट : हिस्ट्री ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म। ७. लैंग्वेज एण्ड मिथ, पृ० ५८। ८. ऐन एसे आन मैन, पृ० २६। ९. फिलासफी इन न्यू की, पृ० ९। १०. लैंगर : फिलिंग एण्ड फार्म, पृ० २४। ११. डॉ० कुमार विमल : सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृ० २५४। १२. दुष्यन्त कुमार : एक कंठ विषपायी।

द्वारा—डॉ० अनिलकुमार बनर्जी,
१२५- ड्रोवेट रोड
विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद

'मतिराम सतसई' में प्रयुक्त सर्वनाम और उनका वर्गीकरणमूलक विवेचन

डॉ० त्रिवेणीदत्त शुक्ल

संज्ञा-रूपों के स्थानापन्न रूप में प्रयुक्त होने वाले पदों को 'सर्वनाम' कहते हैं। वस्तुतः इनका प्रयोग संज्ञा-रूपों के पुनरुक्ति-दोष से बचाने के लिए ही किया जाता है। संज्ञा के स्थानापन्न होने पर भी सर्वनाम रूपों की रचना-प्रक्रिया संज्ञा-पदों की अपेक्षा अत्यन्त जटिल है। संज्ञारूपों के समान इनके प्रातिपदिकों में एकरूपता का सर्वथा अभाव है। संज्ञा की भाँति सर्वनाम में भी वचन और कारक के कारण प्रायः विकार होता है, किन्तु लिंग-भेद की स्थिति प्राप्त नही होती है। कारकों की दृष्टि से सर्वनाम में सम्बोधन कारक का प्रयोग प्राप्य नहीं है। जहाँ तक भेदोपभेद का प्रश्न है, हिन्दी के वैय्याकरणों ने सर्वनाम के प्रमुखतः छह भेद किये हैं—(१) पुरुषवाचक, (२) निश्चयवाचक, (३) अनिश्चयवाचक, (४) निजवाचक, (५) सम्बन्धवाचक, (६) प्रश्नवाचक। ये ही सर्वनाम यत्किंचित् परिवर्तन के साथ 'मतिराम सतसई' में भी प्रयुक्त हुए हैं। विवेच्य कृति में, प्रयोग के आधार पर विश्लेषित सर्वनामों को अधोलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. पुरुषवाचक सर्वनाम, २. निजवाचक सर्वनाम, ३. निश्चयवाचक सर्वनाम, ४. सुदूरवर्ती सर्वनाम, ५. सम्बन्धवाचक सर्वनाम, ६. प्रश्नवाचक सर्वनाम, ७. सार्वनामिक विशेषण।

१. पुरुषवाचक सर्वनाम—आलोच्य सतसई में पुरुषवाचक सर्वनाम के अन्तर्गत तीन पुरुष प्राप्त होते हैं—(क) उत्तम पुरुष, (ख) मध्यम पुरुष, (ग) अन्य पुरुष।

(क) उत्तम पुरुष – सम्पूर्ण मतिराम सतसई में उत्तम पुरुष एकवचन के ही रूप प्रयुक्त हुए हैं। यत्र-तत्र प्रयुक्त बहुवचन के रूप भी एकवचन का ही द्योतन करते हैं। उत्तम पुरुष का प्रयोग विभिन्न कारकीय परसर्गों के साथ हुआ है।

उत्तमपुरुष (एकवचन)

कर्ताकारक– मैं : ३५.१, १८१.१, २२०.१, ३२०.१, ३५०.१, ४७२.१
हौं : ४७२, ३६८.१, ३७५.१, ४४१.१, ५१३.१, ५२८१

कर्मकारक—मोकों : ३१७.२
हमको : ३७५.१
मोहिं : ५१.१, २०६.१, ३२२.१, ४४११, ४४५.१, ४५३.१
हमें ४०७१

मोसों ४३१ १

सम्बन्धकारक—मेरी (स्त्री०) : ३१२.१

मेरे (पुलिंग) : १४४.२, २२०.२, २६०.२, ३०६.१, ४६८.१, ४८८.१

मेरो (पुलिंग) : ४१६.२, ४८६.२

मो (पुलिंग) : १.१, ६४.१, १२२.१ २०६.२, २६४.२, ५६४.१

अधिकरणकारक—मोहू (पुलिंग) : ५३५.२

(ख) मध्यम पुरुष—मतिराम ने अपनी सतसई में मध्यम पुरुष सर्वनामों के भी कारकीय प्रयोग किये हैं। परसर्गों का प्रयोग मात्र एकवचन में हुआ है।

मध्यमपुरुष (एकवचन)

कर्ताकारक—तुम : १६.१, ४७.२, ५१.२, १०५.१, १४३.१, १७५.१, १८२.२, २४१.२, ३१२.१, ३५१.१, ४४१.१, ५२५.१, ६६२.२

तू : ७७.२, १८६.१, २०६.१, ४१६.१

तूँ : ६६.१, १६७.१, १६८.१, ३३६.१, ४८७.१, ६१३.१

कर्मकारक—तुमकों : ३७६.१, ४०६.१

करणकारक—तासों : ६६.२

सम्प्रदानकारक—तोहि : २०६.२, ३२१.२

सम्बन्धकारक—तेरे : ४५.२, ११२.२, १८४.२, १६६ १, २२०.१, ४८६.१, ५०३.१

तिहारे : ५५.१, ६१.१, ८२.२, ६२.१, ११८.२, १६४.१, १८२.२, १६६.१, २००.१, ३३४.१, ५१५.१, ६७५.१

तिहारो : १०१.२, १५७.१, २५४.१, ४१४.२

तेरो : १०७ १, १६१ १, ३४५.१, ३८४.२, ५२४.१, ५४६.१, ५५८.२, ६६७.२

तेरी : ११३.१, १२७.२, १६०.१, २१२.२, २५५.१, ३३६.१, ३४०.१, ४१७.१, ५५७.१, ६७२.१, ६७६.१

तुम्हें : १६४.२, १८१.१, ४२८.२, ५१६.२

तेरोई : १७०.२

तो : ३८६.२, ४८५.१

तै : ३६५.२

(ग) अन्य पुरुष—आलोच्य सतसई में अन्य पुरुष के कारकीय रूप निम्नलिखित प्रकार से निर्दिष्ट किये जा सकते हैं :

अन्यपुरुष (एकवचन)

कर्ताकारक—सो : ६३.१, ३०२.२, ३८५.२, ६१०.२

सोई : १३१.२, १३२.२

कर्मकारक—जाहि : ४.१

ताहि : ११२.२

वाको : ६८६.२

वाही : ५२६.२

याकों : ५६४ २

वैहों : ४१ २
जासों : १५.१, ६८.२

संबंधकारक—ताकी : ४.२
जो : ६५.२, ७६.१
वा : १०३·१, १५८·१
याके : २१०·१
वाके : ३४६·२

अधिकरणकारक—यामें : २८५·१

कर्ताकारण (बहुवचन)—वे : ६२० १

इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्ताकारक को छोड़कर शेष सभी कारकों के साथ एकवचन का प्रयोग हुआ है। कर्ताकारक एकवचन (वह) का बहुवचन रूप (वे) प्रयुक्त हुआ मिलता है।

२. निजवाचक सर्वनाम—मतिराम सतसई में मूलतः 'आप', 'निज' और 'रावरे' यही शब्द निजवाचक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु प्रयोग-विशेष की वैकल्पिकता एवं कारकीय परसर्गों के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में शाब्दिक निष्पन्नता हुई है। इनका प्रयोग एकवचन के रूप मे ही हुआ है। 'रावरे' वास्तव में भोजपुरी का शब्द है। परन्तु नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने चतुरता के साथ बड़े ही सहज एवं स्वाभाविक ढंग से इसका प्रयोग किया है। इससे प्रकट होता है कि कवि के काल तक ब्रजभाषा में भोजपुरी का सन्निवेश होने लगा था।

प्रायोगिक शब्द-सूची—आप : ५४५·१
आपु : २०·१, १७४·१, २८५·२
आपुन : ८·२
आपुनि : ३०१·१
आपुनी : ३६८·१
आपुनो : ५८८·२
आपुहि : २८५·२, ४२०·२
निज : ६७५·२
रावरी : २५७·२
रावरे : ६१८·२, ६४०·१, ६४१·२

३. निश्चयवाचक सर्वनाम—मतिराम ने सतसई में निश्चयवाचक (निकटवर्ती) सर्वनामो का प्रयोग सार्वनामिक विशेषण की भाँति किया है। इनका प्रयोग एकवचन तथा बहुवचन दोनों ही रूपों में मिलता है।

एकवचन—यह : १११·१, ११६·१, १७०·२, १७६·१, २५४·१, २६०·१, ३८४·२, ४८८·२, ५६४·१, ६००·१, ६१६·१, ६८२·२, ६८३·२, ७०१·२।
यहि : २४·१
यहिं : ४७०·२
या : ६४·१
याकी ३६ २

याको ५६४ २

याही : ६८·१, १६८·२

ये : १६८·२, ६८६·१

इत : १७६·१

इतै : ५७ २, ६२·२, २१७·२

इहै : १६४·२

ऐसे : १७६·२

बहुवचन—ए : ३८·२, ४०·२, ७१·२, ७२·२, ८२·२, ८३·१, ८४·१, १११·२, ४१०·२, ५१४·२, ५६३·२, ५८५·१, ६००·२, ६४५·२, ६८५·१

इन्हैं : ५०३·२

४. सुदूरवर्ती सर्वनाम—मतिराम सतसई में सुदूर वस्तुओं के निर्देशनार्थ सुदूरवर्ती सर्वनाम प्रयुक्त हुए हैं। एकवचन एवं बहुवचन दोनों ही रूपों में शब्दों का प्रयोग हुआ है। कारकीय परसर्गों की विविधता के कारण बहुत से नवनिर्मित शब्द मिलते हैं। यथा—

एकवचन—वह : ११·२, १८२·२, २३१·१, २३४·१, ५१८·१, ५२८.१

वा : ८१·२, १२६·१, १५८·१, ३२१·२, ४६८·१

वाकी : २८·२, ३२०·१, ५१७·१

वाके : २८३·२, ५१८·१, ६८८·२

वाको : २८८·१, ६८८·२

वाही : ५२८·२

बहुवचन—वे : ८२·१, ६१०·२

वेई : ११७·२

वै : ६८·२

५. संबन्धवाचक सर्वनाम—मतिराम सतसई मे सम्बन्धवाचक सर्वनाम के निम्नांकित रूप प्रयुक्त हुए हैं। इन सर्वनामों के केवल एकवचन रूप ही प्राप्य हैं। यथा,

जाहि : १·२, ४·१

जासों : १५·१

ज्यों : ४६५·२, ५३६·२, ५४०·२

तासों : ५७१·२

त्यों : २०२·२, ६२७·२

यामें : २८५·१

येहि : १४·२

यँहि : ४७०·२

सो : २८७·२, ३०२.२

सोई : १३१·२

सह-सम्बन्धवाचक सर्वनाम—अर्थों की सूक्ष्मता एवं सहज भावाभिव्यक्ति के लिए मतिराम सतसई में सह-सम्बन्धवाचक सर्वनामों का प्रयोग हुआ है। ये सर्वनाम विशेषतः करणकारक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यथा,

जब जब··· ·······तब तब : ११६·१, २
जा··················· ता : २८८·१, २
जे······················ते : ५०४·१, २
जो····· ············सोई : १३१·२
ज्यों-ज्यों······त्यों-त्यों : १६·२, ११५·१, २, ६२७·१,२

६. प्रश्नवाचक सर्वनाम—आलोच्य कृति में प्रश्नवाचक सर्वनाम का प्रयोग केवल प्रश्नार्थ किया गया है। इसमें लिंग-भेद तथा वचन-परिवर्तन की स्थिति में भी शब्दों के भिन्न रूप नहीं मिलते। दृष्टान्तस्वरूप शब्दों के प्रायोगिक रूप निम्नलिखित हैं :

कहा : २८·१, ४७·२, १५१·१, १७१·२, १७६·१, १८३·२, २३२·१, ३०३·१, ४७४·१, ६४०.१, ६४७·२
कहाँ : ५०·२
काहे : ५८·२, १३०·२
किन : ४२३·२
कैसी : ५८·१
कैसे : ३५·२, ७५·२, ५१७·२
कैसे : ३८२·२
कैसेहुँ : ७६·१
कैसो : २००·१
कौन : ३७·१, २११·१, ४०५·२, ६५८·२, ६८८·१
क्यों : ८०·२, ८७.१, ११८·२, १४३·१, २४२·१, २८०·२, २८३·१, ३२१·२, ३२२·१, ३२३·१, ३३२·२, ५७४·२

७. सार्वनामिक विशेषण—मतिराम सतसई में कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो वास्तव मे सर्वनाम हैं, किन्तु संज्ञा के पूर्व आने के कारण विशेषण का आभास देने लगे हैं। ऐसे शब्द प्रायः प्रयोग पर आधारित हैं। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार के प्रयुक्त हुए शब्दों वाली कतिपय दोहों की अर्धालियाँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं :

जमुनातट वा कुंज मे तुम जू दई ही माल।[१]
हों देखित हों वाहि यहिं बात सुनत बिन।[२]
चाहत जे तिय पै इन्हैं बातनि हनत मनोज।[३]
वाके हिय के हनन कों भयो पंचसर बीर।[४]
या रसाल की मंजरी सौरभ सुभ सरसात।[५]
ओ सजनी गुनगननि बस अति सनेह रस मानि।[६]
वाके नैननि होत हैं कुबलय किधौं चकोर।[७]

द्रष्टव्य है कि मतिराम सतसई में प्रयुक्त प्रायः सभी सर्वनाम अपनी अन्तिम ध्वनि की दृष्टि से स्वरान्त हैं। अधिकांशतः तद्भव रूपों में ही प्रयुक्त हुए मिलते हैं। इनके (सर्वनामों के) सन्दर्भ में दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

(१ सर्वनामो के साथ कारकीय परसर्गों का प्रयोग विवेच्य सतसई में कतिपय

सर्वनामों के साथ कारकीय परसर्ग प्रयुक्त हुए मिलते हैं जो सर्वनामों के विशिष्ट प्रयोग का निदर्शन करते हैं। इस प्रकार के प्रायोगिक रूपों के कुछ उदाहरण नीचे द्रष्टव्य हैं :

मेरी सिख सीखे न सखि मोसों उठै रिसाइ।[८]
याको नीकें राखियो पिय बसाइ निज अंग।[९]
दृगनि मारि घायल कियो तासों बाँधत प्रेम।[१०]
लगनि लगे लोचन लखे जासों मोहन लाल।[११]

(२) दोहरे सर्वनामों का एकसाथ प्रयोग—मतिराम की सतसई में कहीं-कहीं पर दो-दो सर्वनामों का एकसाथ प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रयोगों में जहाँ एक ओर अर्थ में भिन्नता आयी है, वहीं दूसरी ओर अर्थगत विशिष्टता भी दृष्टिगत हुई है। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार के कुछ सर्वनाम रूप नीचे दिये जा रहे हैं :

जब वाके चित हित भयो चलन लगे तब लाल।[१२]
तेरी औरे भाँति की दीप सिखा सी देह।[१३]
औरैं कछु चितवनि चवनि औरे मृदु मुसकान।[१४]

वस्तुतः दो सर्वनामों के योग से बने होने के कारण इन्हें 'संयुक्त सर्वनाम' की संज्ञा दी जा सकती है।

सन्दर्भ-संकेत

१. (४६९·१)। २. (४७०·२)। ३. (५०३·२)। ४. (५१९·१)। ५. (५६९·२)। ६. (५८८·२)। ७. (५५७·२)। ८. (४३१·१)। ९. (५६४.२)। १०. (६९·२)। ११. (५१·१)। १२. (२८३·२)। १३. (६१·१)। १४. (४०४·१)।

३५०, ए-बख्शी खुर्द,
दारागंज, प्रयाग

'ईसायण' : अछूता अवधी महाकाव्य

□

श्री मायापति मिश्र

युग का 'स्वर्ण-काल' कहलाने वाला प्रत्येक विषय अपनी समृद्धि, सामर्थ्य एवं महत्त्व की प्रचुरता के कारण काल-कवलित होने पर भी कुछ समय के लिए स्थायित्व प्राप्त कर लेता है। बोधगम्यता, स्पष्टता के साथ-साथ तीव्रता एवं प्रयोग की सार्थकता वस्तु या विषय को स्वर्णिम बनाने में आधार का काम करती है। उपर्युक्त विशेषताओं को अपने में समाहित कर पाने के कारण ही मध्यकाल, हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण-युग' कहलाया। परिवर्तनीय परिवेश के साथ ही साहित्य और भाषा का मूल ढाँचा भी चरमराने लगता है। मध्यकालीन साहित्य-सृजन की भाषा 'मूल रूप से ब्रज और सामान्यतः अवधी' के विषय में भी ठीक यही बात कही जा सकती है। सूर, बिहारी और केशव ने जिन करील-कुंजों को अपनी कलम को स्याही से सींचा था, उनमें समय की गति ने पतझड़ ला दिया। भारतेन्दु-युग तक आते-आते हरे-भरे ब्रजकुंजों के पत्ते पीले पड़ने लगे। छायावाद के प्रारम्भ-काल में जयशंकर प्रसाद को छोड़कर किसी कवि ने उधर नजर भी नही डाली। फिर भी उपेक्षित ठूंठ खड़े करीलों में नमी जरूर रही जो प्रेरणा के बोझ से दबी तो 'छन्द-शती' (डॉ० जगदीश गुप्त कृत) के रूप में फूट आई। परन्तु अवधी भाषा के अपार सागर— 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत' से उठने वाली उत्ताल भाषिक तरंगें शीघ्र ही काल के कराल मे समाहित हो गयीं। आज भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा उदाहरण के तौर पर लिखे गये कुछ वाक्यों के अतिरिक्त लोकगीतों के रचयिताओं एवं उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में वर्णित ग्रामीण पात्रों को छोड़कर अवधी भाषा का नामलेवा साहित्य-जगत् में कोई नहीं है। बम्बइया फिल्मों में इधर बीच 'अवधी' के प्रयोग पर विशेष बल दिया गया है। बिना सृजनात्मकता अपनाये पैसे या मनोरंजन के लिए बोली जानेवाली भाषा को कभी भी स्थायित्व नही मिल सकता।

एस० मार्शलीन कृत 'ईसायण' अर्थात् 'येसु-कथामृतम्' अवधी भाषा में लिखा गया एक ऐसा महाकाव्य है जो आज अवधी बोली के महत्त्व को एक बार पुनः समर्थ साहित्यिक भाषा के रूप में सिद्ध कर देता है। अवधीभाषी जनमानस में ईसा-चरित्र की स्थापना एवं ईसाई धर्म के प्रचार को दृष्टिपथ में रखकर लिखी गयी इस पुस्तक की ओर साहित्य-प्रेमियों और समीक्षकों का ध्यान नहीं पहुँच पाया। धार्मिक मुद्दा अपनाने के कारण 'ईसायण' साहित्यिक होकर भी साहित्य से परे चर्चों के पुस्तकालयों में टहलती रही, इसीलिए यह अवधी साहित्य-सम्पदा अछूती रह गयी। साहित्य को धर्म के नाम पर पृथक् करना एक भारी भूल है। 'पद्मावत' की रचना के पीछे भी तो जायसी में 'सूफी' मत (प्रेम की पीर) की स्थापना की लालसा छिपी रही। विदेशी 'सूफी' मत के पोषक 'पद्मावत' को फिर क्यों भारतीय साहित्य ने अपना लिया? शायद यह कहकर कि इसकी भाषा, रचना-पद्धति, परम्परा, वर्णन-विषय, चरित्र तथा रचना-स्थल सभी कुछ भारतीय है। ईसायण' और पद्मावत में मूल अन्तर यह है कि इसका मुख्य विषय 'ईसा चरित्र' एक विदेशी चरित्र है, न कि भारतीय। मूल विषय (कथा एवं चरित्र) के अतिरिक्त भाषा, रचना-पद्धति तथा

लक्ष्य 'ईसायण' का भी वही है जो पद्मावत का। इतना सब कुछ होते हुए भी क्या यह महत्त्व-पूर्ण साहित्यिक कृति नहीं बन सकती ?

'ईसायण' में कथा प्रारम्भ से पहले केवल इतना लिखा हुआ मिलता है—'ईसायण' अर्थात् 'येसु कथामृत' जिसे एस० मार्शलीन ने नये नियम के सुसमाचार के कथानकानुसार छन्द रूप मे लिखा। तत्पश्चात् मुद्रित और प्रकाशित करने वाले स्थान का नाम 'कैथोलिक मिशन प्रेस, Bettion' और सन् १६३८ लिखा हुआ मिलता है। इसके लेखन की निश्चित तिथि पाण्डुलिपि सामने रखे बिना निश्चित करना असम्भव है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यातव्य यह है कि इसमें लिखने के अतिरिक्त कम्पोज करने वाले व्यक्ति का नाम भी एस० मार्शलीन ही लिखा हुआ है। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या कम्पोजिंग करने वाला व्यक्ति ही काव्य का रचयिता है ? अगर यह बात सत्य है तो फिर 'ईसायण' का लेखन-काल भी प्रकाशन के समय १६३८ से कुछ वर्ष पूर्व माना जा सकता है। इतना कुछ होते हुए भी निश्चित तिथि के अभाव में लेखन-काल की वास्तविकता के विषय में एक सुदृढ़ मत नही दिया जा सकता। रचनाकार का एस० मार्शलीन नाम ईसाई जाति का है, परन्तु यहाँ सन्देह की गुंजाइश यह है कि सम्भवत: यह व्यक्ति प्रारम्भ में हिन्दू रहा हो और बाद को चलकर धर्म-परिवर्तन करके ईसाई बन गया हो। सत्यता जो भी हो, प्रत्यक्ष प्रमाणो के अभाव में ये सारी बातें आज शोध का विषय हैं।

'रामचरितमानस' और 'पद्मावत' की रचना-पद्धति को आधार मान कर लिखे गये 'ईसायण' महाकाव्य का आरम्भ 'मंगलाचरण' दोहा से होकर अन्त सोरठा से हुआ है। सम्पूर्ण पुस्तक चार अध्यायो में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय मे महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को 'बाब' नाम से अभिहित किया गया है। 'ईसायण' में उद्धृत 'बाब' शब्द अपने में एक नवीन प्रयोग है। सम्पूर्ण पुस्तक पढने पर पता चलता है कि इसमें साहित्यिकता के नाम ज्यादा सामग्री नहीं है। शैली मुख्यत: वर्णनात्मक है। प्रकृति-चित्रण प्रसंगानुकूल मिलते हैं जिनमें काव्यात्मकता की विशेष गरज नही दिखाई देती। 'कथा-वर्णन' प्रधान यह महाकाव्य अपने लक्ष्य की स्थापना के साथ ही साथ दोहा, चौपाई और सोरठा जैसे छन्दों का अन्त तक सफलतापूर्वक निर्वाह कर ले जाने में पूर्णतया सक्षम सिद्ध हुआ है। यही इस पुस्तक की सबसे बडी साहित्यिक विशेषता मानी जायेगी। विदेशी स्थानो एवं व्यक्तियों के नामों को भी यथानुकूल तोड़-मरोड़ कर अवधी भाषा के रंग में रँग लिया गया है।

'ईसायण' के प्रकाशन के समय छायावाद अपनी वायवीय उड़ान मे सूक्ष्म नारी-वर्णन की बहुलता का पूर्ण प्रभाव दिखा चुका है। इसके पहले काव्य में नारी-सौन्दर्य-वर्णन का स्थूल धरातल व्याप्त था। फिर भी ईसायण' के कवि ने अपने को विश्व-माया की परम सम्मोहिनी शक्ति का साकार रूप नारी के रूप-सौन्दर्य और देह-गन्ध से आकर्षित होकर उसके सम्मुख प्रणय-निवेदन करने में असमर्थ पाया है। इसमें माता या भक्त के रूप में ही नारी का परिचय मिलता है। अपने परिवेश से पीछे हट कर मान्य परम्परित साहित्यिक शैली एवं भाषा की स्थापना करना, जनमत संग्रह के अतिरिक्त अनुमानित लक्ष्य-प्राप्ति का सफल प्रयास तथा प्राचीनता के प्रति व्याप्त मोह का प्रमाण है। महापुरुषों के चरित्र या धार्मिकतापरक महाकाव्य का रचयिता नूतनता की टोह में कथातत्त्व (वैशिष्ट्य) का ह्रास कर देता है तो उसका काव्य कहानी, रेखाचित्र या डायरी बनकर रह जाता है। चिन्तन और सृजन दो ऐसे विषय हैं जिनके माध्यम से मनुष्य अपनी संस्कृति-सभ्यता, प्रगति-अवनति, सुख-दु:ख, धर्म-अधर्म सभी कुछ व्यक्त कर सकता है। पाठक एवं श्रोता [illegible] विचारों के सहारे ही अनुभव एवं अभिव्यक्ति के आधार पर अपनी [illegible],

बुद्धि तर्कना शक्ति की सार्थकता तथा मानसिक परिपक्वता का आकलन करता है उपर्युक्त बातों को दृष्टिपथ में रखकर ही एस० मार्शलीन ने 'ईसायण' की रचना जनभाषा अवधी में की। 'मानस' और 'पद्मावत' की रचना-पद्धति पर रचित इस काव्य में प्रसंगानुकूल चित्र भी दिये गये हैं जिनका उद्देश्य स्पष्ट ढंग से पाठकों को कथा का पूर्ण बोध कराना है।

संक्षेप में पूरे काव्य की रूपरेखा इस प्रकार है—

अध्याय १ में ईसा मसीह के आगमन एवं बाल्यकाल का वर्णन ८ बाबों में किया गया है।

अध्याय २ में कुल ५४ बाबों में ईसा के प्रत्यक्ष जीवन और उनके कार्यों का वर्णन मिलता है।

अध्याय ३ में ईसा के दुःखभोग और मृत्यु का वर्णन यथोचित ढंग से १५ बाबों में किया गया है।

अध्याय ४ के कुल ७ बाबों में तो ईसा की महिमा का वर्णन है। शेष १६ बाबों में ईसा मसीह की मण्डली (गिर्जा) का वर्णन मिलता है।

पुस्तक के अन्त में विषय-सूची के अतिरिक्त अशुद्ध प्रयोगों का शुद्ध रूप, पृष्ठ एवं पंक्ति-संख्या सहित मिलता है।

नमूना के लिए 'ईसायण' से १ दोहा, दो चौपाई एवं एक सोरठा नीचे दिया जा रहा है :

दोहा

"पिता, पुत्र पूतात्मही, सुमिरों आठो याम।
जिनकी कृपा कटाक्ष तें, होत सिद्ध सब काम॥"

चौपाई

मम पीछे आवहु तुम भाई। कहत मसीह फिलीपहिं पाई॥
मूसा आदि अपर पैगम्बर। जासु विषय बरनत बानी बर॥

सोरठा

"कारागृह मों जान, भयो बन्दि वहि समय मों।
तेहि पीछे भगवान, ढूढ़त फरेसी तिनहु को॥"

उपर्युक्त प्रमाणों एवं समर्थ साहित्यिक भाषा-प्रयोग के आधार पर मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि हिन्दी साहित्य में 'ईसायण' एक अछूती महत्त्वपूर्ण अवधी साहित्य-सम्पदा है। क्षेत्रीयता एवं साम्प्रदायिकता का विष देश की अखण्डता को जर्जर बना देता है। यह विष भाषा, जाति एवं धर्म के सहारे पोषित होता है। हिन्दी प्रेमियों, साहित्यकारों एवं समीक्षकों से मेरा अनुरोध है कि वे प्रत्येक क्षेत्र की सीमा और संकुचितता को त्याग कर 'ईसायण' को उसका यथोचित पद प्रदान करें।

सह-सम्पादक, 'प्रगति' मासिक
१६, गंगागंज, इलाहाबाद

समकालीन कविता की भाषा और अपशब्द

□

डॉ० अनूपकुमार

समकालीनता एक व्यापक कालसापेक्ष अवधारणा है। अपनी व्यापकता में यह विभावन उन सभी रचनाकारों और उनके कृतित्व को समेट लेता है जो आज के युग में रचना-कर्म में रत हैं (अथवा जो कुछ वर्षों पूर्व साहित्य-रचना कर चुके हैं या अद्यावधि कर रहे हैं), किन्तु आज के समय में समकालीन विभावन उन रचनाकारों के लिए रूढ़ हो गया है जो घोषित करते हैं कि वे जनवादी हैं, उनका कृतित्व व्यवस्था-विरोधी है। ऐसे समकालीन कवि, वास्तव में, व्यवस्था को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाते हुए उस पर प्रहार करते हैं। घोषित जनवादी कवियों ने आज के आदमी की व्यथा, पीड़ा, चिड़चिड़ाहट, क्रोध, प्रतिशोध न ले पाने की विवशता को वर्णित किया है, बारम्बार उसका उल्लेख किया है, किन्तु उनकी अभिव्यनित अधिकांशतया काव्य के स्तर तक पहुँचने में असमर्थ रही है : प्रत्येक अभिव्यक्ति काव्य नहीं हो सकती, इस बात को आचार्य भामह ने अच्छी तरह समझाया है—

> गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण: ।
> इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ॥[1]

अर्थात्, सूर्य अस्त हो गया है, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी नीड़ों में जा रहे हैं—ऐसी भी उक्ति क्या काव्य है ? इसे वार्त्ता कहते हैं। भामह ने 'वार्त्ता' शब्द को इस आशय से प्रयुक्त किया है कि भाषा द्वारा सीधी अभिव्यक्ति काव्य नहीं कही जाएगी। काव्य के स्तर तक पहुँचने के लिए भाषा का विशिष्ट होना अनिवार्य है। विशिष्ट भाषा-प्रयोग से अभिप्राय है भाषा को रचनात्मक बनाते हुए उसका प्रयोग करना। इस अर्थ में भाषा को ग्रहण करते हुए कहा जा सकता है कि आज तक ऐसा कोई कवि नहीं हुआ जिसने भाषा को उपेक्षित करके यश और सफलता पायी हो। सभी कवियों ने भाषा पर परिश्रम करते हुए उसे विशिष्टता प्रदान की है और जो कवि भाषा को जितनी रचनात्मकता से युक्त कर सका, उसी अनुपात में उसे सफलता भी मिली। इस तथ्य को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है कि कवियों की असफलता का मूल कारण रहा है—भाषा के प्रति उनकी उपेक्षा।

समकालीन कविता में जनसामान्य की समस्याओं को प्रमुख रूप से वर्णित किया गया है, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु इन कवियों ने व्यवस्था की विसंगतियों, उसकी विरूपताओं को सीधे-सीधे कह भर दिया। काव्य में बिना विशिष्टता के सीधे-सपाट ढंग से कही गयी बात ज्यादातर प्रभावहीन हुआ करती है। इस कारण, इस कविता में भाषा गौण हो गयी, विषय प्रधान हो गया। सन्दर्भ-सापेक्ष कौन-सा शब्द प्रभाव-व्यंजक होगा, इस ओर इन कवियों का कुछ भी ध्यान नहीं रहा—

सड़क के पिछले हिस्से में
छाया रहेगा
पीला अन्धकार
शहर की समूची पशुता के खिलाफ़
गलियों में नंगी घूमती हुई
पागल औरत के 'गाभिन पेट' की तरह
सड़क के पिछले हिस्से में छाया रहेगा अन्धकार।[२]

यहाँ धूमिल जनतन्त्र में व्याप्त नैराश्य-भाव को व्यक्त करना चाहते हैं, किन्तु भाषा में प्रयुक्त 'गलियो में नंगी घूमती हुई पागल औरत के 'गाभिन पेट' की तरह' वाक्य को देखकर ऐसा अनुभव होता है कि वे सही रास्ते से जाते-जाते अचानक भटक गए। ऐसे अश्लील उदाहरण जनतंत्र की विसंगतियों के प्रति क्षोभ न उत्पन्न कराकर, कवि की भाषा के प्रति रोष और वितृष्णा के भाव को जन्म देते हैं। शब्द को ब्रह्म के रूप में परिकल्पित करते हुए शब्दों की असीमित सत्ता की ओर काफी पहले ही संकेत किया जा चुका है जिसे समकालीन कविता के रचयिताओं ने बिलकुल भुला दिया। शब्द की क्षमता और उसकी महत्ता को उपेक्षित करते हुए, भाषा पर परिश्रम न कर सकने की अपनी अक्षमता को ये कवि बहुत वीरता से स्पष्ट बयानी का रूप देने का प्रयास करते है। युग और उसकी मान्यताओं में परिवर्तन होने से भाषा के स्तर में भी बदलाव आना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होता है; किन्तु यदि रचनाकार को अपनी अनुभूतियों को कविता में अभिव्यक्त करना है, तो शब्दों के वैशिष्ट्य को समझे बग़ैर उसका काम नही चल सकता। समकालीन कविता की भाषा का समर्थन करनेवाले आलोचक, इन कवियों की भाषा के प्रति उपेक्षा व आन्तरिक अनुशासन की अवहेलना के मूल कारण को, इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं, "आग या सैलाब की तरह स्वतःस्फूर्त समकालीन कविता का लेखक, लिखते समय कलात्मक चौकसी बिलकुल न रखता हो, ऐसा नहीं है। मगर वह आन्तरिक कसावट या अनुशासन कवि का गला नहीं पकड़ता, वह उसे उमड़ने, उबलने देता है।"[३] विद्वान् आलोचक की उक्त धारणा को उसी क्षण आघात लगता है, जब वह कलात्मक चौकसी को प्रमुखता देता है और आंतरिक कसावट व अनुशासन को अभिव्यक्ति के मार्ग में अवरोध मानता है। उपाध्याय जी ने जिसे आंतरिक कसावट या अनुशासन कहा है, उसे भाषा का विशिष्ट प्रयोग कहना भी असंगत नही प्रतीत होता है। कविता के महत्त्वपूर्ण होने के लिए आंतरिक कसावट और अनुशासन ही मुख्य अभीष्ट है। यदि कवि अपनी अभिव्यक्ति में सिर्फ बाह्य दृष्टि से कलात्मक चौकसी रखता है, तो उसकी कविता सच्चे अर्थों मे कविता नहीं कहलाएगी। मैथिलीशरण गुप्त ने जिन स्थलो पर सिर्फ़ तुक, अलंकारों आदि का ही ध्यान रखा, वहाँ वे काव्यत्व-सिद्धि को प्राप्त करने में सफल नही हुए। 'साकेत' की निम्नलिखित पंक्तियाँ उक्त कथन की पुष्टि के लिए प्रस्तुत हैं—

रखकर उनके वचन, लौटते लोग थे,
पाते तत्क्षण किन्तु विशेष वियोग थे।
जाते थे फिर वही टोल के टोल यों—
आते-जाते हुए जलधि-कल्लोल ज्यों।[४]

यहाँ अंत्यनुप्रास और उदाहरण अलंकार की योजना की गयी है, पद-मैत्री भी है। किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि उक्त पंक्तियाँ काव्यत्व की कोटि में कदापि नहीं आ सकतीं क्योंकि यहाँ सिर्फ ८ या भामह के शब्दो में वार्त्ता मात्र है

उपाध्याय जी के पूर्वउद्धृत वक्तव्य से यह ध्वनि निकलती है कि आन्तरिक कसावट या अनुशासन कवि की भावनाओं को ठीक तरह से अभिव्यक्त होने से रोकता है। इसके विपरीत, समर्थ कवि को भाषा को विशिष्टता प्रदान करते हुए अपने अभीष्ट को व्यंजित कराने में किसी प्रकार के अवरोध का सामना नही करना पड़ता। निराला की बहुचर्चित कविता 'वह तोडती पत्थर' की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

श्याम तन, भर बँधा यौवन
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ
करती, बार-बार प्रहार;—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।[५]

यहाँ कवि बाह्य अनुशासन से मुक्त हो गया है, किन्तु आन्तरिक अनुशासन या शब्दों की प्रसंगानुकूल योजना को कवि ने प्रश्रय देते हुए अपने अभीष्ट को व्यक्त करने में सफलता प्राप्त की है। उक्त पंक्तियों में कवि की शब्द-योजना का वैशिष्ट्य देखते ही बनता है। 'श्याम तन' मे 'श्याम' शब्द पत्थर तोड़ती हुई युवती के शरीर की श्यामलता को व्यक्त करने के साथ-साथ प्रचण्ड धूप से झुलसे हुए उसके शरीर की ओर भी सकेत करता है। 'भर बँधा यौवन' युवती की पूर्ण युवावस्था को व्यक्त करके ही मौन नहीं हो जाता, वरन् कष्टदायी परिस्थितियां द्वारा उसके यौवन को आशाओं, आकाक्षाओं के पूरी तरह से जकड़ लिए जाने की ओर भी इंगित करता है। 'नत नयन' में 'नत' शब्द उसकी पत्थर तोड़ने की मुद्रा को चित्रित करने के साथ-साथ यह भी व्यक्त करने में पूर्णरूपेण समर्थ हुआ है कि उसका व्यक्तित्व परिस्थितियों के दबाव से अदना होकर रह है। 'गुरु' शब्द 'हथौड़ा' के भारीपन को व्यक्त करते हुए व्यवस्था के उस अन्याय पर भी व्यंग्य करता है जिसमें एक कोमलांगना को दुःसह्य कर्म करने के लिए विवश किया गया है। गुरु हथौडे से बार-बार प्रहार करना पत्थरों को निरन्तर तोड़ते रहने की उसकी स्थिति को वर्णित करने के साथ-साथ समाज के शोषकों द्वारा स्वयं उसी पर (पत्थर तोड़नेवाली युवती पर) लगातार होने वाली चोट को भी लक्षित करता है। इसी के बाद 'सामने तरु-मालिका, अट्टालिका, प्राकार' शब्दो की प्रस्तुति व्यवस्था मे व्याप्त विभिन्न जटिल, भयावह अन्तर्विरोधों की ओर कटाक्ष करने में पूरी तरह से सार्थक सिद्ध हुई है। इसी विवेचन-क्रम में समकालीन कविता के प्रतिनिधि कवि धूमिल की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं जिनमें भी व्यवस्था की विसंगतियों को वर्णित किया गया है—

वह कौन सा प्रजातांत्रिक नुस्खा है
कि जिस उम्र में
मेरी माँ का चेहरा
झुर्रियों की झोली बन गया है
उसी उम्र की मेरी पड़ोस की महिला
के चेहरे पर
मेरी प्रेमिका के चेहरे-सा
लोच है।[६]

धूमिल ने भी व्यवस्था की विद्रूपताओं को व्यक्त करने मे सफलता प्राप्त की है, किन्तु निराला की 'वह तोड़ती पत्थर' कविता धूमिल की पंक्तियों से कई गुना ऊंची उठ जाती है। कारण

यह है कि संवेदना के स्तर में निराला ने भाषा को विशिष्ट बनाते हुए, शब्दों की रचनात्मक क्षमता का भरपूर प्रयोग करते हुए अपनी बात को अभिव्यक्त किया है, किन्तु धूमिल की पंक्तियाँ एक सपाट कथन से आगे नहीं बढ़ पातीं। शब्दों की ऐसी योजना जो अर्थ को अनेक स्तरों पर उद्‌घाटित करके एक समग्र प्रभाव निष्पन्न करती है, उसकी धूमिल की उक्त पंक्तियों में बिलकुल उपेक्षा कर दी गयी। इसीलिए ये पंक्तियाँ व्यवस्था की विसंगति को व्यापकता और मार्मिकता से व्यक्त करने में अक्षम हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि समकालीन कवियों ने सपाटबयानी की आड़ में अनेक स्थलों पर अपनी भाषा में अश्लील शब्दों का प्रयोग किया है। पाठकों और आलोचकों को भाषा की इस अश्लीलता के प्रति आपत्ति होना स्वाभाविक है, किन्तु समकालीन कविता का समर्थन करनेवाला आलोचक इस प्रकार की भाषा को उचित ठहराते हुए कहता है, "पुरानी कविता के संस्कारों का अभ्यस्त पाठक चौंकता है। उसकी संवेदना को आघात लगता है। उसे यह 'गुंडई' पसन्द नहीं आती। लेकिन, कवि जब मानव-विरोधी वर्गों और शक्तियों की हरकतों की अश्लीलता की ओर संकेत करता है, तब पाठक स्वातन्त्र्योत्तर जनद्रोही दशाओं की कुत्सितता और कुरूपता पहचान लेता है और समकालीन कविता की भाषा का नंगापन जायज़ लगने लगता है।"* यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या किसी को लांछित करने का, उसके दुराचारों व अत्याचारों को अनावृत्त करने का एकमात्र साधन अश्लील शब्द ही हैं? अथवा, क्या बलात् ठूंसे गए अश्लील शब्दों के प्रयोग को अनुचित मानना पुरानी कविता के संस्कारों से ग्रस्त होना है? कवि में यदि सामर्थ्य है, तो वह अश्लील शब्दों के प्रयोग से बच कर भाषा में ऐसा तेवर ला सकता है जो समाज में वर्गों के बीच की खाईं को दिनोंदिन चौड़ी करनेवालों के वास्तविक रूप को तत्काल अनावृत्त कर सकता है। समकालीन कविता के सन्दर्भ में अश्लील शब्दों के प्रयोग को उसके समर्थकों द्वारा खूब समर्थन मिला। यह स्थिति इस सीमा तक पहुँच गयी कि जो कवि अपनी कविता में जितने अश्लील शब्दों का प्रयोग करता है, उसके समर्थक उसे उतना ही उग्र व्यवस्था-विरोधी, जनवादी मानते हुए उसकी वाहवाही करते हैं। ऐसे ही कुछ लोगों का समर्थन पाकर कवि दुगने उत्साह से और बड़ी गाली को, अश्लील शब्दों को प्रयुक्त करता है। समकालीन कविता के समर्थक आलोचकों के इस दृष्टिकोण को देखकर उभरती प्रतिभाएँ भाषा में अश्लील शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति को अपना आदर्श मानकर उसी लीक पर चलने लगती हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यदि रचनाकार अपनी रचना में किसी दुर्दान्त अत्याचारी के मुख से गाली-गलौज के शब्द उच्चरित करवाता है, तो वह पात्र के चरित्र व व्यक्तित्व को उद्‌घाटित करने में सहायक होता है। उदाहरणार्थ, विजय तेंदुलकर के बहुचर्चित नाटक 'घासीराम कोतवाल' में नाटककार ने कन्नौज के ब्राह्मण घासीराम के पूना के कोतवाल हो जाने पर उसके मुख से हरामजादा, रंडीबाज आदि जो शब्द उच्चरित करवाये हैं, वे उसके अन्दर विद्यमान प्रतिशोध की ज्वाला को, उसके खूँख्वार होने की स्थिति को सूचित करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। इसके विपरीत, समकालीन कविता के मसीहा धूमिल ने अपनी रचनाओं में जहाँ अश्लील शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ वे शब्द कवि के व्यक्तित्व के अंग होकर नहीं आए, वरन् वे जानबूझकर ठूंसे गये से प्रतीत होते हैं—

यह एक खुला हुआ सच है कि आदमी—
दायें हाथ की नैतिकता से
इस कदर मजबूर होता है

कि तमाम उम्र गुज़र जाती है मगर गाँड़
सिर्फ़, बायाँ हाथ धोता है ।"

इन पंक्तियों में कवि व्यवस्था की असंगति को व्यक्त करना चाहता है, किन्तु अश्लील शब्दों के प्रयोग उसके कवि-सामर्थ्य की अक्षमता, उसकी दृष्टि की निकृष्टता के परिचायक हैं निराला ने भी व्यवस्था में व्याप्त अंतर्विरोधों को व्यंजित करते हुए कुकुरमुत्ता द्वारा गुलाब को 'अबे' व 'बे' कहलाकर उसके प्रति अपने आक्रोश को प्रकट किया है । इन दोनों शब्दो में कुकुरमुत्ता की गुलाब के प्रति उपेक्षा, तिरस्कार, तिक्तता पूरी तरह से उजागर हुई है—

आया मौसिम, खिला फ़ारिस का गुलाब
बाग़ पर उसका जमा था रोबोदाब;
वहीं गन्दे में उगा देता हुआ बुत्ता
पहाड़ी से उठा सर ऐंठकर बोला कुकुरमुत्ता—
"अबे, सुन बे, गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू रंगोआब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट ।"[६]

प्रतीक और व्यंग्य का आश्रय लेकर कवि ने अपने अभीष्ट को व्यंजित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की । 'अबे', 'बे' शब्द अश्लीलता के सूचक न होकर तिरस्कार के भाव को व्यंजित करते हैं । 'अशिष्ट' शब्द पूँजीपतियो पर इस रूप में व्यंग्य करता है कि वे सदैव अशिष्ट आचरण करते है । इसी कविता में कवि ने कुकुरमुत्ता द्वारा गुलाब को कहलाया है, 'तू हरामी खानदानी' । 'हरामी' शब्द यद्यपि गाली माना जाता है, किन्तु कवि ने अभिधा के रूप में लेते हुए इस शब्द को इसके शाब्दिक आशय से प्रयुक्त किया । 'हरामी' का शाब्दिक अर्थ होता है—जारज या संकर । एक तरह के गुलाब की कलम को काटकर, दूसरे प्रकार के गुलाब को कलम से जोड़कर एक नये क़िस्म के गुलाब को पैदा करने की रीति सुपरिचित है । 'हरामी खानदानी' कहकर कुकरमुत्ता ने गुलाब को संकर बताते हुए उसे बुरा बताया है । दूसरी ओर यदि 'हरामी' शब्द से धूर्त, चालाक, फरेबी जैसे अर्थ लें, तो यह शब्द 'खानदानी' शब्द के साथ मिलकर पूंजीपतियों के पुश्त-दर-पुश्त के दुराचरण का पर्दाफ़ाश कर देता है ।

धूमिल ने पूर्वोद्धृत पंक्तियों में अश्लील प्रतीक और शब्दों का प्रयोग करके भाषा को गर्हित बना दिया । भाषा में अश्लील शब्दों के प्रयोग की प्रेरणा धूमिल को भूखी पीढ़ी के कवियों और बीट कवियों की भाषा को देखकर मिली है जिससे प्रमाणित होता है कि धूमिल द्वारा भाषा में अश्लील शब्दों का प्रयोग किया जाना उसके कवि-व्यक्तित्व की उपज कदापि नहीं थी, बल्कि वह प्रवृत्ति प्रभाव से ग्रहण की गयी थी । एलेन गिंसबर्ग जैसे बीट कवियों को अपना परम आदर्श मानते हुए साठोत्तरी कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में अपशब्दों को, बगैर किसी अभिप्राय के, बहुतायत से प्रयुक्त किया । इसी क़िस्म की कविता बाद मे 'अकविता' के रूप मे सामने आयी । राजकमल चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार आदि अकविता के विशेष समर्थक एवं प्रचारक रहे । कविता में अर्थवत्ता को उपेक्षित करते हुए इन कवियों ने जिस प्रकार की कविताएँ (?) कीं, उनके सम्बन्ध में श्याम परमार का यह कथन द्रष्टव्य है, "अगर वे बोधगम्य नहीं हैं, तो न सही । वह कब कहता है कि उन्हें समझा जाए । अर्थवत्ता का सवाल ही नहीं

उठता।"[१०] इसी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए जगदीश चतुर्वेदी ने 'कालाचक्र' शीर्षक कविता मे निम्नलिखित पंक्ति का प्रयोग किया—

कुत्तों का अभिसार गाँवों में एक दिलचस्प घटना है।[११]

श्याम परमार ने 'नाराज़ निगाहों के हस्ताक्षर' शीर्षक कविता में अपनी भावनाओं को इस रूप में अभिव्यक्ति दी—

स्वप्न संज्ञाएँ बुनता हुआ एक कबूतर उन चेहरों
पर से होता हुआ चौखानों में गणित के सवाल
हल करने लगता है और
फ़र्श पर मरे हुए मकड़े को गेंडा समझकर
उसके क़रीब बीट कर देता है।[१२]

ध्यातव्य है कि अकविता का ज़ोर हिन्दी में ही नहीं चला, बल्कि उस काल की बंगला कविता (कवि—आलोक सरकार, सुनील गंगोपाध्याय आदि), गुजराती कविता (कवि—हेमन्त देसाई, दिलीप ज़वेरी आदि) में भी अकविता की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। अकविता ने समकालीन कविता को अपशब्दों के प्रयोग के स्तर पर जिस तरह प्रभावित किया, वह धूमिल आदि कवियों की भाषा में स्पष्टत: दृष्टिगत होता है। इस प्रसंग में काशीनाथ सिंह का कथन उल्लेख्य है, "उन दिनों कविता में राजकमल चौधरी, मलयराय चौधरी आदि भूखी पीढ़ी के कवियों ने ज़ोर पकड़ा था, नागानंद के सत्संग ने उसे गिन्सबर्ग और दूसरे बीट कवियों के समीप किया था जिसके प्रभाव के छर्रे 'योनि', 'ज़ूर्जी', 'गांड', 'मासिकधर्म', 'संभोग' आदि शब्दों के प्रयोग में बाद तक दिखायी पड़ते हैं।"[१३] यह प्रभाव लीलाधर जगूड़ी पर भी पड़ा जिसके फलस्वरूप उनके काव्य में इस प्रकार की पंक्तियाँ मिलती हैं—

यहाँ समूचे परिवार का चूतड़ जमीन पर टिका है।[१४]

× × ×

उनके सभी काम देश के काम हैं
याने वे देश खाते हैं। देश की टट्टी करते हैं
देश का पेशाब करते हैं।[१५]

× × ×

कोशिशों के कई गुप्तांगों से
मैंने प्राप्त किये कई जन्म।[१६]

जगूड़ी द्वारा संपादित 'लगभग जीवन' काव्य-संग्रह में संकलित कुछ युवा कवियों की रचनाओं में भी इस कोटि के शब्द मिलते हैं। जानबूझकर अश्लील शब्दों के निरुद्देश्य प्रयोग से समकालीन कविता की भाषा, कविता की भाषा कहलाने की स्थिति मे नहीं रह जाती। यदि कविता में प्रयुक्त अपशब्द, अर्थ को विशिष्ट बनाने में अपना योग देते हैं, तो उनकी सार्थकता है, अन्यथा इन शब्दों पर दृष्टि जाते ही पाठक भाषा के प्रति घृणा से भर उठता है और वह कवि के अभीष्ट तक पहुँचने का यत्न ही नहीं करता। इस रूप मे समकालीन कविता पाठकों से दूर होती जा रही है। अतः भाषा के विकास-क्रम के इतिहास-लेखन में इस कविता की भाषा को कदापि सम्मानित स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि गाली की शब्दावली का प्रयोग करके ही समाज के शोषकों के अनाचारों अत्याचारों को अनावृत्त किया जा सकता है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी पर सीधे-सीधे वाक्य प्रहार करना उतना प्रभावी और

चोट करने वाला नहीं होता, जितना कि अन्योक्ति अथवा दूसरे ढग से किया गया कटाक्ष होता है यदि ऐसा न होता, तो बिहारी अपने अन्योक्तिपरक दोहे के द्वारा, नयी रानी के प्रेम में पूर्णतय आसक्त और राज-काज से विरक्त अपने आश्रयदाता राजा जयसिंह को सचेत करने में समर्थ न हुए होते। इसके विपरीत, यदि बिहारी ने सीधे-सीधे गाली देते हुए उन्हें फटकारा होता, तो निश्चित रूप से उन्हें अपने आश्रयदाता के कोप का भाजन होना पड़ना।

यदि समकालीन कवियों को अपने काव्य की गरिमा स्थापित करनी है, तो उन्हें शब्दों को महत्ता देते हुए भाषा को रचनात्मक बनाना होगा और अश्लील शब्दों के सप्रयास निरर्थक प्रयोगों से बचना होगा। कविता और गाली भाषा के दो विरोधी दिशाओं के प्रयोग हैं—गाली तो एक तरह से शारीरिक मार-पीट का लाचार रूप है जहाँ भाषा की पहुँच प्रयोगकर्त्ता के लिए नहीं रह जाती। गाली का प्रयोग भाषा की सफलता नहीं, भाषा और अनुभव के नकार का लक्षण है।

सन्दर्भ-संकेत

१. काव्यालंकार : २१८७। २. संसद से सड़क तक : जनतन्त्र के सूर्योदय में, पृ० १४। ३. समकालीन कविता की भूमिका : सम्पादक डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, मंजुल उपाध्याय, पृ० ६। ४. साकेत (पंचम सर्ग), पृ० १२८। ५. कविश्री, पृ० १६। ६. संसद से सड़क तक : अकाल दर्शन, पृ० २०। ७. समकालीन कविता की भूमिका : डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, मंजुल उपाध्याय, पृ० १३। ८ संसद से सड़क तक : नक्सलबाड़ी, पृ० ७३। ९ कुकुरमुत्ता (प्र० सं०) पृ० ३-४। १०. अकविता और कला-संदर्भ : डॉ० श्याम परमार, पृ० २१। ११. डूबते इतिहास का गवाह : जगदीश चतुर्वेदी, पृ० २२। १२. कविताएँ…कविता के बाहर : श्याम परमार, पृ० २४। १३. आलोचना (अप्रैल-जून, १९७५)—विपक्ष का कवि : धूमिल, पृ० १०-११। १४. नाटक जारी है : नगर का मौसम—लीलाधर जगूड़ी, पृ० ७२। १५. वही : टेलिफोन पर—वही, पृ० १३७। १६. वही : नाटक जारी है, वही—पृ० १३७।

२१, कूचा, राय गंगाप्रसाद,
कल्याणी देवी,
इलाहाबाद

काव्य-रचना और कवि का व्यक्तित्व

डॉ० सिद्धेश्वर सिंह

कविता की रचना में कवि के व्यक्तित्व की मुख्य भूमिका होती है। यह स्पष्ट है कि कवि के बारे में जो दिखे, वह व्यक्तित्व नहीं होता; जो आकार और कार्यकलाप में दिखता है, वह चरित्र होता है। व्यक्तित्व कवि का अन्तःसाक्ष्य होता है। इसी अन्तःसाक्ष्य का प्रक्षेपण भाषा मे होता है। इसके अलावा कविता के स्वाद में 'विज़न' का बहुत बड़ा हाथ होता है। इस विज़न के निर्माण में कवि का संस्कार और अध्ययन व सघन-विरल अनुभव काम करता है।

कविता का आकार किसी न किसी विषयवस्तु का आधार लेकर बनता है। निराला की लम्बी कविता 'राम की शक्ति-पूजा' में राम-रावण के युद्ध के प्रसंग को विषय-वस्तु के रूप मे ग्रहण किया गया है। 'राम की शक्ति-पूजा' के भीतर के अर्थ-ध्वनन, भाषा का उदात्त आलोक उस कथा-प्रसंग का आधार लेकर स्पष्ट, बोधगम्य होता है। उसका अबूझ बोध, छाया-सा झिल-मिलाता लयात्मक दृश्य साफ नजर आता है। शास्त्रीय संगीत के आलाप में कहाँ कोई आकार या अर्थ होता है ? लगातार सुनते-सुनते कान पक्का हो जाता है और उस आलाप के सुनने के बाद मन और चेतना के अन्दर की उदात्त लय जाग जाती है। कविता ऐसी ही परछाईं-सी, लय-सी होती है। उसे कथा के माध्यम से, स्थिति का आधार देकर कवि स्पष्ट रूप देता है। युग के अनुसार कवि का सोच, संस्कार बदलता रहता है। उसी की तहत कविता की अभिव्यक्ति के लिए वह विषयवस्तु को युगानुरूप ग्रहण करता है। अधिकांशतः युग की माँग के अलावा स्थानीय परि-वेश की स्पर्धा, व्यक्तिगत परिस्थितियाँ भी विषयवस्तु के चुनाव में साथ देती हैं। लेकिन इन सब के बावजूद भीतर के उदात्त-तत्त्व, स्वनिर्मित मूल्यों को अभिव्यक्त करने की छटपटाहट न हो, आत्म-प्रज्ञा की जागृति की प्रेरणा न हो तो सब कुछ धरा का धरा रह जायेगा। इसके अभाव मे भाषा की चाहे लाख अठखेलियाँ हों, कविता बन पाना कठिन है।

हर व्यक्ति में संवेदना होती है। सब कोई कल्पना करते है। अच्छी या बुरी बुद्धि किसमें नहीं होती ? लेकिन सब कोई कवि क्यों नही होता ? इससे बात साफ होती है कि पहले व्यक्ति को कवि होना जरूरी है। कवि जब काव्य-रचना में सक्रिय होता है तो कविता की रचना-प्रक्रिया मे सहयोग देने के लिए इन तत्त्वों का होना अनिवार्य है। इन तत्त्वों के विस्तार और घनत्व के अनुसार ही कविता की ऊँचाई निर्मित होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अनुभव की विविधता, घनत्व और विस्तार का जिक्र 'रामचरितमानस' की आलोचना के सन्दर्भ में किया है। कवि की रचनाशील चेतना जब संवेदना की जमीन पर खड़ी होती है, उसका सम्पूर्ण अन्तस्तल, समूचा अस्तित्व बर्फ की चोटी के समान संवेदना के सागर की लहरों से टकराता है। बाहरी दुनिया का दृश्य, कार्य-

व्यापार, गत्यात्मक चित्र और विविध अनुभव प्रच्छालित होकर हृदय की संस्कृति हो जाते हैं, तो वह लयात्मक संस्कृति गर्भ के समान अभिव्यक्ति पाने के लिए, फिर से दुनिया से आँख मिलाने के लिए बेचैन करती है। कवि को काव्याभिव्यक्ति की छटपटाहट इसी काल में होती है। चक्षुहीन सूरदास के अन्तस्तल का सारा राग-तत्त्व राधा-कृष्ण के सौन्दर्य और माधुर्य को लेकर काव्य में व्यक्त हुआ तो तुलसी का 'नानापुराण निगमागम' के ज्ञान से युक्त उनके कवि-राग, अन्तः-संस्कृति, 'रामचरितमानस' की विशालता और विविधता में व्यक्त हुआ। कवि की अन्तः-संस्कृति एक दिन की उपज नहीं होती; प्रत्युत् शिशु-काल से ही बाह्य जगत्-व्यापार और अन्तः-आन्दोलन से उसका निर्माण होता है। 'रामचरितमानस' की सम्पूर्ण काव्य-गरिमा तुलसी का अपना आत्मभोग है, चाहे राम का चरित्र हो, चाहे सीता का। सब में तुलसी की आत्म-संस्कृति रूपायित हुई है।

यह कहा जा सकता है कि बाहर का हँसता, गाता, रोता, झगड़ता, दुःख से कहारता, अत्याचार करता, उसको सहता हुआ आदमी या आदमी का समूह फोटोग्राफिंग के समान कवि की रचनाशील चेतना पर चित्रित होता है और उसका प्रतिफलन भाषा मे होता है। लेकिन इस सब के ऊपर, इन सबसे महिम्न उसका 'स्व' होता है। उस 'स्व' को इलियट के शब्दों में प्लाटिनम की छड़ मान लें जिसके छूने से बाह्य व्यापार के विविध चित्र, घटना, घटनाजन्य अनुभव रसायनिक प्रक्रिया को प्राप्त कर वैसा होकर भी उससे अलग बनता, आकार धारण करता है। तब कविता बनती है, यह कोई जरूरी नहीं है कि कवि का अपना देखा, अपना भोगा सच ही कविता बने। कवि का अस्तित्व 'स्व' जितना ही विस्तार पाया रहता है या यों कहा जाय कि पर-आत्मा में प्रवेश करने में उसकी आत्मा जितनी निपुण, लचीली होकर वैसा ही आकार करके वैसा ही जीवनानुभव पा लेने में सक्षम होती है, सबके जीवन की विविधतम स्थितियों को सीधे भोग के धरातल पर अनुभव करके उससे तटस्थ होकर उसे काव्य की उदात्त भूमि पर कला के हाथों पर्यवसित करने मे सिद्ध होती है। यहीं कवि और कविता दोनों सार्थक रूप में चरितार्थ होते हैं। बाह्य और निज की घुलनशीलता देखी नहीं जा सकती, लेकिन कविता के अन्तः-मूल्य आँकने के समय इसका सारा भेद खुल जाता है।

मैं समझता हूँ, कविता लिखने के लिए जितनी शर्तें और समस्याएँ हैं, उनका न कोई स्पष्ट निदान है, न प्रत्यक्ष निर्देश है। काव्य-कला का अभ्यास और भाषा और छन्दशास्त्र का ज्ञान काव्य-रचना की वस्तुगत तैयारी है। अगर यही बात सच होती कि छन्द और भाषा के बिना कविता लिखी नहीं जा सकती तो कबीर और जायसी का कवि-रूप में उद्भव ही नहीं होता।

टी० एस० इलियट ने काव्य-रचना की तैयारी के लिये परम्परा की सम्पूर्ण महिमा को आत्मसात् करने का निर्देश दिया है। इलियट के अनुसार परम्परा की गरिमा को ग्रहण करके ही प्रयोग का नयापन लाया नहीं जा सकता। जहाँ तक काव्य में प्रगीत का सम्बन्ध है, उसका सीधा और साफ अर्थ है काव्य के द्वारा युग की सम्पूर्ण छिपी और जाग्रत प्रवृत्तियो को उजागर कर उसका समग्रता के साथ प्रतिनिधित्व करना। जो कुछ भी सही है, न्याय-संगत है, उसको पहचानना, उसको दिशा देना, उसके अंधकार पर प्रहार कर आलोक का सृजन करना।

छन्द और भाषा का जानना उतना कठिन नही जितना कवि होना कठिन है। बल्कि यों कहा जाय कि कवि होना प्रयत्न करके असम्भव-सा है। लेकिन कवि हो जाने से क्या होता है जब तक उसकी सम्पूर्ण गरिमा और दायित्व को ग्रहण नहीं किया जाय। ऋषि होना आसान है। समाज से अलग हटकर तप करना, अपनी इन्द्रियों की हत्या कर आत्मा, चेतना और चिन्तन को अन्धकार से

आलोक की ओर ले जाना कितना सहज काम है ? महाकवि बाल्मीकि अगर अकाल की भूख से त्रस्त होकर कसाई के घर, विश्वामित्र के घर पकड़े जाते और उस वक्त अपने महाकवित्व को सुरक्षित रखते, तब बात समझ में आती । आत्मा से कवि को ऋषि होना पड़ता है, देह से भट्टा-भोगी । और देह और आत्मा में घनीभूत सम्बन्ध रहते हुए भी दोनों को एक-दूसरे से तटस्थ रखना पड़ता है । अगर कवि भोगी न भी हो तो भी सही आस्वाद उसे जानना ही पड़ता है । तुलसी चाहे साधु बनें या संन्यासी, पुष्प-वाटिका में राम-सीता के मिलन-प्रसंग के माधुर्य या राम-रावण के युद्ध की कर्कशता को आस्वाद के स्तर पर उन्हें भोगना ही पड़ा होगा ।

कवि के ऊपर परिवेश का कितना असर होता है, यह तुलसी, कबीर और निराला से जाना जा सकता है । काशी, अयोध्या और चित्रकूट जैसे धार्मिक स्थानों पर रहने के कारण तुलसी के काव्य पर धर्म का घटा के समान फैलाव दिखाई पड़ता है । कुछ लोग उनके काव्य के धार्मिक पर्यावरण को ही काव्य मान बैठते हैं, जबकि उसके अन्दर के मानवीय सम्बन्ध के प्रसंगों में ही काव्य है । लेकिन तुलसी जैसे प्रचण्ड प्रतिभा के कवि को भी परिवेश का प्रभाव—धार्मिकता, ने अपनी चपेट में ले लिया है । कबीर के निम्न जाति में जन्म लेने की कचोट और प्रतिभा की प्रचंडता की टकराहट से उत्पन्न आक्रोश, क्षोभ, विद्रूप और व्यंग्य काव्य में देखने को मिलता है ।

निराला के काव्य की भाषा, विषय-वस्तु या यों कहा जाय कि सम्पूर्ण ठाठ हिन्दी का नहीं है । भाषा की बनावट में विशुद्ध बंगलापन है । चाहे उसे रवीन्द्र का कह लें, चाहे माइकेल मधु-सूदनदत्त का । कुछ लोगों का कहना है कि कालिदास और तुलसीदास को भी भाषा, उसके प्रयोग, कथ्य और उसकी अभिव्यक्ति को लेकर, चैलेन्ज स्वीकार कर वे काव्य-सृजन को उद्यत होते थे । लेकिन कहीं-न-कहीं वे अपने परिवेश से तो निर्देशित थे ही । उनकी बाद की कविताओं के वाक्य-विन्यास पर अवधी जीवन और भाषा का प्रत्यक्ष प्रभाव है ।

कविता-लेखन पर जब बाह्य निर्देशन हावी होने की कोशिश करता है तो वस्तुतः उस कवि की आत्म-संस्कृति घायल होती है । उस संस्कृति से उत्पन्न भावात्मक मूल्य चाहे विकलांग होकर काव्य में जन्मता है या उसकी भ्रूण-हत्या हो जाती है और काव्य-संभव के बदले रक्त-स्राव होता है । लेकिन, युग की धारा में कवि को बहना ही पड़ता है, चाहे वह उससे अपनी प्रकृति के अनुसार ग्रहण करे । लेकिन युगधारा को आत्मसात् कर अन्तर्जगत् का अभिन्न अंग बना कर उसे व्यक्त करना कवि की एक अलग सिनसियरिटी है और स्वतः स्फूर्त अन्तर्जगत् का काव्य में प्रकटित होना एक दूसरे प्रकार की सिनसियरिटी है । कौन सही है, कौन गलत, यह आम सवाल नहीं है, असल सवाल है कि काव्य-मूल्य की दृष्टि से कवि किसमें सफल हुआ है । तानसेन का शास्त्रीय संगीत दरबार के वातावरण में विकसित हुआ और आज तक उनकी संगीत-कला की ऊँचाई पर किसी ने उँगली नहीं उठायी, लेकिन उनकी कला की अभिव्यक्ति पर कहीं-न-कहीं दरबारी दबाव था जिससे उनके संगीत की लय में आत्मा की उन्मुक्तावस्था दर्शित नहीं होती थी, लेकिन उन्मुक्त वातावरण में रहने वाले ऋषितुल्य हरिदास के संगीत में उनकी आत्म-संस्कृति प्रकृति के सम्पूर्ण विस्तार और उन्मुक्तता के कारण तानसेन से अधिक उदात्त होकर प्रकट हुई है । ऊँचे दोनों हैं, लेकिन दरबार के लिए तानसेन बड़े थे, तानसेन के लिए हरिदास बड़े थे । यही बात कवि के साथ भी लागू होती है ।

जैसे आइने में चेहरा देखने पर अपना ही चेहरा दिखाई पड़ता है, वैसे ही काव्य-मूल्य आँकने के लिए कविता के भीतर जब झाँकते है तो उसके भीतर कवि की सम्पूर्ण आन्तरिकता चेहरे

के समान दिखाई पड़ती है। इसी कारण कविता के विश्लेषण के साथ कवि के व्यक्तित्व का आकलन होता है। कवि व्यक्तित्व की स्पष्ट रेखाओं को रस्सी बनाकर काव्य के अन्धकूप में प्रवेश करते हैं और उसकी गहराई का पता लगाते हैं।

कविता और कवि के बीच रचना-प्रक्रिया और कवि-कर्म दोनों सार्थक स्थितियाँ हैं। जो कवि अपनी कविता में जितना ही दूध-मिश्री के समान इन दोनों स्थितियों को मिश्रित कर पाता है, वह उतना ही सफल और श्रेष्ठ कवि होता है।

कवि अपने भावों, भावात्मक विचारों, अनुभवों के भावात्मक प्रभावों को जब व्यक्त करना चाहता है तो एक पच्चीकार के समान उसके अनुकूल शब्दों को तौलता है। यहीं पर कवि गद्यकार से भिन्न स्थिति को प्राप्त कर लेता है। वह शब्दों के अर्थ के साथ उसके संगीत, उसकी आन्तरिक लय को भी पहचानता है। उसकी संगति बैठाता है। इस संगति बैठाने में उसका मस्तिष्क, हृदय और सम्पूर्ण इन्द्रियों के आस्वाद एकसाथ जागृत रहते हैं। इस स्थिति में कवि के आत्म-संघर्ष को भाषा मे व्यक्त नहीं किया जा सकता। जो आलोचक कवि के इस आत्म-संघर्ष की बेचैनी को पहचान कर ईमानदारी नहीं बरतेगा, वह उसकी कविता के साथ न्याय नही कर पायेगा।

कवि एक योगी या दार्शनिक से श्रेष्ठ क्यो है, यह विचारणीय प्रश्न है। योगी साधना-काल में चेतना के द्वारा इन्द्रिय-मार्ग से जगत् का बहिष्कार करता है, जबकि कवि अपने अन्तर्लोक मे जगत् का आभ्यन्तरीकरण करता है। वह जगत् से कीचड़ लेता है और दान के रूप में कमल देता है। अन्धकार लेता है, प्रकाश देता है।

●

द्वारा—श्री हरीश मिश्र, कमरा नं० ३६,
ताराचन्द हास्टल, चैथम लाइन,
इलाहाबाद

लक्ष्मणसेन-संवत्

[परिशिष्ट]

श्री चन्द्रकान्त बाली

कभी-कभी अनुसन्धान करते समय महत्त्वपूर्ण मुद्दे दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। ऐसा ही कुछ प्रकृत लेखक के साथ भी हुआ है। लक्ष्मणसेन-संवत् पर विचार करते समय बिहार की पंचांग-परम्परा का ध्यान नहीं रहा; और डॉ० मेघनाथ साहा की अध्यक्षता वाली कलैण्डर-रिफार्मर कमेटी की रिपोर्ट भी ध्यान से उतर गई। 'लक्ष्मणसेन-संवत्' छप जाने पर पश्चात्ताप के साथ मुझे कोसती हुई स्मृतियाँ सामने आ खड़ी हुईं। अफसोस भी कर रहा हूँ, लिख भी रहा हूँ; मुद्रित लेख भी पढ़ रहा हूँ, शर्मिन्दा भी हो रहा हूँ। लेखक ने अपनी झेंप मिटाने के लिए यह 'परिशिष्ट' तैयार किया है। अग्रे देवः प्रमाणम्।

पञ्चांग-परम्परा—पटना मे मुद्रित पंचांग में हम पढ़ते हैं—

शक १८०४ = लक्ष्मणसेन-संवत् ८७३ = साल १३८० = नेपाल संवत् ११०२; आदि।

नेपाल-संवत्—इस संवत् के बारे में हमारा अध्ययन अभी कच्चा है। अतः इस पर साधिकार लिखना हमारी प्रकृति के विपरीत है। अतः क्षमा......

साल—पंचांग में 'साल' संज्ञा के साथ १३८० लिखा है। पूरा विश्वास है, राजा शिवसिंह के दानपत्र में 'सन्' संज्ञा के साथ जिस काल-गणना का उद्घोष हुआ है, वह पंचांग में उट्टंकित 'साल' से भिन्न नहीं है। यथा—ईसवी सन् १८८२ [शक १८०४]—साल १३८० = ५०२ ईसवी सन्। हमने भी इसी साल से चल निकली काल-गणना का उल्लेख किया है [द्रष्टव्य—हिन्दुस्तानी पत्रिका ४२।२, पृष्ठ ५१ (*)] परन्तु 'साल' का लक्ष्मणसेन-संवत् से तालमेल बिलकुल नहीं है। हमारे हिसाब से आज १८८२ – ११०६ = लक्ष्मणसेन-संवत् ८७६ संभाव्य है और है—ल० सं० ८७३। यह तीन वर्षों की 'क्षति' इतनी जटिल नहीं है जो समझ से परे की बात है। ऐसा लगता है—बाद में आनेवाले पंचांग-प्रणेतृवर्ग ने विद्यापति के उद्धरण को गलत समझा और तीन वर्षों को समाहित करना उनके बस से बाहर हो गया। यथा—

३ ८ २ [२८३] ४ २ ३ १ [१३२४]
(क) अणल रंध्र कर लक्खण णखए सक समुद्द कर अगिनि ससी।

३ ८ २ ७ २ ३ १ [१३२७]
(ख) अणल रंध्र कर लक्खण णखए सक समुद्द कर अगिनि ससी।

खैर। पंचांग में 'साल' का उल्लेख अभिनन्दनीय है।

शक—बिहारी पंचांग में शक १८०४ का उल्लेख परम्परागत है। लक्ष्मणसेन-संवत् के निर्धारणार्थ जो 'शक' अभीष्ट है, वह यहाँ अनुपस्थित है। तदनुरूप शक-संवत् १९१७ होना चाहिए था, और है १८०४। यहाँ १३ वर्षीय 'उखाड़-पछाड़' ध्यान देने योग्य है। इन १३ वर्षों में से १०-वर्षीय अनुसन्धान कर दिया श्री मनमोहन चक्रवर्ती ने, शेष तीन वर्ष अद्यावधि शाश्वत क्षति के रूप में पचांगों में वर्तमान हैं मन नोट कर लें

कलैण्डर-कमेटी की रिपोर्ट—भारत सरकार ने श्री मेघनाथ साहा के नेतृत्व मे कलैण्डर-रिफार्मर कमेटी की स्थापना की। कमेटी ने बड़े सोच-विचार के पश्चात् रिपोर्ट तैयार की है जिसके पृष्ठ २५८ पर भारतीय संवत्-समूह की सारिणी प्रस्तुत की है जिसकी पंक्ति २८ पर लक्ष्मणसेन-संवत् का उल्लेख है। मज़े की बात यह है रिपोर्ट में लक्ष्मणसेन-संवत् का आरम्भ-बिन्दु ईसवी सन् ११०४-१११८ लिखा है जो इस काल-गणना में अधिक उलझाव पैदा कर रहा है। दो-दो शक-गणनाओं के कारण [प्रथम ६५ ई०; द्वितीय ७८ ई०] लक्ष्मणसेन-संवत् १३ वर्षों के बीच झूल रहा था, अब वह व्यवधान १३ वर्षों से बढ़कर १४ वर्षो का हो गया। मर्ज़ बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की।

लक्ष्मणसेन-संवत् ११०६ ईसवी से आरम्भ हुआ था।

आज—
विक्रम-संवत् २०३८;
शककाल [६५] १८१७;
शककाल [७८] १८०४;
सन् या साल १३८० तथा
लक्ष्मणसेन-संवत् ८७६
} ईसवी सन् १६८२.

⊙

ए-१०, अमर कालोनी
लाजपत नगर, नई दिल्ली—२४

रजिस्ट्रार न्यूजपेपर्स ऐक्ट के अन्तर्गत
विज्ञप्ति

१. प्रकाशन का नाम	हिन्दुस्तानी
२. प्रकाशन की तिथि	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर)
३. मुद्रक का नाम	बीना प्रिंटिंग प्रेस, कीडगंज, इलाहाबाद
४. राष्ट्रीयता	भारतीय
५. पता	बीना प्रिंटिंग प्रेस, कीडगंज [illegible]
६. प्रकाशक	डॉ० जगदीश गुप्त, सचिव तथा कोषाध्यक्ष
७. राष्ट्रीयता	[illegible]
८. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
९. प्रधान सम्पादक	डॉ० रामकुमार वर्मा
१०. राष्ट्रीयता	भारतीय
११. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
१२. स्वामित्व	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मैं जगदीश गुप्त, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित मेरी जानकारी के अनुसार बिल्कुल ठीक है।

जगदीश गुप्त
सचिव तथा कोषाध्यक्ष
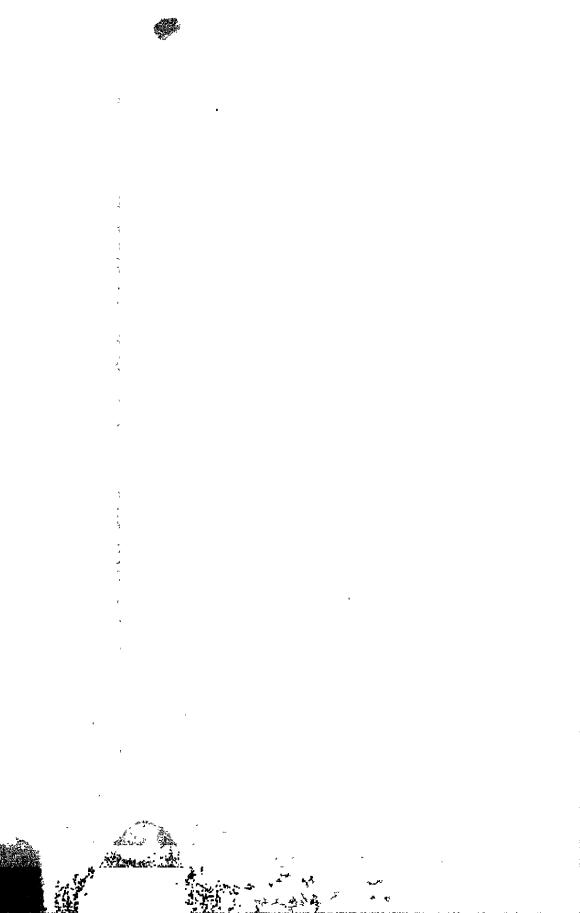
हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक शोध पत्रिका]

अप्रैल-जून

सन् १९८२ ई०

प्रधान सम्पादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

सहायक सम्पादक

डॉ० रामजी पाण्डेय

गुप्त

वार्षिक २० रुपये

अनुक्रमणिका

□□□

त्रयान्विति सिद्धान्त और भरत

डॉ० अभयमित्र

अन्वित का अर्थ है अनुगत अथवा युक्त। उसी का भाव है अन्विति, अर्थात् अनुगमन, अनुपालन अथवा संयोग। अतः एकान्विति का तात्पर्य होगा एक का अनुगमन—एकता का निर्वाह और इसी प्रकार त्रयान्विति का अर्थ होगा तीनों की एकता का निर्वाह।

आधुनिक नाट्यालोचकों ने त्रयान्विति के संदर्भ में जिन विषयों का उल्लेख किया है, वे हैं : कार्य की एकता (यूनिटी ऑफ ऐक्शन), काल की एकता (यूनिटी ऑफ टाइम) और स्थान की एकता (यूनिटी ऑफ प्लेस)। इन तीनों की सामूहिक संज्ञा है त्रयान्विति (थ्री यूनिटीज़) जिसे हिन्दी आलोचकों ने संकलनत्रय का नाम दिया है।

संकलनत्रय अथवा त्रयान्विति ऐसा विषय नहीं है कि पाश्चात्य आलोचकों ने उसके अक्षरशः पालन का विरोध न किया हो अथवा ऐसे नाटककार वहाँ न हुए हों जिन्होने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस सिद्धांत को अस्वीकार न किया हो। किन्तु अनेक विद्वानो ने इस बात पर बल दिया है कि नाटकों में, विशेषकर त्रासदियों और एकाङ्कियो में इसका परिपालन अनिवार्यतः किया जाना चाहिए और एतदर्थ उन्होंने आचार्य अरस्तू को प्रमाण माना है। उस सिद्धान्त के समर्थक अनेक विद्वानों ने संस्कृत नाट्यशास्त्र और साहित्य में इस अन्विति के अभाव की भी आलोचना की है।

अतः प्रकृत स्थल पर विवेचना का विषय यही है कि आचार्य अरस्तू ने त्रयान्विति को किस रूप में स्वीकार किया है? उनका सैद्धान्तिक दृष्टिकोण क्या है? भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में और संस्कृत नाट्य साहित्य में इस अन्विति को स्वीकार किया गया है अथवा नहीं? यदि स्वीकार किया गया है तो किस रूप में और यदि नहीं तो क्यों?

कार्य की एकता और अरस्तू—कार्यान्विति के सम्बन्ध में अरस्तू की विवेचना पर्याप्त स्पष्ट है। वे चाहते हैं कि नाट्यवस्तु का चयन करते समय नाटककार (त्रासदीकार) ध्यान रखे कि वह ऐसे कार्य-व्यापार का चयन करे जो सही अर्थों में एक हो। वे कहते है, 'कथानक को एक तथा सर्वाङ्गपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए और उसमें अङ्गों का सङ्गठन ऐसा होना चाहिए कि यदि एक अङ्ग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करें तो सर्वाङ्ग छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त हो जाये।'[1] तात्पर्य यह है कि—

(अ) कार्य वह घटक है जो कथावस्तु का मूल तत्त्व होता है।

(आ) कथानक के लिए किसी एक कार्य को चुनना चाहिए।

(इ) इस कार्य के उपस्कारक तत्त्वों के रूप में कुछ अङ्गों की भी योजना की जानी चाहिए।

(ई) इन गौण कार्यों को सुसंगठित होना चाहिए।

(उ) मुख्य कार्य से इन गौण कार्यों (अंगों) को इतना अधिक संपृक्त रखना चाहिए कि यदि उन्हें मुख्य कार्य से पृथक् किया जाए तो वह अपूर्ण प्रतीत होने लगे।

(ऊ) अतः घटनाओं में न्यस्त कार्य ही वास्तविक कार्य है, उन कार्यों की सामूहिक संज्ञा घटना है और इन घटनाओं का समस्त रूप ही कथावस्तु है। क्योंकि अरस्तू मानते हैं कि 'कथानक कार्य-व्यापार की अनुकृति है क्योंकि कथानक से (यहाँ) मेरा तात्पर्य घटनाओं के विन्यास से है।'

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि आचार्य अरस्तू कार्य, घटना और कथानक के मध्य एक सापेक्षता-सिद्धान्त स्वीकार करते है। वे कहते हैं : 'जैसी कि कुछ लोगों की धारणा है, कथानक की एकान्विति का आधार यह नहीं है कि नायक एक हो। एक व्यक्ति के जीवन में नाना प्रकार की असंख्यक घटनाएँ घटती हैं जिन्हें एकान्वित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार एक व्यक्ति के अनेक कार्य-व्यापार होते है जिन्हें एक ही कार्य में अन्वित नहीं किया जा सकता। अतः त्रासदी में ऐसे ही कार्य-व्यापार को कथानक की धुरी बनाना चाहिए जो सही अर्थों में एक हो।''

ऐसा नहीं है कि यह सिद्धान्त केवल त्रासदी पर ही लागू होता हो। वस्तुतः किसी नाटक की कथावस्तुगत सफलता का आधार यह कार्यान्विति ही है। किसी नाटक और काव्य अथवा महाकाव्य के मध्य यह एक भेदक धर्म भी है। अर्थात्, किसी ऐसे काव्य अथवा महाकाव्य को लें जिसमें भले ही किसी एक ही नायक के शौर्य और पराक्रम का चित्रण किया गया हो, वहाँ उसकी वीरता को उद्भासित करने वाली छोटी और बड़ी अनेक घटनाएँ होंगी, उसकी वीरता के अतिरिक्त उसकी धीरता-गम्भीरता और उदारता सम्बन्धी अनेक प्रसंग भी होंगे, विरोधी का पराभव और उसके पक्ष की करुणा और सन्ताप के उपाख्यान भी होंगे। किन्तु किसी भी नाटक में उन सभी प्रसंगों को उन्हीं मूल रूपों में समायोजित नहीं किया जाना चाहिए। अपितु इस उद्देश्य के निमित्त मुख्य कार्य के उपस्कारक, आवश्यक कार्यों को ही चुनना चाहिए। किन्तु, अरस्तू का तात्पर्य यह भी नहीं है कि त्रासदी अथवा नाटकों को घटना-प्रधान बना दिया जाये। क्योंकि ऐसा मान लेने पर 'सर्वाङ्गपूर्ण कार्य', 'अङ्गों का संगठन' और 'घटनाओं का विन्यास' प्रभृति प्रयोग खण्डित होने लगेंगे। अर्थात्, एक मुख्य घटना के साथ उपाख्यानों के रूप में अन्य घटनाएँ भी हो सकती है जिनका होना आश्चर्य-जनक अथवा अनुचित नहीं माना जाना चाहिए; एक ही शर्त है : उनमें परस्पर आवश्यक या सम्भाव्य सम्बन्ध हो और वे भी इस सीमा तक सम्बद्ध हों कि यदि एक भी घटना अथवा अंग को हटाया जाय तो सम्पूर्ण कथानक 'अस्त-व्यस्त' लगने लगे।

अतः अरस्तू का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि कार्य एक ही हो, अपितु अन्वित कार्यों के मध्य एकता हो, वे एक-दूसरे के पूरक हों और फिर सभी मिलकर मुख्य कार्य के उपस्कारक हों; यही है कार्य की एकता—यही है कार्यान्विति—यूनिटी ऑफ ऐक्शन। कार्यान्विति-सम्बन्धी अरस्तू के अन्यत्र उल्लेखों मे भी मुझे यही भाव दिखाई दिया है।

कालान्विति और अरस्तू (यूनिटी ऑफ टाइम)—महाकाव्य की विवेचना करते समय (त्रासदी की विवेचना के अवसर पर नहीं) अरस्तू कहते हैं : 'दोनों (त्रासदी तथा महाकाव्य) के विस्तार में भी भेद होता है— त्रासदी को यथासम्भव सूर्य की एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु महाकाव्य के कार्य-व्यापार मे काल की सीमा का कोई बन्धन नहीं है।''''''यद्यपि पहले त्रासदी मे भी (काल-विषयक) वैसी ही स्वतंत्रता थी जैसी महाकाव्य में।'[२]

१.

उपर्युक्त उल्लेख के अतिरिक्त त्रासदी से महाकाव्य की तुलना के प्रसंग में आचार्य अरस्तू पुनः कहते हैं : 'जहाँ तक आकार या विस्तार का प्रश्न है, हम पहले ही एक उचित सीमा निर्धारित कर चुके हैं—वह इतना होना चाहिए कि आदि और अवसान, दोनों एक ही दृष्टि की परिधि में आ सकें। यह शर्त तब पूरी हो सकती है जब काव्यों का आकार (भी) प्राचीन महाकाव्यों से कम हो और उन त्रासदियों के बराबर हो जिनको एक ही बैठक में प्रस्तुत किया जा सकता है।'[3]

आचार्य अरस्तू के इस कथन का पूरक उदाहरण हमें नाट्यदर्पण में मिल जाता है : 'रामस्य पत्नी रावणेन वनान्तादपहृता रामेण च जटायुषः समुपलभ्य सुग्रीवं सहायं वानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य समुद्रसेतुबन्धमाधाय निहत्य च रावणं प्रत्यानीतेत्यत्र प्रारम्भाद्यवस्थानिबन्धनीयैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्बीजाद्युपाययुक्तैः निबन्धे रूपके वृत्तसङ्क्षेपः स्यात् तथा च न चमत्कारः।'[4] अर्थात्, इस एक वाक्य में ही राम-कथा का संक्षेपण कर लिया गया है। वनवास के पश्चात् की इस कथा में अरस्तू द्वारा अपेक्षित आदि भी है, और अवसान भी। एक ही दृष्टि क्या एक ही क्षण में, पलक झपकाने की परिधि मे ही वह समा भी सकता है। किन्तु यह अथवा ऐसा संक्षिप्त कथारूप अरस्तू को भी अभिप्रेत नहीं है। यही अरस्तू के पूर्वोक्त कथन का अभिप्राय है। नाट्यदर्पणकार ने यहाँ जिस चमत्कार की अपेक्षा की है, कथागत कार्यैक्य के होने पर भी, सन्ध्यादि उपायों के होने पर भी वह उपलब्ध नही हो पाता। अतः कथा में एक सीमा तक विस्तार भी आवश्यक है, यह सिद्ध हो जाता है।

कथावस्तु का विस्तार समय-सापेक्ष है और उस समय को अतिविस्तार और अतिसंक्षेप से बचाते हुए संगठित किया जाना चाहिए। किन्तु यदि सूर्य की एक परिक्रमा को बारह अथवा चौबीस घण्टे तक ही सीमित मान लिया जाये तो अरस्तू ने जिन काव्यों और नाटकों को आदर्श माना है, उनमें से इतने समय की कोई घटना क्या किसी त्रासदी के लिए आदर्श होगी ? क्योंकि आचार्य अरस्तू किसी त्रासदी के लिए एक जटिल—स्थिति-विपर्यय तथा संवृत्ति-विवृत्तियुक्त, आदि, मध्य और अवसान से विस्तृत, किसी चरित्र के उत्कर्ष से अपकर्ष तक सुसंगठित, उपाख्यानो से युक्त कथानक को चुनने का स्पष्ट निर्देश देते हैं।

स्थान की एकता (यूनिटी ऑफ प्लेस)—स्थान-सम्बन्धी एकता पर अरस्तू के स्पष्ट उल्लेखों का अभाव है। कथानक के विस्तार-सम्बन्धी उनके उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर ही यह संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि समय के विस्तार को रोककर स्थान-परिवर्तन को भी नियन्त्रित करना अरस्तू को अभीष्ट था। क्योंकि समय का विस्तार एक बार 'एक दृष्टि' का विषय बन सकता है, किन्तु स्थान-परिवर्तन और उसके लिए विशिष्ट आयोजनमूलक कथानक अरस्तू के मूल उद्देश्य—कार्य की एकता की सार्थकता को खण्डित कर देगा। अतः पक्षधर विद्वान् स्थान की एकता को भी अनिवार्य मान सकते हैं। किन्तु अरस्तू के काल-सम्बन्धी उपर्युक्त मन्तव्य को ध्यान में रखते हुए काल की भाँति स्थान की सीमा भी बढ़ायी जा सकती है। यह अनिवार्य और स्वाभाविक भी है। क्योंकि काल की एकता-सीमा के विरुद्ध जो तर्क दिए जा सकते हैं, वे यहाँ भी चरितार्थ हो सकते हैं। यह भी तो कहा जा सकता है कि आचार्य अरस्तू प्रयोगगत आवश्यकता—बार-बार अंक-परिवर्तन और मञ्चसज्जा की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर स्थान-सम्बन्धी एकता को भी उसी प्रकार अनिवार्य मानते हैं जिस प्रकार वे 'सूर्यपरिक्रमा' के आधार पर समय की एकता—सीमा को अनिवार्य मानते है। इस पूर्वपक्ष की दृष्टि से अरस्तू द्वारा उद्धृत अनेक कथानकों, कथांशों, घटनाओं को देखा जा सकता है जिन्हें देखकर स्थान के साथ ही समय-सम्बन्धी एकता पर भी प्रश्न-चिह्न लग जाता है। अरस्तू के एतद्विषयक मौन और समर्थ नाट्यकारो

द्वारा सम्भाव्यता और आवश्यकता को ध्यान में रखकर नाट्य-संरचना (त्रासदी-रचना) की छूट के आधार पर भी अरस्तू का आग्रह दुराग्रह नहीं रह जाता और समय के साथ ही स्थान की परिधि को उस सीमा तक ले जाया जा सकता है जहाँ तक वह अनुचित और कृत्रिम न प्रतीत होने लगे। यही कारण है कि अनेक पाश्चात्य आचार्यों ने भी स्थान और समय की एकता को उतना अनिवार्य नहीं माना जितना कि अतिवादी आचार्य मानते हैं। अतः आचार्य अरस्तू के त्रयान्विति-सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि उन्होंने कार्य की एकता (यूनिटी ऑफ ऐक्शन) को ही महत्वपूर्ण माना है।

कार्य की एकता और भरत : रसान्विति—संस्कृत नाट्यशास्त्र में वस्तु, नेता और रस—ये तीन मुख्य नाट्यतत्व हैं। सम्पूर्ण शास्त्रीय परम्परा 'रस परिपाक' को नाट्य का मूल उद्देश्य मानती है। संस्कृत की इस मान्यता को अरस्तू के शब्दों में कहें तो वस्तु अनुकरण की विधि है, नेता अनुकरण का माध्यम है और रस अनुकरण का विषय है। विषय ही उद्देश्य है और इस कारण रस की एकता को कार्य की एकता का समानधर्मी मानना अनुचित न होगा। अनुकूल और विरोधी रसों की विवेचना एवं 'एक एव भवेदङ्गी' जैसे सिद्धान्त इस तर्क की पुष्टि में उद्धृत किए जा सकते हैं। किन्तु इस रूप में रस की एकता को पाश्चात्य और आधुनिक अति अरस्तूवादी विद्वान् कार्य की एकता के रूप में सम्भवतः स्वीकार न करें, अतः रस की इस एकता की पृष्ठभूमि में ही अगली पंक्तियों में उन विषयों की ओर भी संकेत किया जा रहा है जिनमें मुझे पुनः-पुनः कार्य, काल और स्थान के ऐक्य के प्रति भरतादि आचार्यों की वास्तविक प्रतिबद्धता का आभास होता रहा है जिनके माध्यम से इन आचार्यों ने इसी परमानन्द सहोदर रस की अखण्डता को सिद्ध किया है।

कथावस्तुगत एकता—हम देख चुके हैं कि अरस्तू कार्य, घटना और कथानक के मध्य एक सापेक्षता सिद्धान्त स्वीकार करते हैं और उस आधार पर एक सीमा तक कार्य की एकता – घटनाओं-उपाख्यानों के मध्य विद्यमान समान कर्म और उस माध्यम से मुख्य कथानक की एकता का पर्याय है। नाट्यशास्त्र में आधिकारिक, आनुषङ्गिक और प्रासङ्गिक इतिवृत्तों के रूप में कथावस्तु का जो विभाजन है, वह इस दृष्टि से मननीय है जिसका सारांश है आनुषङ्गिक और प्रासङ्गिक इतिवृत्तों द्वारा आधिकारिक इतिवृत्त की सम्पुष्टि। ये दोनों इतिवृत्त अरस्तू के उपाख्यानों से किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं।

वस्तुतः कार्य की एकता का तात्पर्य मुख्य कथा के मुख्य उद्देश्य की अखण्डता है और अरस्तू के आग्रह का उद्देश्य मुख्य कथानक की अखण्डता की रक्षा है। आधिकारिक इतिवृत्त के माध्यम से भारतीय आचार्यों ने भी इसी उद्देश्य को सिद्ध किया है। फिर भी जो अन्तर, जो सूक्ष्मता अरस्तू के सिद्धांतों में दिखाई देती है, उसका कारण यह है कि वे कथानक को त्रासदी की आत्मा मानते हैं—कथा के सौन्दर्य को महत्व देते हैं, उसे ही प्रभावोत्पादक बनाकर मन और बुद्धि को प्रभावित करने के लिए प्रस्तुत करना चाहते हैं, जबकि भारतीय (भारत की परम्परा के) आचार्य कथावस्तु का ऐसा विधान करते हैं जो एक उपाय के रूप में रस की सिद्धि कर सके, बुद्धि को नहीं हृदय को प्रभावित करे, मन को नहीं आत्मा की गहराई में उतर सके।

कथागत एकता, घटनाओं में तारतम्य और मुख्य कार्य की अखण्डता के माध्यम से रससिद्धि के लिए ही तो पञ्च अर्थप्रकृतियों, पञ्चसन्धियों और नायक के कार्य की पाँच अवस्थाओं की विस्तृत विवेचना की गयी है। डॉ० नगेन्द्र मानते हैं : 'भारतीय नाट्यशास्त्र में पञ्चसन्धियों तथा पञ्चावस्थाओं के विवेचन द्वारा उपर्युक्त (कार्यान्विति) एकान्विति का प्रतिपादन किया गया है।'[४] किन्तु डॉ० नगेन्द्र ने बीज और बिन्दु— बिन्दु का कथावच्छेदक धर्म—अंकों में उनकी पुनः-पुनः आवृत्ति,

पताका और प्रकरी का उपस्कारक भाव और उनके माध्यम से पञ्चम अर्थप्रकृतिरूप 'कार्य' की पूर्णाहुति को यहाँ रेखांकित नहीं किया यद्यपि ये भी उसी अन्विति—एकता के लिए समर्पित उपाय हैं।

सन्धियाँ ही नहीं, उनके अङ्ग भी उस एकता की अखण्डता को अक्षुण्ण रखने के लिए आयोजित किए जाते हैं। यहाँ जिस कार्य और अवस्था का निर्देश है, वह अरस्तू के कार्य से भिन्न कार्य नहीं है जिसे समझकर सन्ध्यङ्गों में नियोजित किया जाना चाहिए। अतएव निर्वहणसन्धि का लक्षण करते हुए दशरूपककार कहते हैं—

> बीजवन्तो मुखाद्यर्थाः विप्रकीर्णा यथायथम्।
> ऐक्यार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्। – दश० १।४८

आचार्य अरस्तू कथानक के तीन भाग करते हैं— आदि, मध्य और अवसान। अवसान वह है जिसके पहले तो कुछ होता है किन्तु जिसके पश्चात् कुछ नहीं होता। निर्वहण भी अवसान ही है जिसके पहले पूरा कथानक फैला रहता है। भारतीय आचार्यों का कहना है कि यही फैले हुए कथानक को —'अर्थ को' समेटा जाना चाहिए। यह क्रिया मुख्य कथानक के मुख्य कार्य का—'मुख-सन्ध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम्' है। यही 'एक अर्थ'—एक प्रयोजन है; उद्देश्य है, कथागत एकता का प्राणतत्त्व है जिसे संस्कृत नाट्यशास्त्री अन्त में एक बार पुनः संगठित कर लेने का आग्रह करते हैं।

अर्थप्रकृति के अङ्ग—बीज और बिन्दु की कार्यगत एकता की दृष्टि से उपयोगिता को ऊपर संकेतित किया जा चुका है। अर्थ-प्रकृति के अन्तिम अङ्ग 'कार्य' को किन्हीं आचार्यों ने कथा के मुख्य कार्य—चक्रवर्तित्व-लाभ—के रूप में, तो किसी ने शकुन्तला से संयोग के रूप में, तो किसी ने वसंतसेना द्वारा चारुदत्त की तो किसी ने चारुदत्त द्वारा वसन्तसेना की प्राप्ति के रूप में, तो किसी ने राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त को अमात्यत्व को स्वीकार करने के रूप में, भिन्न-भिन्न कार्य के रूप में देखा है। शास्त्रीय विवाद को परे रखकर देखें तो शृङ्गाररसप्रधान रूपकों में मुख्य कार्य है : नायक-नायिका का संयोग, वीर रस की दृष्टि से मुख्य कार्य नायक की जय और प्रतिनायक की पराजय ही तो होता है। पाश्चात्य त्रासदियों में यह कार्य 'नायक पतन' के रूप में देखा जाता है जिसके माध्यम से विरेचन की सिद्धि की जाती है। यही तो आधिकारिक—मुख्य कथा का विषय होता है।

आधिकारिक कथा की पूर्णता के लिए नाटककार जिन कार्यों का सम्पादन करता है, उनकी सामूहिक संज्ञा है कार्य। जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए रचना का आरम्भ हो और जिसकी सिद्धि होने पर उसका अन्त हो जाए, वह है कार्य। इस रूप में यह कार्य मुख्य कथावस्तु; मुख्य घटना का (अथवा सम्पूर्ण रचना-कार्य का भी) पर्याय सिद्ध होता है। परवर्ती आचार्यों और आधुनिक संस्कृतालोचकों ने अर्थप्रकृति और इस कार्य के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे चिन्त्य हैं और मुझे भरत की मूल मान्यता से भिन्न प्रतीत होते हैं क्योंकि वह कार्य नायक का कार्य-व्यापार नहीं है। यह कार्य नायक के कार्य-व्यापार के 'आवश्यक साधन-समुदाय—सैन्य-दुर्ग, कोषादि[६] भी नहीं है', अपितु नाट्यकर्म ही है।[७]

इस साधन की पवित्रता पर बल देते हुए आचार्य अरस्तू कहते हैं : 'इस (कथा के चयन) क्षेत्र में भी उसने (होमर ने) अपनी सहज प्रतिभा अथवा निपुणता के बल पर सत्य का साक्षात्कार कर लिया था। ओधुस्सेइया (ओडिसी) में उसने ओधुस्सेउस से जीवन की सभी घटनाओं का

समावेश नहीं कर लिया है—उसने ऐसी घटनाओं को छोड़ दिया है जिनमें परस्पर कोई आवश्यक या सम्भाव्य सम्बन्ध नहीं है।' आचार्य के इस आदेश का पालन करते हुए ही संस्कृत के अनेक नाटककारों ने रामकथा पर आदृत रचनाओं में विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण की वनयात्रा को, रामविवाह को, मन्थरा की मंत्रणा को, अथवा ऐसे ही छोटे-बड़े प्रसंगों-उपाख्यानों को आवश्यकतानुरूप छोड़ दिया है। यह परित्याग निरुद्देश्य नहीं है, शास्त्रसम्मत है।[८]

कार्य की एकता का अर्थ नायक की एकता भले ही न हो, किन्तु उसके मुख्य कार्य (त्रासदी के सन्दर्भ में नायक की महान् भूल और तज्जन्य पतन तथा प्रतिनायक-खलनायक की दृष्टि से नायक को पतनोन्मुख करने के प्रयत्न) को विन्दु रूप मे स्थापित करने, उसे ही विभिन्न उपायो, नाटकीय उपकरणों द्वारा तीक्ष्ण करने और उभारने की प्रक्रिया उसके अङ्ग, उसकी अन्विति के उपाय तो हैं ही। अन्यथा, अरस्तू ओडिसी की सम्पूर्ण कथा को नाट्य-विषय बनाने का विरोध न करते। अतः हमारी दृष्टि संस्कृत नाटकों की ओर चली जाती है जहाँ हम पाते हैं कि रामायण की वस्तु कही प्रतिमा-नाटक के रूप में उठायी जाती है तो कहीं अभिषेक के रूप मे, वहीं महावीर-चरित के रूप में तो वही उत्तर रामचरित के रूप मे। किसी को कभी राम का वीरकर्म मोहता है तो कभी उनकी करुणा प्रिय लगती है। कही किसी घटना में राम से उत्कृष्ट भरत है तो कहीं स्वयं राम। इतना ही नही, कहीं उनके कर्मो को उदात्त मानवीय कर्मों के रूप मे देखा गया है तो कही नितान्त दैव कर्मों के रूप में। किसी नाटककार ने भीम के वीर कर्मो को चुना है, किसी ने दुर्योधन के पराक्रम और सत्यनिष्ठ कर्म को, तो कही उसकी वेदना को। नाटककारो की सफलता-असफलता का मूल्यांकन यहाँ अभीष्ट नही है। विवेचना का विषय तो है चुना गया कर्म—वीर कर्म, कारुणिक व्यापार, भद्र और धीर-गम्भीर व्यवहार अथवा कर्त्तव्यनिष्ठा। और उसका निर्धारण कर लेने पर किसी नाट्य-रचना में आद्योपांत उसका निर्वाह कार्य की एकता का निर्वाह नहीं है तो क्या है ?

अंकसंरचना और त्रयान्विति—त्रयान्विति की दृष्टि से नाट्य-संरचना के महत्त्वपूर्ण अङ्ग अङ्कसंरचना-सम्बन्धी भरत के निर्देशों को भी देखना आवश्यक है। पाश्चात्य नाटकों में अङ्क को ऐक्ट कहा गया है। नाटकों के 'ऐक्टर्स' और अनुकरणीय भूमिकाओं के 'ऐक्शन्स' के मध्य अन्योन्य-दीपक भाव-सम्बन्ध है। यह ऐक्शन कथा के बाह्य और आन्तरिक दोनों कार्यों को संकेतित करता है। पाश्चात्य नाटकों मे इक्सपोजीशन, टाइजिंग ऐक्शन, क्राइसिस, डिनाउमेण्ट और कन्क्लूजन या केटॉस्ट्राफी के रूप में कथा को—उसके ऐक्शन को पाँच भागों और तदनुसार पाँच अङ्कों में विभक्त कर प्रस्तुत करने की परम्परा रही है। अरस्तू ने 'सर्वाङ्गपूर्ण कार्य', 'अङ्गो का संगठन' प्रभृति शब्दो द्वारा जिस कार्य की ओर संकेत किया है, उसे इन अङ्कों के माध्यम से ही अलगाया और संगठित किया जा सकता है, वैसे अङ्कों के स्वरूप, उद्देश्य प्रभृति विषयों पर अरस्तू मौन हैं। किन्तु संस्कृत की नाट्यशास्त्रीय परम्परा, अङ्क-विभाजन के मूल उद्देश्यों में, कथा की अखण्डता को एक मुख्य उद्देश्य मानती है। व्यापक अर्थों में किसी विस्तृत कथा को अङ्कों के माध्यम से ही रंगमंच के लिए सुकर बनाया जाता है और अभिनय के माध्यम से मुख्य सम्प्रेष्य भाव, कार्य अथवा उद्देश्य का साधारणीकरण करते हुए उसे सहृदय सामाजिक-दर्शक तक सम्प्रेषित किया जाता है।

भरत के नाट्यशास्त्र मे अंक-विभाजन-सम्बन्धी उल्लेखों को देखकर भरत मुनि के कार्य, काल और स्थान सम्बन्धी ऐक्य और उस ऐक्य के औचित्य-अनौचित्य पर आधिकारिक, वस्तुगत और प्रयोगपरक तथ्य प्रकाश में आते हैं। भरत ने इस प्रसंग में जिस ढंग से इन तीनो की उपयोगिता-अनुपयोगिता को रेखांकित कर दिया है, मेरे विचार से अरस्तू स्वयं उस कार्य में उतने सफल नहीं रहे हैं।

अंकसंरचना और कार्यान्विति—कार्य की एकता के लिए अरस्तू ने कहा है कि ऐसी घटनाओं को छोड़ देना चाहिए जिनमें परस्पर कोई आवश्यक या सम्भाव्य सम्बन्ध नहीं है।[९] और भरतमुनि कहते हैं : आवश्यकाविरोधेन तत्र कार्याणि कार्याणि।[१०] यहाँ 'कार्य' ही नहीं, 'आवश्यक' और 'अविरोधेन' पद भी मननीय हैं। (अभिनवगुप्त ने इस स्थल पर जो विवाद उठाया है, वह मुझे 'मोदकप्रियविदूषक' सम्बन्धी विवाद-सा प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त के सामने अरस्तू के सिद्धान्त भी नहीं थे, अतः उन्हें छोड़कर भरत के मूल पर ही ध्यान दें।) अर्थात्, भरत मुनि चाहते हैं कि अङ्क मे कार्यों का नियोजन आवश्यकता—कथागत अविरोध, अर्थात् एकता को ध्यान में रखकर करना चाहिए। इस कारिका के पूर्वार्ध—'एकांके न कदाचिद् बहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान्' में भी भरत मुनि ने किसी अंक मे अनेक और अनेकरूप कार्यों के नियोजन को प्रतिबद्ध माना है।

आवश्यक कार्यों और उनके अविरोध में एकता के भाव की खोज पाश्चात्य नाट्यालोचकों की दृष्टि से उपयोगी प्रतीत हो सकती है, अन्यथा भारतीय नाट्यशास्त्रियों के लिए यह पृथक् रूप से विवेच्य विषय नहीं है। 'आवश्यकता और सम्भाव्यता' को ध्यान में रखते हुए कभी-कभी ऐसे प्रसगो और कार्यों से साक्षात्कार हो सकता है जिन्हें छोड़ देने से कथानक और मुख्य कार्य खण्डित हो सकता है और जिन्हें जोड़ देने से नाट्य का—अभिनय का, उसकी प्रेक्षणीयता का हनन होने लगता है—मुख्य भाव अथवा उद्देश्य खण्डित होने लगता है। उसे नाटकों और त्रासदियों में कैसे आयोजित किया जाय, इस विषय पर अरस्तू की अपेक्षा भरत का दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट है। ऐसे ही कार्यों को व्यवस्थित करने के निमित्त भरत ने अर्थोपक्षेपकों का विधान किया है।

शास्त्रीय परिवेश में सम्पूर्ण नाट्यवस्तु को जिसे नाट्य-संरचना या प्रयोग के लिए चुना जाता है, उसके दो रूप माने गए हैं—पहला सूच्य और दूसरा दृश्य-श्रव्य।[११] दृश्य तो दृश्य-प्रदर्श्य होता ही है, श्रव्य भी अभिनय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और प्रदर्श्य होता है। ये अंश नियतरूपेण कथा की, कार्य की एकता के अनिवार्य अंग होते हैं। किन्तु सूच्यांश भी एकता की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते हैं, इसी कारण उन्हें भी छोड़ा नहीं जाता, अपितु प्रवेशक, विष्कम्भक, चूलिका, अंकमुख और अंकावतार नामक पाँच अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से आवश्यकतानुसार सामाजिकों तक सम्प्रेषित कर दिया जाता है।

अर्थोपक्षेपक और त्र्यान्विति—भरतमुनि ने अर्थोपक्षेपकों की चर्चा अंकसंरचना के प्रसंग मे की है। चूँकि अर्थोपक्षेपक सूच्यार्थ-सूच्य विषय अथवा सूच्य वस्तु के सम्प्रेषण के लिए नियोजित किए जाते है, अतः उनके माध्यम से कार्य, काल और स्थान तीनों के मध्य एकता का उद्देश्य भी निष्पन्न होता देखा जाता है। सूच्य वस्तु किसे माना जाय और दृश्य अर्थात् प्रदर्श्य किसे माना जाय, इस पर विस्तृत विचार यहाँ अभीष्ट नहीं है। किन्तु नीरस और अनुचित दोनों प्रकार के कथाश अर्थोपक्षेपकों की सीमा में आ जाते हैं, यह जानना आवश्यक है। दशरूपककार इनके माध्यम से कथा के अतिविस्तार को भी बाधित करना चाहते है। अतः अर्थोपक्षेपक—कार्य, काल और स्थान इन तीनों की अन्वितियो की दृष्टि से त्याज्य—नीरस, अनुचित और अतिविस्तृत वस्तु को बाधित कर, कथा को मुख्य उद्देश्य की दिशा में प्रवाहित करते है, यह स्पष्ट है। लक्षणों की बहिरङ्ग परीक्षा के आधार पर कार्यान्विति के प्रति इनका समर्पण भी सुतरां स्पष्ट है।

अर्थोपक्षेपक और कालान्विति—आचार्य अरस्तू ने काल-संबंधी एकता के लिए जो विधान किया है, वह अवैज्ञानिक और त्रुटिपूर्ण रहा है। अवैज्ञानिक इसलिए कि जो कार्य बारह घण्टे या चौबीस घण्टे की परिधि मे ही बँधा होगा, उसके खण्डित होने की सम्भावना कितनी हो सकती है ? यदि उसे बारह वर्ष या चौबीस वर्ष तक ले जाया जाय और एकता की स्थापना की संभावना और परीक्षा की जाय

तो बात कुछ तर्कसगत प्रतीत हो सकती है संस्कृत नाट्य परपरा और शास्त्रीय विवेचना ऐसा साहस करती है और उसकी एकता के लिए उचित उपाय भी बताती है। अर्थोपक्षेपको के माध्यम से इस कालावधि को समेटा और कम किया जाता है। अतः जो विद्वान् यह मानते है कि 'भारतीय नाट्यशास्त्र मे भ्रामक समस्या ही उत्पन्न नहीं हुई' [२], वे भूल करते है, क्योंकि काल तो काल, उसका अन्तराल एक समस्या तो होगी ही, 'भावन के द्वारा प्रेक्षक अनुकार्य, अनुकर्ता और अपने बीच के अन्तर को भुला देता है'[१३] किन्तु यह भी तो साधन ही है, अतः 'कालैक्य' यह साध्य तो रहेगा ही। कथा के मध्य जब वर्ष या वर्षों का अन्तराल आ जाता है तो रचनाकार को क्या करना चाहिये। इस पर भरतमुनि भावन की बात न कहकर रचनाकार को उपायों का निर्देश देते है क्योंकि वे मानते है कि 'भावन' मुख्यतः सहृदय सामाजिकगत प्रक्रिया है। उन अन्य उपायों मे ही अर्थोक्षेपक भी एक उपाय है जो अर्थ को, कार्य को; कार्य से सम्बन्धित काल और स्थान को जोड़ता है। ध्यान रहे कि इनमे (अर्थोपक्षेपको में) अभिनय पक्ष गौण रहा करता है, अतः उन्हें अङ्कों से पृथक् माना गया है। प्रवेशक और विष्कम्भक पर यह बात सरलता से चरितार्थ होती पायी जाती है।

अङ्कों का विभाजन करते समय प्रातः, सायं, रात्रि और दिन सभी का ध्यान रखना चाहिए और अशेष—सम्पूर्ण कार्य को तदनुसार पृथक्-पृथक् अंको में नियोजित कर देना चाहिए। यह विधान इसीलिए तो किया गया कि कहीं दर्शक को ऐसा न प्रतीत होने लगे कि प्रातः और सायं के मध्य जो बारह घण्टे का समय है, वह पलक झपकते ही दो-चार-दस सम्वादों में ही कैसे सिमट गया। ऐसे अवसरों पर निश्चय ही भावन का तर्क असंगत प्रतीत होगा।

एक दिन के कार्य, जो किसी कारणवश एक अंक मे समाप्त होते न दिखाए जा सकें अथवा जिनका प्रदर्शन उचित न समझा जाए, ऐसे कार्यों की अंकसमाप्ति के पश्चात् प्रवेशकादि अर्थोपक्षेपकों द्वारा प्रस्तुत कर देना चाहिए। इस रूप में हम देखते है कि कालगत एकता की स्थापना के निमित्त भरतमुनि के निर्देश अरस्तू के तथाकथित (यदि उन्हें कालान्विति के सन्दर्भ में स्वीकार कर लिया जाए तो) कालान्विति-सम्बन्धी निर्देशों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत हैं।

अर्थोपक्षेपक और स्थानान्विति—स्थानगत एकता के सम्बन्ध में अरस्तू भले ही मौन हों, किन्तु भरतमुनि स्पष्टरूपेण अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से उसके मध्य भी एकता की स्थापना का निर्देश करते हुए कहते हैं—

'यदि किसी कारणवश किसी कथांश का, कार्य का अथवा उसके सम्पादक का अधिक समय अथवा अन्य स्थान पर होना दिखाया जाता है तो उसे अंकसमाप्ति के पश्चात् प्रवेशकादि (अथवा केवल प्रवेशको) द्वारा संक्षेप में सूचित कर देना चाहिए।' क्योंकि एक ही दिन अथवा एक ही स्थान की घटनाओं द्वारा किसी एकांकी की रचना की जाय तो बात उचित प्रतीत हो सकती है, किन्तु बहु-अंकीय नाटकों को बारह या चौबीस घण्टो की सीमा और एक ही स्थान की परिधि में बांधना न तो उचित हो सकता है और न तो सम्भव ही। मैं अपवादों की बात नहीं करता, मुझे तो कभी-कभी अरस्तू के काव्यशास्त्र (पोएटिक्स) में तत्सम्बन्धी उल्लेखों में प्रक्षिप्तांश का सन्देह होने लगता है क्योंकि ये अरस्तू जैसे आचार्य के अभिमत रहे हों, ऐसा प्रतीत नही होता। अस्तु, उपर्युक्त कारिका में आचार्य भरत का निर्देश है कि यदि किसी कार्य के अनुकर्ता अभिनेता को एक दिन अथवा स्थान की सीमा से आगे तक जाना पड़े तो भी अङ्क को समाप्त करके ऐसे प्रसंगों, कथांशों को अर्थोपक्षेपकों, विशेषकर प्रवेशक द्वारा सूचित कर देना चाहिए। समान भावों का वहन करने वाली एक अन्य कारिका द्वारा भरतमुनि अन्यत्र भी कहते हैं—

गच्छेद्यदि विप्रकृष्टस्तु देशकालवशान्नरः ।
अङ्कच्छेदे तमन्यस्मिन् निर्दिशेद्धि प्रवेशके ॥ भरत (मधु०) १३।२३

यहाँ भी भरत ने काल के साथ ही स्थान-परिवर्तन पर क्या करना है, इस तथ्य को रचनाकार की दृष्टि से रेखांकित करते हुए निर्देश दिया है कि ऐसी स्थिति में अङ्कच्छेद कर देना चाहिए और उस कथांश को प्रवेशक द्वारा (ही) सूचित करना चाहिए।

केवल स्थान-परिवर्तन की स्थिति में भी ऐसा ही करना चाहिये। इसे भी स्पष्ट करते हुए भरतमुनि पुनः कहते हैं —

यः कश्चित् कार्यवशाद् गच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम् ।
तत्राप्यऽङ्कच्छेदः कर्तव्यः पूर्ववत्तज्ज्ञैः । —भरत २०।३०

तात्पर्य यह कि त्रयान्विति के सन्दर्भ में एकता का अर्थ गणित का एक नहीं है, अपितु अवच्छेदकता, अखण्डता है। यही कारण है कि भरत ने स्थान-सम्बन्धी एकता की दृष्टि से स्थान-परिवर्तन से कार्य और काल के मध्य जिस व्यवधान की सम्भावना उभरती है, उसे भी ध्यान में रखा है; उस समस्या को मुखरता के साथ उठाया और उसका समाधान दिया है, इसे हम अब तक विस्तार से देख चुके हैं।

अरस्तू के सूर्य-परिक्रमा सिद्धान्त के सन्दर्भ में; वर्ष का आधार भी सूर्य की एक परिक्रमा का ही अङ्ग है, ऐसा मानकर मैंने '१२ घण्टे, २४ घण्टे या वर्ष भर' कहा है।

यदि कहीं कथानक एक माह अथवा एक वर्ष अथवा मासों और वर्षों में विस्तृत हो तो उसे संक्षिप्त करके प्रस्तुत करना चाहिए। यह संक्षेपण अङ्कच्छेद द्वारा भी सम्पादित होता है। अर्थात्, मुख्य वृत्त को जो महाकाव्यों और काव्यों में विस्तार के साथ दिया जाता है, उसकी नाटकीय अन्विति यह है कि उसके लिए मुख्य-मुख्य कार्यों को जो मुख्य कथा के लिए सहायक हों, उन्हें चुना जाये और मास या वर्ष के अन्तराल को अङ्कच्छेद द्वारा ढक दिया जाये। इस सन्दर्भ में ध्येय है कि वैसे तो एक अंक में एक ही दिन की कथा का नियोजन किया जाये, यह विधान है किन्तु आवश्यकतानुसार एक अंक से दूसरे अंक के मध्य जो समय नियत किया गया है, वह एक मास या एक वर्ष की सीमा से अधिक नहीं होना चाहिए। और उस मध्य के काल को प्रवेशकादि अर्थोपक्षेपकों द्वारा सूच्य रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।[१४] भरत का यह विधान पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि से कालगत एकता की उनकी दृष्टि के विरुद्ध प्रतीत हो सकता है, किन्तु क्या एक अंक से दूसरे अंक के मध्य एक वर्ष से अधिक के कथानक के निषेध में काल की एकता के प्रति भरत की प्रतिबद्धता के संकेत नहीं मिलते ?

इस प्रकार, संक्षेप में हम देखते हैं कि त्रयान्विति को जितना महत्त्व दिया जाता है, वह उतना महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है। कार्य की; कथानक के भीतर विद्यमान मुख्य अर्थ अथवा उद्देश्य की एकता आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी। कार्य की एकता यदि अनेकता का रूप ग्रहण कर लेगी तो नाटक तो चूं-चूं का मुरब्बा बनकर रह जायेगा। वह न तो मनोभावों का विरेचन कर पायेगा और न तो परमानन्द का अजस्र स्रोत बन पायेगा।

जहाँ तक काल और स्थान की एकता-अखण्डता का प्रश्न है, उसके लिए किसी सीमा का निर्धारण बुद्धिमानी नहीं हो सकता। लम्बे काल और भिन्न स्थानों पर घटित कार्यों को भी अन्वित कर लेना, ऐसा कर पाने की शक्ति एवं निपुणता, ऐसा सम्भव कर पाने के उपाय और उन उपायों की सार्थक योजना वे विषय हैं जो रचनाकार की सफलता के मापदण्ड बन सकते हैं। यदि कार्य या

घटना एक ही हो एक ही दिन और स्थान पर घटित हुई हो तो उसमे अनेकता का प्रश्न ही कहाँ उठेगा। यदि ऐसा हो भी तो उसे दूर कर लेना सुकर ही होगा

अतएव केवल एक दिन और एक ही स्थान और समय पर घटित, सम्पन्न कार्यों को लेकर लिखे गए रूपक-भेदों को भरतमुनि ने एकांकी माना है। एकाङ्कियों में नाट्य के सामान्य तत्व तो विद्यमान रहते हैं किन्तु अपने अतिसंक्षिप्त रूप में। जैसे उनमें सभी कार्यावस्थायें तो रहती हैं, किन्तु सभी सन्धियों, अर्थप्रकृतियों, वृत्तियों और सभी सन्ध्यङ्कों की योजना अनावश्यक होती है क्योंकि उनका विषय केवल एक दिन के एक ही स्थान पर सम्पादित कार्य से सम्बद्ध रहता है। किन्तु नाट्य की अन्य विधाओं में जिनमे पाँच से दश अंकों तक की योजना का विधान है, वहाँ एक दिन और एक ही स्थान का बन्धन न तो भारतीय परिवेश में उचित है और न तो भारतीयेतर परिवेश में।

इसी कारण भारतीय नाट्यशास्त्र में त्रयान्विति जैसे विषय को, जिसके सारे अंग अन्य नाट्य-सिद्धान्तों में स्वतः समाहित रहे हैं, पृथक् रूप से नही उठाया गया है। भरतमुनि ने भी ऐसा नहीं किया और उनके परवर्ती आचार्यों ने भी इसे उपयोगी नही माना। मुझे तो आचार्य अरस्तू, के 'काव्यशास्त्र' में भी त्रयान्विति पर पृथक् और एकत्र इस विषय की विवेचना देखने को नहीं मिली। इतना ही नहीं, अरस्तू की अपेक्षा भरत की दृष्टि इन तीनों विषयों पर अधिक मौलिक, तर्कसंगत तथा प्रयोगपरक रही है, ऐसा मेरा व्यक्तिगत मन्तव्य है।

संदर्भ-संकेत

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनुवाद भाग, पृ० २५, अनुवादक डॉ० नगेन्द्र तथा महेन्द्र चतुर्वेदी : भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद : तृतीय संस्करण। २. अरस्तू, अनुवाद भाग, पृ० १८। ३. वही, पृ० ६३। ४. नाट्य-दर्पण, प्रथम विवेक। ५. अरस्तू, भूमिका भाग, पृ० ७२। ६. डॉ० सत्यव्रत सिंह, साहित्य-दर्पण, पृ० ४०२-४०३। ७. द्रष्टव्य : डॉ० अभयमित्र, संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक, पृ० १२२-१२३। ८. भरत० २१।२०। ९. अरस्तू, अनुवाद भाग, पृ० २५। १०. भरत (मधुसूदनी सहित) १८।२२। ११. इस विभाजन का मूल श्रेय दशरूपककार को ही दिया जाना चाहिए। १२. डॉ० नगेन्द्र, अरस्तू, भूमिका भाग, पृ० ८१। १३. वही, पृ० ७१। १४. भरत (मधु०) १८।३०-३१ पर अभिनवगुप्त ने विस्तृत शास्त्रार्थ प्रस्तुत किया है।

११४३, पुराना कटरा,
इलाहाबाद

राजशेखर और आधुनिक सृजन की समस्याएँ

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

(१) यायावरीय

संस्कृत आलोचनाशास्त्र के लंबे इतिहास में राजशेखर एकमात्र ऐसे आलोचक हैं जिनके विश्लेषण में सिद्धान्तों की नीरस समीक्षा के बजाय, प्रयोगात्मक या व्यावहारिक आलोचना का खुलापन है। राजशेखर, मूलत: विदर्भ (महाराष्ट्र) के यायावर वंश में पैदा हुए थे। उस समय, यायावर महाराष्ट्र के ब्राह्मणों का एक वंश था जो शालेय ब्राह्मणों (घर बसाने वाले) के विपरीत, घुमंतू थे। राजशेखर ने अपने मत का उल्लेख 'यायावरीय' के नाम से किया है। हो सकता है, 'इस वंश पर' आर्यों के 'चरैवेति-चरैवेति' का असर रहा हो।

(२) कर्तृत्व

राजशेखर की माता का नाम शीलवती और पिता का दर्दुक था। इनकी पत्नी अवन्तीसुन्दरी अत्यंत विदुषी महिला थीं जिसके काव्य के विषय में अपने स्वतंत्र विचार थे और इनमें से कई विचारों का उल्लेख राजशेखर ने किया है। राजशेखर की तरह, संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति भी महाराष्ट्र के थे जो राजशेखर के आदर्श थे तथा जिन्हें कन्नौज के राजा यशोवर्मा की सभा में सम्मानजनक पद प्राप्त था। स्वयं राजशेखर भी कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार राजा महीपाल के सभाकवि थे। उनका अधिकांश सृजन कन्नौज में हुआ। आलोचक के अतिरिक्त वह प्रसिद्ध नाटककार भी थे। उस समय साहित्य-साधना के प्रमुख केन्द्र दो ही थे। एक कश्मीर-मंडल, जहाँ संस्कृत तथा सैद्धांतिक समीक्षा का बोलबाला था। दूसरा कन्नौज-मंडल, जो दक्षिणापथ के संस्कृत और प्राकृत के विद्वानों का महान् आश्रयदाता था। राजशेखर प्राकृत को संस्कृत की मूलभाषा मानते थे। उन्होंने इसीलिए प्राकृत में भी रचना की। उन्होने भूतभाषा की रचनाओं को भी महत्त्व दिया। भूतभाषा से राजशेखर का अभिप्राय मिश्रित काव्य-भाषा से है। सृजन की दृष्टि से कन्नौज का दरबार, कश्मीर की तुलना में अधिक उदार था। वह सही अर्थ में सृजन को प्रोत्साहन देने वाला था, चाहे सृष्टा किसी भी भाषा और प्रदेश का हो।

(३) काव्य-मीमांसा

संस्कृत आलोचना में राजशेखर की कई मान्यताएँ मौलिक और महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, उन्होंने आन्वीक्षिकी, त्रयी आदि विधाओं के समांतर साहित्य की पाँचवीं विधा स्वीकार किया है। उनके अनुसार साहित्य विधा सब विधाओं का निचोड़ (निष्यंद) है। काव्य विधा का उद्‌गम बताते हुए वह कहते हैं कि सबसे पहले इसका उपदेश श्रीकंठ (शिव) ने अपने शिष्यों को दिया, इनमें स्वयंभू भी एक शिष्य था। उसने जिन शिष्यों को काव्य विधा का उपदेश दिया, उनमें एक शिष्य काव्य-पुरुष भी था जो सरस्वती का अयोनिज पुत्र था। काव्य-पुरुष ने काव्य

विद्या का अठारह खंडों में विभाजन कर अलग-अलग शिष्यों को उनकी शिक्षा दी। राजशेखर ने भी इसी का अनुसरण करते हुए १८ खंडों में 'काव्य-मीमांसा' नामक बृहद् ग्रंथ लिखने की योजना बनाई थी। परन्तु उसका पहला खंड (कवि-रहस्य) ही उपलब्ध है, शेष भाग लिखा गया या नहीं, कहना कठिन है।

(४) काव्य की उत्पत्ति

राजशेखर की कल्पना है कि पुत्र की कामना से सरस्वती ने हिमगिरि पर तप किया, विधाता ने प्रसन्न होकर 'काव्य-पुरुष' को जन्म दिया, पुत्र आकर संस्कृत भाषा के छन्द में सरस्वती को प्रणाम करता है। वह प्रसन्न होती है कि पुत्र ने गद्य के बजाय पद्य का प्रयोग किया। एक दिन वह स्नान करके लौटती है, उसका काव्य-पुत्र खो जाता है। वह विलाप करती है। आदि-कवि उसे पुत्र का पता देते हैं। पुत्र को पाकर सरस्वती उन्हें भी कवि बनने का आशीर्वाद देती है। लौटते हुए वाल्मीकि, युवा क्रौंचयुग्म में से एक को आहत और दूसरे को व्यथित देखकर शोकाभिभूत हो उठते हैं। उनका शोक 'मा निषाद···' के श्लोक में ढलकर अभिव्यक्त होता है। भारतीय कविता-रूपी नदी की गंगोत्री 'यही करुणा' है और उसे अभिव्यक्ति देने वाले पहले कवि वाल्मीकि हैं।

(५) काव्य के तत्त्व

राजशेखर के अनुसार काव्य के सृजन का मुख्य कारण प्रतिभा है जिसके तीन अंग हैं, स्मृति, जो अतीत अर्थों को सामने लाती है; मति, जो विद्यमान अर्थ का मनन करती है; और प्रज्ञा, जो भावी अर्थों की कल्पना करती है। इन तीनों के समन्वय का अर्थ प्रतिभा है जो तीनों कालों (भूत, भविष्य और वर्तमान) से सम्बद्ध है। कवि के मूल में 'कवृ वर्णने' धातु है जिसका अर्थ है कल्पनात्मक वर्णन। शब्द और अर्थ काव्य के स्थूल उपकरण है जिनके माध्यम से अर्थ की पुनर्रचना कर कवि अपनी अनुभूतियों को सम्प्रेषित करता है। अतः कल्पनात्मक शब्द ही सर्जनात्मक शब्द है, रसात्मक वाक्य का भी यही अर्थ है। रसात्मकता वस्तुतः सर्जनात्मकता ही है। परंपरावादी समीक्षकों और नई कविता-वादियों के बीच रस को लेकर जो विवाद है, वह वस्तुस्थिति को न समझने के कारण है क्योंकि रसात्मकता प्रेषणीयता की ही चरम परिणति है। संप्रेषणीयता के लिए साधारणीकरण जरूरी है, प्रेषित अनुभूति व्यापक सत्य से तभी जुड़ती है जब वह सर्जनात्मक शब्द के द्वारा अभिव्यक्त हो। सृजन का वास्तविक प्रयोजन यही है। राजशेखर ने इसीलिए शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव को साहित्य कहा है। यथावत् से यहाँ अभिप्राय कवि के द्वारा अभिप्रेत सहभाव से है। शब्द और अर्थ के सहभाव से संप्रेषित अनुभूति रस ही हो—यह आवश्यक नहीं है। कम से कम राजशेखर की यही मान्यता है, जैसा कि उनके कवियों के वर्गीकरण से स्पष्ट है। राजशेखर ने उक्ति कवि, अलंकार कवि आदि भेदों की तरह एक भेद रस कवि भी माना है जो बताता है कि वह 'रस' को काव्य की आत्मा मानने को तैयार नहीं। आत्मा 'रस' नहीं, बल्कि संप्रेषित अर्थ है।

(६) सामाजिक स्वीकृति

समाज के द्वारा स्वीकृति और मूल्यांकन सृजन की दो प्रमुख समस्याएँ हैं। वर्तमान में स्रष्टा से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह भवभूति की तरह पृथ्वी को विशाल और काल को अनन्त मानकर मूल्यांकन करने वाले की प्रतीक्षा करता रहे। स्रष्टा और समाज में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व है कि कवि तत्काल यश चाहता है (निज कवित्त केहि लाग न नीका) जबकि समाज

जीवन-काल में सृजन का मूल्यांकन करने के पक्ष में नहीं है। आधुनिक युग में मुक्तिबोध का उदाहरण हमारे सामने है। तात्कालिक मूल्यांकन की यह माँग समस्या का रूप धारण कर चुकी है। इसका प्रमाण यह है कि सातवें दशक में यह आन्दोलन चलाया जा रहा है कि सृजन की आलोचना वही कर सकता है जो स्वयं सृजन करता है। अकादमिक और धंधई आलोचक सृजन के साथ न्याय नहीं कर पा रहे हैं। यह सृजनात्मक आलोचना दो बातों पर जोर देती है : एक तो कविता की महत्ता प्रतिपादित करना, दूसरे कवि के सृजनात्मक सत्य की जाँच-पड़ताल करने वाली आलोचना को कविता के समान दर्जा देना। जहाँ तक कवि और आलोचक को समान दर्जा देने का प्रश्न है, राजशेखर बहुत पहले उसका हल यह कहकर कर चुके हैं—'यत्कवि भविष्यति भावकश्च कवि.' कवि भावना करता है और भावक कवि है। उसके अनुसार प्रतिभा के दो रूप हैं—कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा। एक रचनाकार का उपकार करती है और दूसरी आलोचक का। यदि भावक (आलोचक) न हो तो कवि का काव्य-व्यापार-रूपी वृक्ष निष्फल हो जाए।

एक शालग्राम पत्थर स्वर्ण बनता है जब कि दूसरा पत्थर, कसौटी के रूप में उसका परीक्षण करता है—"एकः सूते कनकमुपलं स्वत्परीक्षा क्षमोऽन्यः"

(७) आलोचकों के प्रकार

कवियों की तरह आलोचकों की भी कई श्रेणियाँ हैं। अरोचकी आलोचक को कुछ भी अच्छा नहीं लगता। सातृणाभ्यवहारी हर रचना पर वाह-वाह कर उठता है। मत्सरी आलोचना विद्वेष से भरपूर होती है। सही आलोचक तत्त्व का आग्रह रखने वाला, तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक है जो हजारों में एक होता है। तत्त्व के आग्रह के साथ वह समूची सृजन-प्रक्रिया की छानबीन करता है। वह शब्द-अर्थ का विश्लेषण करता है, गुंफन-विधि समझता है, रसामृत का आस्वादन करता हुआ सृजन की 'तात्पर्यमुद्रा' को खोज निकालता है। राजशेखर के अनुसार आलोचक का कार्य किसी निर्णय पर पहुँचना नहीं है, बल्कि उसकी प्रक्रिया खोजना है। आलोचना की बैशाखी पकड़कर कोई कवि सफलता के शिखर पर नहीं पहुँच सकता। राजशेखर का कहना है कि ग्रंथों में निबद्ध रचनाएँ कई हैं, परन्तु सहृदयों के हृदय-रूपी शिलापट्ट पर खुद-ब-खुद खुद जाने वाली रचनाएँ बहुत कम होती हैं। कवि मे आत्म-संस्कार होना भी जरूरी है। इसके साथ आत्मरुचि और लोक-रुचि में तालमेल बैठाना जरूरी है।

(८) काव्यरूढ़ियाँ

१८५० के आसपास अंग्रेजी के मोटिफ (कथानक-रूढ़ियाँ) को लेकर प्रबन्ध-काव्यों की आलोचना में काफी ऊहापोह हुई। राजशेखर ने 'रूढ़ि' की जगह 'कविसमय' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार, कविसमय उस समय अस्तित्व में आते हैं जब केवल प्रयोग देखकर, उनका अनुकरण कविता में किया जाता है।

कविसमय शब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्र दर्शिभः प्रयुक्तः रूढ़िश्च"—मूल को नहीं देखते हुए प्रयोगमात्र को देखने वालों के द्वारा प्रयुक्त रूढ़ि कविसमय है। यह जरूरी नहीं है कि 'कविसमय' शब्द कथानक रूढि तक सीमित हो, 'रूढ़ि' शब्द कल्पना, प्रतीक आदि के प्रयोग में भी सम्भव है। नई कविता इतिवृत्तविहीन कविता है, अतः उसमे दूसरे प्रकार की रूढ़ियाँ हैं। प्रासंगिकता, सार्थकता, प्रतिबद्धता, पहचान, आक्रोश, संत्रास इत्यादि शब्द इसी प्रकार की कुछ रूढ़ियाँ हैं। कहने का अभिप्राय विवेक के साथ किया गया हर प्रयोग काव्य का तत्त्व है और हर विवेकशून्य प्रयाग रूढ़ि है।

---

(९) मौलिकता का दावा

कविता मे पूर्ण मौलिकता का दावा सरस्वती भी नही कर सकती। सृजन मे कल्पना शब्द और अनुभूति की पुनरावृत्ति होगी ही। राजशेखर के अनुसार एक सफल वणिक् की तरह सफल कवि वह है कि जो अपनी चोरी छिपाना जानता है :

'नास्तिय चौरः कविजनो, नास्त्य चौरो वणिग्जनः ।
स नन्दति बिना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥'

"कविजन चोर नहीं है, ऐसा नहीं है, वणिग्जन चोर नहीं है, ऐसा नही है, (अर्थात् दोनों कहीं न कहीं चोरी करते हैं)। जो चोरी छिपाना जानता है वही बिना आलोचना के प्रसन्न रहता है।"

(१०) कवि की मौलिकता

किसी कवि की मौलिकता बहुत कुछ इसी चौर्यकला की निपुणता पर निर्भर करती है। राजशेखर कवि भी थे और आलोचक भी। परन्तु अपने आलोचक पर उन्होंने कवि को हावी नही होने दिया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका प्रत्येक विचार उदाहरण से पुष्ट है। सृजन-प्रक्रिया के तत्वों और विविध आयामों का ऐसा सहज और प्रयोगात्मक आलोचक पिछले एक हजार वर्ष में नहीं हुआ।

११४, उषानगर
इंदौर-४५२००२

डॉ० रमाशंकर तिवारी

(क)

भरतमुनि के प्रसिद्ध रस-सूत्र, "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः", की व्याख्या की जो शृंखला चल पड़ी, उसमें दूसरी महत्त्वपूर्ण कड़ी आचार्य शंकुक हैं। वे भट्ट लोल्लट के, जो भरत के पहले व्याख्याता है, कनिष्ठ समकालीन थे। उनकी प्रणीत व्याख्या अधुना उपलब्ध नहीं है और अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने उनके जो उद्धरण दिये हैं, उन्हीं के आधार पर शंकुक के रस-निरूपण को समझा जा सकता है।

शंकुक ने लोल्लट के निरूपण की आलोचना की है। 'अभिनवभारती' में उनके द्वारा प्रदर्शित दोष निम्नांकित हैं—

(१) विभावादि के योग के बिना, अनुमापक हेतु के अभाव मे, स्थायीभाव की प्रतीति सभव नहीं है—'विभावाद्ययोगे स्थयिनो लिंगाभावेन अवगत्यनुपपत्तेः।' लोल्लट ने रसनिष्पत्ति के लिए स्थायी के साथ विभावादि का संयोग आवश्यक माना है। शंकुक की पहली आपत्ति यह है कि विभावादि से पृथक् स्थायीभाव की स्वतन्त्र सत्ता सम्भव नहीं होती, अतः उनके साथ संयोग का कथन अनुपपन्न है।

(२) संयोग मान लेने पर, भावों को पहले से ही अभिधेयात्मक, अर्थात् शब्द-मात्र से कथित होने वाला मानना पड़ेगा—'भावानां पूर्वाभिधेयता प्रसंगात्।' लेकिन, तब उस स्थायी की प्रतीति नहीं होगी, शाब्दिक ज्ञान भले हो जाय। शंकुक की आपत्ति यह है कि भाव 'अभिधेय' नहीं हो सकते। अन्य शब्दों में, 'प्रेम' या 'क्रोध' मात्र कहने से इन भावों की स्वरूप-प्रतीति नहीं हो सकती।

(३) यदि विभावादि से पहले भाव की स्थिति मानी जाय, तो भरत-सूत्र का 'विभावानुभाव-सयोगात्' वाला लक्षण व्यर्थ हो जायेगा—'स्थिति-दशायां लक्षणान्तर-वैयर्थ्यात्', क्योंकि उसमें स्थायीभाव का भिन्न विभक्ति में भी उल्लेख नहीं है।

(४) यदि रति इत्यादि स्थायीभावों को ही रस माना जाय, तो उन भावो के परिमाण में न्यूनाधिक्य अथवा तारतम्य (तर, तम का भाव) की सम्भावना होगी और तब तदनुरूप, रस में भी मन्द, अधिक, उससे अधिक इत्यादि, तर-तम अनेक भेद मानने पड़ेंगे—'मन्द-तर-तम-माध्यस्थ्या-द्यानन्त्यापत्तेः'। लोल्लट ने विभावादि से पुष्ट होने वाले स्थायी को रस माना है, अर्थात् उनके अनुसार, स्थायी तथा रस मूलतः एक है। शंकुक की आपत्ति यह है कि जैसे भाव मे तीव्रता, शिथिलता इत्यादि स्थितियाँ आती हैं, वैसे ही तब रस के भी भिन्न-भिन्न भेद मानने पड़ेंगे जिससे रस की अखंडता बाधित हो जायेगी।

(५) यदि रस को अखंड मान लें, तो हास्यरस के जो छह भेद, स्थायीभाव की मात्रा के तारतम्य से, किये गये हैं, वे अनुपपन्न हो जायेंगे—'हास्यरसे षोढात्वाभाव-प्राप्तेः।'

(६) और, यदि स्थायीभाव के तारतम्य से, अर्थात् तीव्रता, शिथिलता इत्यादि स्थितियों के अनुसार, रस के भेद माने जायँ, तो काम की दस दशाओं में असंख्य रसभावादि मानने पड़ेंगे— 'कामावस्थासु दशास्वसंख्य-रसभावादि प्रसंगात् ।'

(७) शोक आरम्भ में तीव्र तथा पुनः काल-क्रम से मन्द होता जाता है, अतः उसका उपचय न होने के कारण करुण रस की उत्पत्ति नहीं होगी—'शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनुमान्द्य-दर्शनं ।'

(८) रति, क्रोध इत्यादि अन्य स्थायीभावों मे, अमर्ष, स्थैर्य तथा सेवादि परिपोषक सामग्री के अभाव में, ह्रास दीखने लगता है, अतः उनमें उपचय के बदले अपचय (क्षीणता) की स्थिति प्राप्त होती है। सुतराम्, उपचित (परिपुष्ट) स्थायी रस है (जैसा लोल्लट ने कहा है)—यह कथन उचित नहीं है—'क्रोधोत्साह-रतीना अमर्ष-स्थैर्य-सेवाविपर्यये ह्रास-दर्शनम् इति । विपर्ययस्य दृश्य-मानत्वाच्च ।'[२]

उपर्युक्त उद्धरण पर विचार करने से जान पड़ता है कि पहले तीन आक्षेप लोल्लट की इस मान्यता का खंडन करते हैं कि विभावादि से पृथक् स्थायीभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव है। किन्तु, यहाँ उल्लेखनीय यह है कि लोल्लट की इस धारणा का बीज भरत मे ही मौजूद है जब वे 'नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावारसत्वमाप्नुवन्ति' का कथन करते हैं। लोल्लट, भरत के समीप हैं।

चौथी, पाँचवीं तथा छठी आपत्तियों में स्थायी तथा रस के एकत्व का प्रत्याख्यान किया गया है। स्थायीभावों के उद्रेक में तीव्रता, मन्दता इत्यादि के अनुरूप रस के अनेक भेद करने, और वैसे ही, दूसरी तरफ, रस की अखंडता मान लेने से, हास स्थायी के परिमाण के तारतम्य (तर-तमता) के अनुसार हास्यरस के माने गये छह भेदों का निरसन मानने की जिस बाध्यता का शंकुक ने कथन किया है, वह तत्त्वहीन है। स्थायी तथा उससे सम्बन्धित रस प्रकृतितः, जातितः एक हैं, उनके उद्रेक के परिमाण में अन्तर पड़ने से उस स्थायी तथा उस रस की अखंडता, अविभाज्यता पर कोई आघात नहीं लगता। यदि किसी रस के अनेक भेद हैं, तो उससे उस रस का स्वरूप अथवा स्वभाव नहीं बदल जाता।

अन्तिम दो आक्षेपों का सम्बन्ध स्थायी के परितोष से रस बनने की लोल्लटीय मान्यता से है। 'शोक' स्थायी का निसर्गतः अपचय होता है और क्रोध, उत्साह, इत्यादि स्थायिभावों में अमर्ष इत्यादि के अभाव से अपचय होने लगता है। लोल्लट ने व्यभिचारियों से स्थायिभाव के उपचित (परिपुष्ट) होने की बात कही है, और उपचित वा परिपोष-प्राप्त स्थायी ही रस है। अतः, जब स्थायी का उपचय नहीं होगा (जैसा शंकुक ने दिखाया है), तब रस कैसे बनेगा ?

शंकुक की यह आपत्ति आपाततः सारपूर्ण प्रतीत होती है। किन्तु, इस विषय में विचारणीय यह है कि शंकुक ने शोक के क्रमिक स्वाभाविक अपचय और अमर्ष इत्यादि के अभाव में क्रोधादि के अपचय (ह्रास) का जो कथन किया है, वह लौकिक जीवन में चरितार्थ होता है, नाट्य अथवा काव्य में नहीं। लोक-जीवन में रस नहीं बनता। लोल्लट ने यह नहीं कहा कि लोक-जीवन में 'रस' बनता है। वहाँ तो भावों का उद्रेक होता है जिसके परिमाण में तार-तम्य की स्थिति हो सकती है। लोल्लट का रस-निरूपण नाट्यगत अथवा काव्यगत पात्रों को ध्यान मे रखते हुए किया गया है। अतएव, काव्य या नाट्य में शोक, क्रोध, रति प्रभृति किसी भी स्थायी के ह्रास-ग्रस्त होने का प्रश्न उपपन्न नहीं होता। वैसी हालत में रस की निष्पत्ति या उत्पत्ति होगी ही नहीं। लोल्लट काव्य-रस

(६) और यदि स्थायीभाव के तारतम्य से अर्थात् तीव्रता शिथिलता इत्यादि स्थितियो के अनुसार, रस के भेद माने जाय, तो काम की दस दशाओ मे असख्य रसभावादि मानने पडगे 'कामावस्थासु दशास्वसंख्य-रसभावादि प्रसंगात् ।'

(७) शोक आरम्भ में तीव्र तथा पुन: काल-क्रम से मन्द होता जाता है, अत: उसका उपचय न होने के कारण करुण रस की उत्पत्ति नहीं होगी—'शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनुमान्द्य-दर्शनं ।'

(८) रति, क्रोध इत्यादि अन्य स्थायीभावों में, अमर्ष, स्थैर्य तथा सेवादि परिपोषक सामग्री के अभाव में, ह्रास दीखने लगता है, अत: उनमें उपचय के बदले अपचय (क्षीणता) की स्थिति प्राप्त होती है। सुतराम्, उपचित (परिपुष्ट) स्थायी रस है (जैसा लोल्लट ने कहा है)—यह कथन उचित नहीं है—'क्रोधोत्साह-रतीनां अमर्ष-स्थैर्य-सेवाविपर्यये ह्रास-दर्शनम् इति । विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च ।'[1]

उपर्युक्त उद्धरण पर विचार करने से जान पडता है कि पहले तीन आक्षेप लोल्लट की इस मान्यता का खंडन करते है कि विभावादि से पृथक् स्थायीभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव है। किन्तु, यहाँ उल्लेखनीय यह है कि लोल्लट की इस धारणा का बीज भरत में ही मौजूद है जब वे 'नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावारसत्वमाप्नुवन्ति' का कथन करते हैं। लोल्लट, भरत के समीप हैं।

चौथी, पाँचवीं तथा छठी आपत्तियों में स्थायी तथा रस के एकत्व का प्रत्याख्यान किया गया है। स्थायीभावों के उद्रेक में तीव्रता, मन्दता इत्यादि के अनुरूप रस के अनेक भेद करने, और वैसे ही, दूसरी तरफ, रस की अखंडता मान लेने से, हास स्थायी के परिमाण के तारतम्य (तर-तमता) के अनुसार हास्यरस के माने गये छह भेदों का निरसन मानने की जिस बाध्यता का शंकुक ने कथन किया है, वह तत्त्वहीन है। स्थायी तथा उससे सम्बन्धित रस प्रकृतित:, जातित: एक हैं, उनके उद्रेक के परिमाण में अन्तर पड़ने से उस स्थायी तथा उस रस की अखंडता, अविभाज्यता पर कोई आघात नही लगता। यदि किसी रस के अनेक भेद हैं, तो उससे उस रस का स्वरूप अथवा स्वभाव नही बदल जाता।

अन्तिम दो आक्षेपों का सम्बन्ध स्थायी के परितोष से रस बनने की लोल्लटीय मान्यता से है। 'शोक' स्थायी का निसर्गत: अपचय होता है और क्रोध, उत्साह, इत्यादि स्थायिभावों में अमर्ष इत्यादि के अभाव से अपचय होने लगता है। लोल्लट ने व्यभिचारियों से स्थायिभाव के उपचित (परिपुष्ट) होने की बात कही है, और उपचित वा परिपोष-प्राप्त स्थायी ही रस है। अत:, जब स्थायी का उपचय नही होगा (जैसा शंकुक ने दिखाया है), तब रस कैसे बनेगा ?

शंकुक की यह आपत्ति आपातत: सारपूर्ण प्रतीत होती है। किन्तु, इस विषय में विचारणीय यह है कि शंकुक ने शोक के क्रमिक स्वाभाविक अपचय और अमर्ष इत्यादि के अभाव में क्रोधादि के अपचय (ह्रास) का जो कथन किया है, वह लौकिक जीवन मे चरितार्थ होता है, नाट्य अथवा काव्य मे नहीं। लोक-जीवन में रस नही बनता। लोल्लट ने यह नहीं कहा कि लोक-जीवन में 'रस' बनता है। वहाँ तो भावों का उद्रेक होता है जिसके परिमाण में तार-तम्य की स्थिति हो सकती है। लोल्लट का रस-निरूपण नाट्यगत अथवा काव्यगत पात्रों को ध्यान में रखते हुए किया गया है। अतएव, काव्य या नाट्य में शोक, क्रोध, रति प्रभृति किसी भी स्थायी के ह्रास-ग्रस्त होने का प्रश्न उपपन्न नहीं होता। वैसी हालत में रस की निष्पत्ति या उत्पत्ति होगी ही नहीं। लोल्लट काव्य रस

अथवा नाट्यरस का ही सवाल सुलझा रहे थे। अतएव, उनके अनुसार, कवि-शिल्प की चरितार्थता इसी बात में सन्निहित है कि संचारियों इत्यादि का ऐसा कुशल विनियोग किया जाय कि स्थायिभाव रसत्व को प्राप्त हो जाय।[२] भरत से लेकर आज तक के शास्त्रीय चिन्तन में स्थायी के रसरूप मे परिणत होने का तथ्य स्वीकारा गया है। भानुदत्त ने स्पष्ट कहा है—"विभावानुभाव-सात्त्विक-भाव-व्यभिचारि-भावैः उपनीयमानः परिपूर्णः स्थायिभावो रस्यमानो रसः।"[३]

शंकुक द्वारा अपने वरिष्ठ सहयोगी की की गयी आलोचना का परीक्षण करने के उपरान्त, अब शंकुक के प्रकृत रस-निरूपण पर दृष्टिपात किया जा सकता है।

(ख)

'अभिनव-भारती' में शंकुक का अभिमत यों उद्धृत हुआ है—

"—(रस के) कारण-रूप विभावों, कार्य-रूप अनुभावों तथा सहचारी-रूप व्यभिचारी भावों से, प्रयत्न-जन्य होने के कारण कृत्रिम होने पर भी, कृत्रिम न प्रतीत होने वाले लिंग के सामर्थ्य से (अर्थात्), कारण-कार्य-सहकारी-रूप विभावादि से (अनुकर्ता नट में स्थित-रूप से) अनुमान द्वारा प्रतीत होने वाला, रस मुख्य (अनुकार्य) रामादि में रहने वाले रत्यादि स्थायिभाव का अनुकरण-रूप होता है। और अनुकरण-रूप होने के कारण ही, स्थायिभाव न कहलाकर, उससे भिन्न 'रस' नाम से जाना जाता है।" "अनुकरणात्वात् एव च नामान्तरेण व्यपदिष्टोरसः।"

"—विभाव 'काव्य-बल' से उपस्थित होते हैं, अनुभव नट की शिक्षा इत्यादि से और व्यभिचारी अपने कृत्रिम अनुभावो के अर्जन द्वारा उपस्थित होते हैं। स्थायिभाव इनमें से किसी साधन से, 'काव्य-बल' से भी, प्रतीत नही होता। रति, शोक इत्यादि शब्द, अभिधा के द्वारा, परोक्ष रूप से रति इत्यादि स्थायी भावों का बोधन कराते हैं, वाचिक अभिनय के रूप में उन्हें बोधित नही करते।" × × × (स्थायी की प्रतीति काव्य-बलादि से न होकर केवल अभिनय द्वारा होती है।) भरत के मूल सूत्र में 'स्थायी' पद का प्रयोग नही हुआ है।

"—अतएव, अनुक्रियमाण रति (स्थायी) श्रृङ्गार रस होती है—'रतिः अनुक्रियमाणा श्रृंगारः।" इसलिए (लोल्लट ने) रस को जो स्थायिभाव-रूप अथवा स्थायिभाव-जन्य माना है, वह युक्तिसंगत नही है—'तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च अयुक्तम्।' यहाँ नट ही सुखी राम है—इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। यही राम है—इस प्रकार की भी प्रतीति नही होती। यह राम नही है—ऐसी प्रतीति भी नही होती। यह राम है या नही—इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति भी नही होती।[४] अपितु 'चित्र-तुरग न्याय' से (अर्थात् घोड़े का चित्र देखकर जैसी प्रतीति होती है, वैसी) सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य-रूप समस्त प्रतीतियों से विलक्षण प्रकार की यह प्रतीति होती है कि जो सुखी राम है, वही यह नट है (जिसे निश्चितरूपेण भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता।)"[५]

अभिनवगुप्त के अनुसार, शंकुक की मान्यताएँ सरल रीति से निम्नवत् समझी जा सकती हैं—

(१) स्थायी भाव अनुकार्य रामादि से रहता है।

(२) विभावादि की सहायता से नट उसका अनुकरण करता है। तब वह स्थायी नट में स्थित प्रतीत होने लगता है।

(३) उस समय वह अनुकरण किया जाता हुआ स्थायी 'रस' कहलाता है।

(४) स्थायी की प्रतीति काव्य की अभिधा-शक्ति से नहीं होती, प्रत्युत वाचिकादि अभिनय से होती हैं· विभाव काव्य-बल से उपस्थित होते हैं, स्थायी नही।

(५) अनुक्रियमाण स्थायी रस है।

(६) अभिनय के बल से नट इसी रस को सामाजिक के लिए सुलभ बना देता है, अर्थात उसकी 'अनुमानात्मक प्रतीति' का विषय बना देता है।

(७) रस-सूत्र के 'संयोग' का अर्थ है 'अनुकार्य-अनुकारक सम्बन्ध' और 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अनुकृति' या 'अनुकरण'।

मम्मट ने 'चित्र-तुरग न्याय' का पहले ही कथन कर, उसकी व्याख्या की है और सामाजिक द्वारा की गई रस-प्रतीति को चारों प्रकार की प्रतीतियों से 'विलक्षण' बताया है।[६] तदनन्तर, शंकुक का मत यों उद्धृत किया गया है—"काव्यानुसंधान-बलात् शिक्षाभ्यास-निर्वर्तित-स्वकार्य-प्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारण-कार्य-सहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽभिमन्यमानैः विभावादि-शब्द-व्यपदेश्यैः संयोगात् गम्य-गमक-भाव-रूपात् अनुमीयमानोऽपि वस्तु-सौन्दर्य-बलात् रसनीयत्वेन अन्यानुमीयमान-विलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावः तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनयाचर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुकः।"

सरल रीति से प्रस्तुत उद्धरण का अर्थ यों समझा जा सकता है—"काव्यगत वाक्यों की अर्थ-प्रतीति के बल से, शिक्षा तथा अभ्यास के द्वारा, नट अपने कार्य को भलीभाँति प्रकाशित कर दिखलाता है। उस (नट) के द्वारा प्रकटित कारण, कार्य तथा सहचारी भाव, जो नाट्य में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी कहलाते हैं, बनावटी होने पर भी, मिथ्या नहीं भासित होते। इन्हीं के संयोग द्वारा गम्य-गमक-भाव-रूप से रस अनुमित होता है और वस्तु के सौन्दर्य के कारण आस्वाद्य भी बनता है। सामाजिक इसका अनुमान करते हैं, किन्तु रस, अनुमान से भिन्न होकर, स्थायी रूप से चित्त में अभिनिविष्ट होता है। ये जो स्थायी-रूप रति आदि भाव हैं, वे नट में न होते हुए भी दर्शक-वृन्दों की वासना द्वारा चर्वित होते हैं। इसी भाव का नाम रस है।"[७]

टीकाकार ने मम्मट के प्रस्तुत उद्धरण का सारांश ऐसे समझाया है—"जैसे कुहरे से ढके प्रदेश में धूम के न होने पर भी, मिथ्या धूम-ज्ञान से सहचरी अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही नट द्वारा चतुराई से, ये विभावादि मेरे ही हैं, ऐसा प्रकटित होने पर अनुपस्थित (भी) विभावादि के साथ जो रति नियत है, उसका अनुमान होता है। वही रति अपने सौन्दर्य के बल से सामाजिकों के लिए स्वाद का आनन्द देती हुई, चमत्कार को उत्पन्न करती है। इसी रति का अनुमान ही रस की निष्पत्ति (सिद्धि) है।"[८]

मम्मट के अनुसार, शंकुक के निरूपण में संयोग का अर्थ है—'गम्य-गमक भाव' अथवा 'अनुमाप्य-अनुमापक भाव' और 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अनुमान' वा 'अनुमिति'। (विभावादि 'गमक' अथवा 'अनुमापक' हैं और रस 'गम्य' अथवा 'अनुमाप्य' है।)

'काव्य-प्रकाश' तथा 'अभिनव-भारती' के उद्धरणों मे कोई खास अन्तर नहीं है। दोनों को मिला कर देखने से शंकुक की मान्यता निखर आती है। शंकुक मूल (अनुकार्य) पात्र को रस का आश्रय नहीं मानते, क्योंकि उसमें रत्यादि 'स्थायी' होते हैं, रस नहीं। नट भी रस का आश्रय नहीं है, क्योंकि रस नट मे 'अनुक्रियमाण' है, अथवा 'अनुमेय' है। स्थायी भी वस्तुत नट मे नहीं होता, वह उसके अभिनय-कौशल से उसमे स्थित प्रतीत होता है। जैसा डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने कहा है, "नाट्य-प्रदर्शन अथवा अभिनय-रूप विषय के प्रत्यक्ष से रसानुभव की उत्पत्ति होती है।"[९] अतः, यह कहा जा सकता है कि रस का आश्रय, शंकुक की दृष्टि में, नाट्याभिनय है। अर्थात्, रस विषयगत है, विषयिगत नहीं। चित्र-तुरग न्याय से सामाजिक को रस का अनुभव होता है और वह मिथ्या अथवा भ्रमजन्य होता हुआ भी प्रत्यक्षात्मक है, चमत्कार है।

उक्त दोनों उद्धरणों में एक आपातिक भिन्नता यह लक्षित होती है कि एक के अनुसार, शंकुक रस को 'अनुक्रियमाण' मानते हैं तो दूसरे के अनुसार वे रस को 'अनुमेय' मानते हैं। इसी प्रकार अभिनव के अनुसार, शंकुक का 'निष्पत्ति' से अभिप्राय 'अनुकृति' है तो मम्मट के अनुसार वह 'अनुमिति' है। वैसे ही, एक के अनुसार, विभावादि 'अनुकारक', अर्थात् 'अनुकृति की सिद्धि के साधन' हैं, तो दूसरे के अनुसार, विभावादि 'अनुमापक' अथवा 'गमक' हैं। वस्तुतः, इन दोनों व्याख्याओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। केवल इतना लक्षित होता है कि 'अनुकृति' से नट का महत्त्व रेखांकित किया गया है, जबकि 'अनुमिति' से सामाजिक का। शंकुक का सिद्धान्त, अतएव, 'अनुकृति-वाद' अथवा 'अनुमिति-वाद', दोनों ही कहा जा सकता है।

तथापि, यह प्रश्न उठता ही है कि अभिनव ने जिस स्रोत से 'अनुकरण-वाद' को ग्रहण किया, क्या उससे भिन्न स्रोत मम्मट को उपलब्ध हुआ जिससे उन्होंने 'अनुमिति-वाद' को स्वीकार किया? अभिनव का उद्धरण विशद और लम्बा है, जबकि मम्मट का उद्धरण संक्षिप्त और छोटा। वैसे भी, अभिनव की तुलना में मम्मट, प्रायः सदैव या सर्वत्र, संक्षिप्तत्व के हिमायती दिखाई पड़ते हैं। अभिनव के उद्धरण में 'अनुकरण' का तत्त्व मुखर हो उठा है, जबकि मम्मट के उद्धरण में 'अनुमान' का। ऐसा प्रतीत होता है कि मम्मट ने शंकुक की किसी टीका या व्याख्या का उपयोग किया है, जबकि अभिनव को शंकुक का मूल ग्रन्थ उपलब्ध था और मम्मट ने 'अभिनव-भारती' से भी सहायता ली थी। 'वासनया' के उल्लेख में, मम्मट अवश्य अभिनव से अनुप्राणित हैं। जहाँ तक शंकुक के निरूपण का सवाल है, यह मानना युक्त एवं संगत होगा कि रसास्वादन के सम्बन्ध में उन्हें नट की अभिनयपटुता तथा सामाजिक की अनुमानक्षमता, दोनों की ही कारणता अभीष्ट है।

(ग)

'चित्र-तुरग न्याय' की व्यंजना थोड़ी और स्पष्ट की जानी अनाहूत नहीं होगी। चित्र-तुरग वाला ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञा' पर आधारित है। 'प्रत्यभिज्ञा' का सामान्य अर्थ है 'पहचान', जिसमें स्मृति का योग रहता है। 'यह वही व्यक्ति है जिसे मैंने पहले देखा था'—यह प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान का स्वरूप है। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इसे 'प्राच्य न्याय' के आलोक में व्याख्यात किया है। 'प्राच्य न्याय' के अनुयायी यह मानते हैं कि प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार का विशिष्ट प्रत्यक्ष है जिससे हमें 'अतीत-विशिष्ट वर्तमान' का बोध होता है। जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तथा यह अनुभव करते हैं कि यह वही वस्तु है जिसका प्रत्यक्ष हमने पहले कभी किया था और उस मानसिक स्थिति में 'इन दोनों मनोगत चित्रों को' परस्पर सम्बद्ध कर लेते हैं, तब प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान उत्पन्न होता है।[१०]

'चित्र-तुरग' वाली प्रत्यभिज्ञा को यों समझना चाहिए—"चित्रलिखित अश्व को देखकर हम उसे, स्मृति के बल पर, प्रकृत अश्व समझ लेते हैं और उसके सौन्दर्य से मुग्ध होते हैं। इसी प्रकार, नट को देखकर हम उसे मूलपात्र समझ लेते है और अभिनय के सौन्दर्यवशात् रंगमंच पर प्रदर्शित समस्त व्यापारों को मूल पात्रों की रत्यादिक वास्तविक क्रियाओं से सम्बद्ध कर लेते हैं। मूल पात्रों को हमने कभी देखा नहीं, किन्तु वासनया अर्थात् जन्मजन्मान्तर से संचित संस्कारों के बल पर, हम रंगमंचीय प्रदर्शनों को निसर्गतः मूल पात्रों से सम्बद्ध कर लेते हैं और तब सम्पूर्ण स्थिति चमत्कार की सृष्टि करती है। वही रस है।" यहाँ पर यह स्मरणीय है कि सामाजिक इस सम्पूर्ण व्यापार में अनुमान की माया में ही उलझा रहता है और इस अनुमान का उपलालन होता रहता है नट के निपुण अनुकरण-कौशल से जो अभिनय में वास्तविकता का अवभास कराता रहता है।

अतएव, शंकुक के अनुसार, "रस-प्रतीति एक प्रकार का विलक्षण प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान है जिसको सत्य, मिथ्या तथा संशयात्मक ज्ञान की कोटियों में नहीं रखा जा सकता। × × × रसास्वाद में उन दो मानसिक चित्रों का सम्बन्ध होता है जिनमें से एक दर्शक के अन्तःकरण में पूर्वकाल से वर्तमान रहना है और दूसरा नाट्य-प्रदर्शन से उद्भूत होता है। इस सम्बन्ध से जो प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतीति होती है, उससे रसात्मक तुष्टि उत्पन्न होती है।"[११]

इस प्रसंग में हमारा ध्यान अभिनव द्वारा उद्धृत दो कारिकाओं की ओर (जिन्हें वे शंकुक द्वारा उपयुक्त समझते हैं) स्वभावतः आकर्षित होता है। कारिकाएँ निम्नलिखित है—

"प्रतिभाति न संदेहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्ध-बुद्धि-सम्भेदाद्-अविवेचित-सम्प्लवः ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्नुभवः कथा ॥"

इनका अनुवाद आचार्य विश्वेश्वर ने यों किया है—

"(नाटक में नट को रामादि के रूप में देखते समय) न सन्देह की प्रतीति होती है, न यथार्थता की, और न भ्रान्ति की प्रतीति होती है। यह (नट) वह (राम-रूप) है, इस प्रकार की बुद्धि होती है और यह (नट वास्तव में) रामादि-रूप नहीं है, इस प्रकार की भी बुद्धि होती है।"

"इसलिए विरुद्ध प्रकार की बुद्धियों के सम्मिश्रण के कारण, पृथक् रूप से भ्रम आदि का निश्चय न हो सकने के कारण, उस प्रत्यक्षात्मक अनुभव को किस प्रकार से (भ्रम आदि रूप से) कहा जाय, (यह निश्चय नहीं किया जा सकता है)।"[१२]

यह अर्थ, यथावत् डॉ० नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धान्त' में बिना विचारे, स्वीकार कर लिया है, किन्तु हम समझते हैं, प्रस्तुत अर्थ स्वीकार करने पर चित्र-तुरग वाले ज्ञान की प्रकृति का प्रत्याख्यान हो जाता है। अभिनव ने इन कारिकाओं को उद्धृत करने के ठीक पूर्व, 'चित्र-तुरगादिन्याय' से प्राप्त ज्ञान को सम्यक्-मिथ्या-संशय-सादृश्यमूलक प्रतीतियों से 'विलक्षण' बताकर यह स्पष्ट किया है कि जो सुखी राम है, वही यह नट है, ऐसी प्रतीति होती है—

"यः सुखी रामः असौ अयमिति प्रतीतिः अस्तीति।"[१३]

अर्थात्, 'चित्र-तुरग' वाली प्रतीति, अन्ततोगत्वा, 'पॉजिटिव' होती है, एक प्रकार से निश्चयात्मक होती है (भ्रमजन्य होने के बावजूद)। आ० विश्वेश्वर द्वारा गृहीत अर्थ अभिनव की इस व्याख्या को झुठला देता है। पहली कारिका की दूसरी पंक्ति का उनका अर्थ—"यह (नट) वह (रामरूप) है, इस प्रकार की बुद्धि होती है और यह (नट वास्तव में) वह (रामादि-रूप) नहीं है, इस प्रकार की भी बुद्धि होती है"—असंगत बन गया है क्योंकि उससे सम्बद्ध प्रतीति की निश्चयात्मकता (जो अभिनव का अभिमत है) खंडित हो जाती है। लेकिन, इस अर्थ की पुष्टि दूसरी कारिका की पहली पंक्ति के 'विरुद्ध-बुद्धि-सम्भेदाद्' से होती है। वस्तुतः यही पदावली समूची गड़बड़ी का कारण बन गयी है।

विचारणीय यह है कि इन कारिकाओं के ठीक पूर्व, जैसा अभी दिखाया है, सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य—चार प्रकार के ज्ञानों वा प्रतीतियों का कथन अभिनव द्वारा किया गया है। तब, स्वभावतः, पहली कारिका में इन चतुर्विध प्रतीतियों का कथन होना चाहिए, अन्यथा उस कारिका का उद्धरण निरर्थक हो जायेगा। आचार्य विश्वेश्वर ने इस कारिका के अनुवाद में केवल

तीन प्रकार की प्रतीतियों—संदेह, सम्यक् (तत्व) तथा मिथ्या (विपर्यय)—को ग्रहण किया है और चौथी प्रतीति को (जो सादृश्य पर अवलम्बित होती है) अनदेखी कर दिया है क्योंकि उसका कथन कारिका की पहली पंक्ति में, इन तीन प्रतीतियों के सातत्य (कण्टीनुएशन) में उपलब्ध नहीं था। किन्तु, यह चौथी प्रतीति इस कारिका की दूसरी पंक्ति के उत्तरार्ध में कथित है—"नासा-वेवायमित्यपि।" सन्धि-विग्रह करने पर यह पद यों विश्लिष्ट होता है—"न + असौ + एव + अयम् + इति + अपि।" इस प्रकार, इस पद का सीधा अर्थ यह है—"न उसके समान यह है, ऐसा भी। 'एव' अव्यय सादृश्य-सूचक होता है। अतः, प्रस्तुत पद में सादृश्य-मूलक प्रतीति का कथन है और इस प्रकार, चतुर्विध प्रतीतियों की तालिका पूरी हो जाती है। इस, पहली, कारिका का अन्वय यों होगा—"इन संदेहो, न तत्वं न विपर्ययः, नासावेवायमिति अपि प्रतिभाति। असौ अयम् इति धीः अस्ति।" और तब, दूसरी पंक्ति के पूर्वार्द्ध का सुसगत अर्थ स्वयं निष्पन्न हो जाता है—यह (नट) वह (रामादि) है: इस प्रकार की बुद्धि होती है: "धीरसावयमित्यस्ति।" (धीः + असौ + अयम् + इति + अस्ति)।

इस प्रकार के अन्वय तथा अर्थ से अभिनव द्वारा कथित चतुर्विध प्रतीतियों तथा "चित्र-तुरग-न्याय" से प्राप्त निश्चयात्मक प्रतीति वाले अर्थ, दोनों की संगति स्थापित हो जाती है। लेकिन, तब, दूसरी कारिका की प्रथम पंक्ति के पूर्वार्द्ध, "विरुद्ध-बुद्धि-सम्भेदाद्", की गुत्थी उत्पन्न होती है। हमने देखा है कि 'चित्र-तुरग' वाली प्रतीति में विरोधी बुद्धियों का सहभाव नहीं रहता, अपितु एक प्रकार की निश्चयात्मकता (भ्रम-जन्य ही सही) वर्तमान होती है और वही चमत्कार की सृष्टि करती है। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय भी इस पद-पाठ के धोखे में पड़ गये हैं और उसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर, यह टिप्पणी की है—"श्री शंकुक यह स्वीकार करते हैं कि रसास्वाद-जनक प्रत्यभिज्ञा परस्पर-विरोधी स्वभाव के अनुभवों का विपुल प्रवाह है जिसके स्वरूप के विषय में कोई प्रश्न उठाया नहीं जा सकता।"[१४] (सम्भेद = सम्मिश्रण)

प्रश्न यहाँ नितान्त उपयुक्त तथा निसर्गतः उत्पन्न है: 'चित्र-तुरग न्याय' से प्राप्त ज्ञान 'पॉजिटिव', निश्चयात्मक, होता है, अतः उसमे विरोधी प्रतीतियों का कैसे अनुप्रवेश होगा? स्वय अभिनवगुप्त ने उस ज्ञान को सम्यक्, मिथ्यादि चतुर्विध ज्ञानों से 'विलक्षण' बताकर, जैसा अभी ऊपर दिखाया है, उसका स्वरूप यों बताया है: जो सुखी राम है, वही यह नट है—"यः सुखी रामः, असौ अयम् इति प्रतीतिः अस्तीति।" सामाजिक की नट तथा राम मे अभेद-भावना हो जाती है, वहाँ विरोधी प्रतीतियों की स्थिति उत्पन्न होती ही नहीं।

'ध्वन्यालोक-लोचन' के दूसरे उद्योत मे शंकुक के मत को संक्षेपतः यों उद्धृत किया गया है—"अन्येतु अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्रि-आदि-कृतो भित्तौ इव हरितालादिना अश्वावभासः; स एव लोकातीततया आस्वादापर-संज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद् रसा नाट्य-रसाः।"[१५]

अन्य लोग कहते हैं: अनुकर्ता नट मे अभिनयादि सामग्री इत्यादि से उत्पन्न स्थायी का जो अवभास भित्ति पर हरिताल आदि से चित्रित अश्व के अवभास की भाँति है, वही लोकातीत होने के कारण, अन्य आस्वाद नामक प्रतीति से रस्यमान रस है। इस प्रकार, नाट्य से (आस्वाद्य-मान होने के कारण) ये नाट्य-रस कहलाते हैं। इस उद्धरण में भी चित्र-तुरग वाले ज्ञान का स्वरूप, 'अवभास' के बावजूद, निश्चयात्मक ही बताया गया है।

सामाजिक का निजी अनुभव भी विरोधी बुद्धियों की कथित स्थिति के विपरीत पड़ता है। नाटक के प्रेक्षण के समय हम 'वस्तु-सौन्दर्य-बल' से रंगमंचीय सामग्री या प्रदर्शन मे इतने तल्लीन

हो जाते है कि वह आस्वाद-रूपा प्रतीति एकतान होती है, एकात्म बन जाती है, विरोधी स्वभाव वाले अनुभवों के 'विपुल प्रवाह' की कल्पना ही वहाँ असंगत बन जाती है। शंकुक का मन्तव्य निश्चिततया ऐसा नही था। गडबड़ी उत्पन्न हो जाती है, आ० विश्वेश्वर तथा डॉ० पाण्डेय द्वारा 'अभिनवभारती' में स्वीकृत पाठ के कारण।

डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने प्रश्नगत कारिकाएँ हेमचन्द्र के 'अलंकार-चूडामणि' से उद्धृत की हैं और वहाँ दूसरी कारिका में यह भिन्न पाठ उपलब्ध होता है—"विरुद्ध-बुद्ध्यसम्भेदाद्-अविवेचित-विप्लवः।"[१६] जबकि 'अभिनवभारती' वाला स्वीकृत पाठ है—"विरुद्ध-बुद्धि-सम्भेदाद्-अविवेचित-सम्प्लवः।" स्पष्ट है कि 'अलङ्कार-चूडामणि' वाले पाठ में विरोधी बुद्धियों के "अ-सम्भेद" ('बुद्ध्य-सम्भेदाद्' = बुद्धि + असम्भेदाद्) अर्थात्, अमिश्रण का कथन हुआ है। शंकुक द्वारा गृहीत पाठ निश्चयमेव यही माना जायेगा, क्योंकि विरोधी प्रतीतियों के मिश्रण के अभाव में ही, चित्र-तुरग वाले ज्ञान तथा सामाजिक के रसास्वाद के स्वभाव की सार्थकता उत्पन्न होती है। पंडितराज ने 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर शंकुक के मत का जो निरूपण किया है, उससे भी 'विरुद्ध बुद्धियों के प्रवाह' का खंडन हो जाता है और रसानुभव की एकात्मकता की परिपुष्टि होती है।[१७]

(घ)

उपरिगत विवेचन के आलोक में शंकुक के रस-निरूपण के गुणावगुण का आकलन किया जा सकता है। उनके सिद्धान्त की सबसे बड़ी दुर्बलता बतायी गयी है 'अनुकरण-वाद'। अभिनवगुप्त ने अपने उपाध्याय भट्टतौत के आधार पर शंकुक के अनुकरण-सिद्धान्त पर कड़े प्रहार किये हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि अनुकरणवाद के लिए भरत मे कोई प्रमाण नही है। उनका कथन है कि भरत ने ऐसा कही नही कहा कि स्थायी का अनुकरण रस है, अतः ऐसा कथन अयौक्तिक है कि भाव का अनुकरण रस है—"नापि मुनिवचनम् एवं विधमस्ति, क्वचित् स्थाय्यनुकरणं रसः इति। × × × तस्माद् भावानुकरणं रसः इति असत्।"[१८]

अभिनव की मुख्य आपत्ति भावों के अनुकरण की असम्भाव्यता पर केन्द्रित है। किन्तु, यह भी वैसे कहा जा सकता है कि भरत ने भावों की अनुकरणीयता का प्रतिषेध या प्रत्याख्यान भी किया है। 'लोक-वृत्तानुकरणं नाट्यम्' तथा 'कृतानुकरणं लोके नाट्यम्' जैसे भरत के कथनों में, वस्तु-वृत्त के कथन के साथ 'भाववृत्त' के अनुकरण का बिन्दु भी अन्तर्भूत समझा जायेगा।[१९] नाट्य मे रचनाकार इस सम्पूर्ण लोक-वृत्त का अनुकरण करता है और नट द्वारा इस काव्यार्पित अनुकरण का अनुकरण किया जाता है अनुशीलन तथा शिक्षाभ्यास के द्वारा।

ध्यातव्य है कि शंकुक मूलतः 'काव्य' की नही, 'नाट्य' की रसानुभूति की व्याख्या कर रहे थे जिसमें अनुकरण-तत्त्व की प्रधानता रहती है। आखिर, भरत का सम्पूर्ण 'नाट्यशास्त्र' नाट्यरस का ही निरूपण करता है जिसमें अभिनय-कला का सांगोपांग, अतिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। और, अभिनय अनुकरण नही तो और क्या है? लोल्लट ने पहले ही अनुकार्य-अनुकर्ता का उल्लेख कर, अनुकरण-तत्त्व का महत्त्व परोक्षतया रेखांकित कर दिया था। तब, यदि शंकुक ने नाट्य-रस के निरूपण में अनुकरण-वाद की स्थापना की तो इसमें किसी मौलिक आपत्ति का अवकाश नहीं है। यह अवश्य है कि उनके प्रतिपादन मे काव्य-तत्त्व गौण तथा अभिनय-तत्त्व मुख्य बन गया है। किन्तु, इस दृष्टि से वे भरत के अधिक समीप ही समझे जायेंगे।

अभिनव का यह तर्क आपाततः सही है कि जिसने रामादि को कभी देखा नही, वह उनके रूपव्यापारादि का अनुकरण कैसे करेगा? हमने लोल्लट के सन्दर्भ में दिखाया है कि उनके सामने काव्य-निबद्ध पात्र थे, मूल लौकिक रामादि नहीं। अतः, नट या अभिनेता काव्य-निबद्ध पात्रों का

अनुकरण, काव्य-चित्रण के आधार पर तथा शिक्षाभ्यासादि के द्वारा, करता है। आधुनिक चित्रपटो पर जो वस्तु-वृत्त प्रदर्शित होते हैं उनके पात्र प्रायः कल्पित होते हैं, यद्यपि उन पात्रों के मूल रूप (प्रोटोटाइप्स) लोक-जीवन में भी उपलब्ध होते या हो सकते हैं। किन्तु, अभिनेता मूलतः लिखित वृत्त के आधार पर ही सम्बद्ध भावों-अनुभावों का, ऐसा दृष्टिगोचर तथा मनोगोचर, अभिनय प्रस्तुत करता है जिससे वास्तविकता की अति-सान्द्र, घनीभूत प्रतीति उत्पन्न हो जाती है।

वास्तविक व्यक्ति (पात्र) के अनुकरण की बात इसलिए भी कह जाती है कि वास्तविक जीवन में व्यापारों का वह झमेला रहता है जिसमें प्रकृत भाव का स्वरूप या सौन्दर्य, प्रभावशाली रीति से निखर नहीं पाता। कवि अथवा नाटककार जीवन की समीपता की रक्षा करते हुए भी, जीवन की हू-बहू नकल नहीं करता, अपितु उसे जीवन द्वारा प्रस्तुत उलझावपूर्ण सामग्री में से चयन की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है जिससे उपयोगी तत्त्वों का समावेशन और अनुपयोगी तत्त्वों का अपवर्जन हो सके। हम नही समझते कि लोल्लट अथवा शंकुक जो निश्चित ही नाट्यरस वा काव्यरस के विदग्ध मर्मज्ञ थे, यह नहीं समझते थे कि नाट्य लोकवृत्त की अनुकृति होते हुए भी, विशुद्ध लोकवृत्त नही है। आखिर, लोकवृत्त मे नहीं, लोकवृत्त के अनुकरण-रूप नाट्य में ही तो भरत ने रस का अनुसन्धान तथा स्थापन किया था। अतः, देखे-अनदेखे, ज्ञात-अज्ञात, व्यक्तियो (रामादि) के रूप-व्यापारादि के अनुकरण का प्रश्न उनके सामने था ही नही। वे तो नाट्य अथवा काव्य मे चित्रित पात्रों ('व्यक्तियों' नही) के ही अनुकरण का महत्त्व रेखांकित कर रहे थे।

अतएव, शंकुक का निरूपण विशुद्ध रंगमंचीय परिप्रेक्ष्य में हुआ है और उनके अनुकरणवाद की मूल भूमि पर अभिनव की आपत्तियों से कोई आँच नहीं लगती।

शंकुक ने रस तथा स्थायी के एकत्व को लेकर लोल्लट की आलोचना की है (जिसका उल्लेख आरम्भ में हो चुका है), उसका कारण यही है कि शंकुक अनुकरण को महत्त्व दे रहे थे, किन्तु वे स्वयं यह भूल गये कि नाट्य वाले अनुकरण में स्थायी अथवा रस के नैयून्याधिक्य (न्यून या अधिक, तर या तम) का प्रश्न उत्पन्न होता ही नही। "रतिः अनुक्रियमाणा शृङ्गारः" तो तभी घटित होगा जब अनुकरण पूर्णतः निर्दोष होकर चरम प्रकर्ष को प्राप्त हो जायेगा और रति आस्वाद्यमान बनेगी। अतः, रस तथा स्थायी की एकता का, 'तारतम्य' (तर, तम) के आधार पर, प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता।

विभावादि से पृथक् स्थायी की सत्ता नही मानने के मूल में भी, शंकुक की मुख्य प्रेरणा अनुकरण को मुख्य प्रकाश-केन्द्र में लाने की ही रही है। किन्तु, अनुकरण से प्रत्यक्षीकृत स्थायी रस है, इतना मानकर, शंकुक ने लोल्लट की यह मान्यता परोक्षतया स्वीकार कर ली है कि उपचित स्थायी रस है, कि रस तथा स्थायी मूलतः एक ही है।

इस सन्दर्भ में हमारा ध्यान 'अभिनव-भारती' वाले उद्धरण में प्राप्त 'मुख्य-रामादि-गतस्थाय्यनुकरण-रूपः' की ओर आकर्षित होता है। लोल्लट ने "मुख्यया वृत्तया रामादावनुकार्ये" का कथन किया है। जैसा हमने अलग दिखाया है, लोल्लट का विवक्षार्थ, नट की अपेक्षा में, "मुख्य-रूपेण रामादि अनुकार्य" मे रस की स्थिति बताना है।[१०]

शंकुक ने 'मुख्य-रामादि' मे स्थायी की स्थिति की बात कही है। अतः उनके सामने अपने ज्येष्ठ सहयोगी की उक्त पदावली वर्तमान थी, अतः शंकुक का भी अभीष्ट 'मुख्यया वृत्तया' का ही था जिसे कथन-लाघव के सहारे, उन्होंने 'मुख्य-रामादि' में परिवर्तित कर दिया। 'काव्य-बल' से जो विभाव उपस्थित होते हैं, वे अपनी सम्पूर्ण इयत्ता में सामने आते है, अर्थात्, अपनी समग्र 'भाव-सम्पदा' से उपेत होकर हमें आकर्षित करते हैं इस कारण, उनमें जो भावादि दर्शित होते हैं, वे

कवि द्वारा अक्षिप्त एवम् प्रतिष्ठित किये गये रहते हैं। नट इन्हीं भावों का प्रदर्शन या अभिनय करता है। यों तो सभी व्यक्तियों में, भरत के 'सामान्य-गुण-योगेन' के अनुसार, ये भाव वर्तमान होते हैं और लौकिक रामादि में भी ये भाव अवश्यमेव वर्तमान थे। लेकिन, जैसा अभी ऊपर कहा है, इन भावों, रत्यादि स्थायियों, में अनुकरणीय योग्यता तभी आती है जब ये काव्य में, कवि की सौन्दर्य-बुद्धि के अनुशासन में परिमार्जित एवं सुस्थिर-रूपेण अभिज्ञेय होकर, चित्रित होते हैं। अतएव, लौकिक रामादि के अनुकरण की गुठली शंकुकादि के मुख में स्थापित करने की सरल प्रवृत्ति कथमपि अनुमोदनीय नहीं है।

(ङ)

शंकुल, लोल्लट की भाँति, रस को वस्तुनिष्ठ मानते हैं। रसास्वाद की प्रक्रिया की व्याख्या मे उन्हें लोल्लट के 'अनुसंधान' से परोक्ष प्रेरणा मिली होगी— ऐसा हमारा अनुमान है। अनुसंधान मे भी रस प्रतीयमान है और चित्र-तुरग न्याय में भी रस प्रतीति-लभ्य है। यह अवश्य है कि अनु-संधान की अपेक्षा अनुमान में अधिक मनस्तात्विक सूक्ष्मता विद्यमान है।

लोल्लट और शंकुक दोनों की सर्वप्रमुख दुर्बलता यह है कि वे अपनी वस्तुपरक मनोभंगी के कारण, यह निरूपण नहीं कर सके कि जब रस का आस्वादन सामाजिक करता है, तब रस का मूल द्रव्य, स्थायिभाव, भी सामाजिक का ही होना चाहिए। ऐसा न कर, उन्होंने 'सामानाधिकरण्य' के नियम की अवहेलना की जिसके अनुसार, कारण तथा कार्य की अवस्थिति एकत्र ही होनी चाहिए। लोल्लट के समान, शंकुक भी रसानुभूति को भ्रमजन्य ही मानते हैं। उल्लेखनीय है कि कोलरिज-जैसे पाश्चात्य समीक्षक भी अभिनय से प्राप्त आनंदानुभूति को 'अविश्वास के स्वैच्छिक निलम्बन' का परिणाम बताते है जो एक प्रकार से स्वामंत्रित, स्व-स्वीकृत भ्रम का ही संस्करण है।

लेकिन, रसानुभूति इतनी सान्द्र तथा प्रत्यक्ष होती है कि उसे भ्रमजन्य आनन्द की कोटि में उपन्यस्त नहीं किया जा सकता। शंकुक ने रसानुभव की समस्या के समाधान मे कोई मौलिक 'ब्रेक-थ्रू' प्रस्तुत नहीं किया। लोल्लट स्थायिभावादि को चित्तवृत्तियाँ मानते हुए भी, "तत्र विभावः चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तो कारणम्", इस महत्त्वपूर्ण मान्यता के आधार पर आगे, उस दिशा मे नहीं बढ़ सके और शंकुक भी 'रसनीयत्वेन अन्यानुमीयमान-विलक्षणः' तक पहुँचकर रुक गये, लोल्लट के चित्तवृत्तियों वाले संकेत को उसक साथ संयोजित नहीं कर सके।

तथापि, शंकुक के निरूपण से रसास्वादन की खोज निश्चितरूपेण आगे बढ़ी, इससे इन्कार नही किया जा सकता, क्योंकि 'चित्र-तुरग न्याय' के नियोजन में, लोल्लट के 'आरोप' की अपेक्षा, सामाजिक की रसानुभूति की चमत्कार-प्रवणता के लिए अधिक अवकाश है।

शंकुक के रस-निरूपण में न्याय-दर्शन की स्पष्ट प्रतिध्वनि श्रूयमाण है। वे सामान्यतः 'प्राच्यन्याय' के अनुयायी माने गये हैं। किन्तु, इधर 'चित्रन्याय' को बौद्ध दार्शनिकों की विशेषता बताकर, शंकुक द्वारा प्रयुक्त 'चित्र-तुरग न्याय' के आधार पर, उन्हे 'बौद्ध-न्याय' का पोषक भी बताया गया है।[२१] वास्तविकता जो भी हो, भरत के रस-सूत्र की व्याख्या में दार्शनिक अनुरोध का असंदिग्ध अनुप्रवेश शंकुक के निरूपण से होता है, इतना स्पष्ट है।

संदर्भ-संकेत

१. 'हिन्दी अभिनव-भारती' (आ० विश्वेश्वर), पृ० ४४५। २. लोल्लट की मान्यताओं का निरूपण प्रस्तुत लेखक ने 'हिन्दुस्तानी' के भाग ४२, अंक ३ में किया है। ३. 'रस-तरंगिणी',

षष्ठ तरंग। ४. लोक में चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं, यथा—(क) सम्यक् ज्ञान—यह देवदत्त है। (ख) मिथ्या ज्ञान—जो देवदत्त है, उसे देवदत्त नहीं समझना। (ग) संशय ज्ञान—यह देवदत्त है या नहीं। (घ) सादृश्य ज्ञान—यह देवदत्त के समान है।—'संस्कृत साहित्य का इतिहास', कन्हैयालाल पोद्दार-कृत, तृतीय संस्करण, पृ० २३१। ५. 'हिन्दी अभिनव-भारती', पृ० ४४६-४८, आचार्य विश्वेश्वर के अनुवाद की मूल शब्दावली, स्पष्टता के अनुरोध से, अल्प संशोधन के साथ यहाँ स्वीकार की गई है। केवल 'मणि-प्रदीप' वाली कारिका छोड़ दी गयी है जो निम्न है—

"मणि-प्रदीप-प्रभयोः मणि-बुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्या-ज्ञानाविशेषोऽपि विशेषो अर्थक्रिया प्रति॥"

—मणि की प्रभा तथा प्रदीप की प्रभा को देखकर और उनको मणि समझकर, उन्हें उठाने के लिए भागने वाले दो व्यक्तियों में, मिथ्याज्ञान के समान होने पर भी, अर्थक्रिया अर्थात् फल-प्राप्ति में भेद पाया जाता है। यहाँ दोनों व्यक्तियों को यह मिथ्याज्ञान हुआ कि दोनों ने उन प्रभावों को मणि समझ लिया। जब वे उस-उस स्थल की ओर दौड़े, तब उन दोनों को उस मिथ्याज्ञान का, भ्रान्ति से भी, एक-एक फल की प्राप्ति हुई ही—एक ने समझ लिया, यह मणि की प्रभा है, मणि नहीं। दूसरे ने समझ लिया, यह दीपक की प्रभा है, मणि नहीं। दोनों का अपना-अपना (भिन्न-भिन्न) वस्तु-स्थित बोध ही फल है। प्रकारान्तरेण, एक को मणि-प्रभा के माध्यम से मणि की तथा दूसरे को प्रदीप-प्रभा के माध्यम से दीपक की, तत्तत् प्रभा के मूल स्रोत की जानकारी के रूप में, प्राप्ति हुई। यहाँ मिथ्याज्ञान से भी फल प्राप्त हुआ है। ६. "राम एवायम् अयमेव राम इति न रामोऽय-मित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद् वा न वाऽयमिति, राम-सदृशोऽयमिति, च सम्यक्-मिथ्या-संशय-सादृश्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे।"—काव्यप्रकाश (विश्वेश्वर), पृ० १०२। ७. 'काव्य-प्रकाश' (अनुवादक—हरिमंगल मिश्र), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, द्वितीय संस्करण, पृ० ५७-५८। ८. वही, पृ० ५८। ९. 'स्वतन्त्र कला-शास्त्र', प्रथम भाग, पृ० ७७, ७९। १०. 'स्वतन्त्र कला-शास्त्र', प्रथम भाग, पृ० ८६। ११. 'स्वतन्त्र कला-शास्त्र', प्रथम भाग, पृ० ९२। १२. 'हिन्दी अभिनव-भारती', पृ० ४५०। १३. 'हिन्दी अभिनव-भारती', पृ० ४४९। १४. 'स्वतन्त्र कला-शास्त्र', प्रथम भाग, पृ० ९२। १५. 'हिन्दी ध्वन्यालोक' (चौखम्भा विद्याभवन), १९६५, पृ० १९६। १६. 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० १३२, पाद-टिप्पणी। १७. 'हिन्दी रसगंगाधर', पृ० १२४-२५। १८. 'हिन्दी अभिनव भारती', पृ० ४५९। १९. 'नाट्य-शास्त्र' (चौखम्भा), पृ० १/११९, १/११८। २०. 'हिन्दुस्तानी', भाग ४२, अंक ३ में लेखक का लोल्लट वाला निबन्ध। २१. 'रस-गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० १३४-४१।

१७७, मुगलपुरा,
फैजाबाद (उ० प्र०)

अगड़धत आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ

□

प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव

संस्कृत-काव्य एवं साहित्यशास्त्र की आचार्य-परम्परा मे पण्डितराज जगन्नाथ का नाम अग्रिम पंक्ति में आता है। वे दक्षिण भारत के निवासी तैलंग ब्राह्मण थे। उनका दूसरा नाम 'वेल्लनाडू' था। इसके अतिरिक्त, वे एक तीसरे नाम 'त्रिशूली' से भी प्रसिद्ध थे। उनके पिता का नाम पेरुभट्ट या पेरमभट्ट था और माता का नाम था लक्ष्मी। पेरुभट्ट भी प्रशंसनीय विद्वान् थे। और इस प्रकार, पण्डितराज जगन्नाथ विद्वान् पिता के विद्वान् पुत्र थे।

पण्डितराज जगन्नाथ दिल्ली के यवन सम्राट् शाहजहाँ और उसके पुत्र दाराशिकोह के परम प्रेमपात्र थे। पण्डितराज के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक बहुप्रथित किंवदन्ती है कि शाहजहाँ के दिल्ली-दरबार में रहते समय पण्डितराज को नवनीतकोमलांगी 'लवंगी' नाम की यवन-रमणी से प्रेम हो गया जिसकी अनुपम अंगकान्ति की प्रशंसा मे उन्होंने तीन बहुत ही ललित श्लोक बनाये। एक श्लोक मे उल्लेख है कि पण्डितराज ने सम्राट् शाहजहाँ से हाथी, घोडे और धन माँगने के बजाय 'लवंगी' को ही माँग लिया। श्लोक इस प्रकार है :

न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता
लवंगी कुरंगीदृगंगीकरोतु ॥

अर्थात्, मैं हाथी का झुण्ड नहीं माँगता, न ही घोड़े का झुण्ड। धन के प्रति भी मेरी कोई आसक्ति नहीं है। (मैं सिर्फ इतना ही माँगता हूँ) माथे पर हाथ रखे हुई, सुन्दर स्तनों वाली यह कुरंगनयनी लवंगी मुझे अंगीकार ले।

पण्डितराज जब वाराणसी आये, तब वहाँ के पण्डितों ने उनका जातीय बहिष्कार कर दिया। इससे उनके मन में बड़ा निर्वेद हुआ और वे अपना प्राणान्त कर देने की इच्छा से काशी की प्रसिद्ध मोक्षदायिनी मणिकर्णिका के गंगातट पर आकर बैठ गये और भगवती भागीरथी की प्रार्थना में 'गंगालहरी' (दूसरा नाम 'पीयूषलहरी') की रचना करने लगे। 'गंगालहरी' की रचना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गई, त्यों-त्यों भागीरथी की धारा सीढ़ी-दर-सीढ़ी ऊपर चढ़ती गई। 'गंगा-लहरी' की रचना पूरी होते ही जल की धारा पण्डितराज के कण्ठ तक आ गई और गंगा के प्रवाह में झम्प देकर उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त कर दी।

पण्डितराज जगन्नाथ के पूर्ववर्त्ती काल में समाधि-मरण के निश्चय के साथ स्तुति-रचना द्वारा गंगा के आवाहन की कहानी महाकवि विद्यापति के साथ भी जुड़ी हुई है। पण्डितराज के स्तोत्रग्रन्थों में प्राप्त वर्णनों से ज्ञात होता है कि वे भी विद्यापति की तरह ही भगवती भागीरथी के साथ श्रीकृष्ण के भी अनन्य भक्त थे।

समय की दृष्टि से, पण्डितराज जगन्नाथ सम्राट् शाहजहाँ के समकालीन थे। शाहजहाँ के राज्याभिषेक का समय सन् १६२८ ई० है। औरङ्गजेब द्वारा १६६६ ई० में शाहजहाँ बन्दी बनाया गया था। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने पण्डितराज को प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री अप्पय्य दीक्षित (सन् १६५७ ई०) का परवर्त्ती माना है। किन्तु, अप्पय्यदीक्षित के 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' ग्रन्थ के कुम्भकोणम्-संस्करण की भूमिका में, नागेशभट्ट या नागोजिभट्ट का, 'काव्यप्रकाश' की व्याख्या मे लिखा हुआ एक पद्य उद्धृत है जिसमें प्रसिद्ध वैय्याकरण भट्टोजिदीक्षित द्वारा पण्डितराज को 'म्लेच्छ' कहकर अपमानित करने का और फिर भट्टोजिदीक्षित तथा अप्पय्यदीक्षित, दोनों के समकालीन होने का उल्लेख है। इसी भूमिका में बालकवि का भी, जिसे अप्पय्यदीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने अपने 'नीलकण्ठचरितचम्पू' ग्रन्थ में अप्पय्य का समकालीन बताया है, एक पद्य उद्धृत है जिसमें अप्पय्यदीक्षित द्वारा, उनके ७२वें वर्ष के पूर्वार्द्ध में, भट्टोजिदीक्षित आदि विद्वानों का परास्त होना और यवनी के सम्पर्क से जातिपतित हुए पण्डितराज का उद्धार किया जाना और फिर ७२वें वर्ष के उत्तरार्द्ध में अप्पय्यदीक्षित का देहावसान होना कहा गया है। अतएव, इस पद्य से सिद्ध होता है कि पण्डितराज जगन्नाथ अप्पय्यदीक्षित के परवर्त्ती नहीं, अपितु समकालीन थे।

अनुमान किया जाता है कि पण्डितराज जब युवा थे, तब अप्पय्यदीक्षित बूढ़े हो चुके थे। पण्डितराज को अपने पांडित्य का बड़ा गर्व था। उन्होंने युवोचित दर्पपूर्ण उत्साह मे आकर अप्पय्य-दीक्षित के ग्रन्थों, विशेषतः 'चित्रमीमांसा' का जो खण्डन अपने 'चित्रमीमांसाखण्डन' ग्रन्थ में किया है, वह सभ्य भाषा में नहीं, अपितु अत्यन्त कठोर और द्वेषपूर्ण भाषा में निबद्ध है। ऐसी तीखी आलोचना मृत व्यक्ति के विषय में नहीं, वरन् उस समकालीन व्यक्ति के विषय में ही सम्भव है जिसके साथ परस्पर मार्मिक द्वेष हो। इन घटनाओं पर लक्ष्य करने से पण्डितराज जगन्नाथ का समय अनुमानतः सत्रहवीं शती के आरम्भ से तृतीय चरण तक के बीच स्थिर होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ की कालजयी साहित्यशास्त्रीय कृति 'रसगंगाधर' की 'मर्मप्रकाशिका' टिप्पणी के लेखक नागेशभट्ट पण्डितराज की दो पीढ़ी बाद के हैं। नागेश ने अप्पय्य के ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखी हैं। ये, 'सिद्धान्तकौमुदी' के लेखक पूर्वोक्त वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के प्रपौत्र हरिदत्त के शिष्य थे और भट्टोजिदीक्षित शेषकृष्ण के शिष्य थे तथा शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर पण्डित-राज के गुरु थे।

संस्कृत-साहित्य के अलंकारशास्त्र के इतिहास में पण्डितराज जगन्नाथ ही इस विषय के अन्तिम लेखक हैं, अतः संस्कृति-साहित्यशास्त्र की अन्ति म सीमा सत्रहवी शती में पण्डितराज जगन्नाथ के साथ ही समाप्त हो जाती है। उनके बाद संस्कृत-साहित्यशास्त्र के उद्यान को सींचने-सँवारने वाला कोई भी विद्वान् मालाकार नहीं दिखाई पड़ता।

'रसगंगाधर' पण्डितराज के ग्रन्थों में सुमेरुशिखर है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने 'भामिनी-विलास', 'जगदाभरण' और 'आसफविलास' नामक ग्रन्थ दिल्ली दरबार में रहते समय लिखे हैं। शाहजहाँ की प्रशंसा और प्रसन्नता के लिए लिखे गये 'भामिनीविलास' के अन्तिम पद्य में पण्डितराज ने कहा भी है: 'दिल्लीवल्लभ-पाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।' अर्थात्, 'मैंने अपनी नई उम्र दिल्लीनरेश की छत्र-छाया में बिताई।' इसी प्रकार, उन्होंने दाराशिकोह की प्रशंसा में 'जगदा-भरण' ग्रन्थ लिखा था और शाहजहाँ के परमकृपापात्र मनसबदार खानखाना आसफ की प्रशंसा मे 'आसफविलास' की रचना की थी। उनको 'पण्डितराज' की उपाधि शाहजहाँ ने ही दी थी। इसकी चर्चा उन्होंने 'आसफविलास में की है: 'सार्वभौम-श्रीशाहजहाँ-प्रसादाधिगत-पण्डितराज-पदवी-विराजितेन

उपरिवर्चित ग्रन्थों के अतिरिक्त, पण्डितराज ने 'अमृतलहरी', 'करुणालहरी', 'सुधालहरी', 'लक्ष्मीलहरी, 'प्राणाभरण', 'मनोरमाकुचमर्दन' (भट्टोजिदीक्षित की व्याकरण-विषयक 'मनोरमा' टीका की कठोर आलोचना का रूपकाश्रित ललित नाम), 'यमुना-वर्णन-चम्पू' आदि अनेक स्फुट ग्रन्थों का निर्माण किया है। इनमें कतिपय ग्रन्थ संस्कृत की 'काव्यमाला' नाम से प्रकाशित प्रसिद्ध ग्रन्थमाला में मुद्रित हैं। किन्तु, पण्डितराज को सर्वाधिक ख्याति उनके 'रसगंगाधर' ग्रन्थ से प्राप्त हुई। यह कृति समय की शिला पर अमिट रेख बनकर उनकी अमरता की उद्घोषणा कर रही है। मौलिकता और विषय-विवेचन में आचार्य आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' और आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के बाद 'रसगंगाधर' का ही स्थान है। यह काव्यमाला सं० १२ में नागेशभट्ट की टिप्पणी के साथ अपूर्ण मुद्रित है।

'गंगाधर' पंचानन शिव का दूसरा नाम है। ग्रन्थ के 'रसगंगाधर' नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि शिव के पाँच आननों या मुखों के अनुसार ग्रन्थकार की इच्छा इसे पाँच आननों मे पूर्ण करने की थी, परन्तु उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। प्रकाशित रूप में प्राप्त इस ग्रन्थ में द्वितीय आनन भी अपूर्ण ही है। नागेशभट्ट की 'रसगंगाधर' पर टिप्पणी केवल उतने ही अंश पर प्राप्त है, जितना अंश मूल प्रति का उपलब्ध हुआ है। पण्डितराज की भाषा-शैली अतिशय प्रौढ़ है और आलोचना का शैलीगत दृष्टिकोण भी सर्वथा नवीन है। गद्य का गुम्फन-विधान अधिकांशतः दार्शनिक चिन्तनप्रधान है, कहीं-कहीं तो नव्यन्याय की गद्यशैली का स्मरण हो आता है।

पण्डितराज ने 'रसगंगाधर' के प्रथम आनन में, अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों से सर्वथा भिन्न काव्य का लक्षण उपस्थित किया है। उनका काव्यलक्षण है : 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' अर्थात्, 'रमणीय (क्षण-क्षण नवीन) अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है।' अपने इस काव्यलक्षण के द्वारा उन्होंने प्राचीनों मे ध्वनिकार कुन्तक एवं साहित्यशास्त्रज्ञ आचार्य मम्मट तथा नवीनों में आचार्य विश्वनाथ महापात्र द्वारा निरूपित काव्यलक्षणों की आलोचना की है, फिर काव्य को उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम इन चार भागों में विभक्त किया है। उनकी दृष्टि मे ध्वनिप्रधान काव्य उत्तमोत्तम है; गुणीभूत व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ से नाधिक चमत्कार वाला व्यंग्य-प्रधान काव्य उत्तम है; अर्थालङ्कारप्रधान काव्य मध्यम है और शब्दालङ्कारप्रधान काव्य अधम है, जबकि मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन ही भेद किये हैं। काव्य-लक्षण के बाद, पण्डितराज ने रस, शब्द और अर्थ के गुण, वैदर्भी रीति, भावध्वनि, रसाभास आदि साहित्यशास्त्रीय विषयों का निरूपण किया है।

द्वितीय आनन में पहले संक्षिप्त रूप से ध्वनिभेदों का निरूपण किया है। फिर, अभिधा और लक्षणा का विवेचन उपस्थापित किया है। उसके बाद, 'उपमा' के 'उत्तर' तक कुल सत्तर अर्था-लङ्कारों का विश्लेषण बड़ी पाण्डित्यपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया है।

पण्डितराज ने 'रसगंगाधर' मे अलङ्कारों का पूर्वापर क्रम अपने पूर्ववर्त्ती बारहवीं शती के आचार्य रुय्यक के 'अलङ्कारसर्वस्व' के अनुसार रखा है। कुछ अलङ्कार तो ऐसे भी हैं जो 'काव्य-प्रकाश' और 'अलङ्कारसर्वस्व' मे भी नहीं है, किन्तु बारहवीं शती के ही आचार्य पीयूषवर्ष जयदेव के 'चन्द्रालोक' में है। 'असम' और 'उदाहरण' ये दो अलंकार सोलहवीं शती के आचार्य शोभाकर के 'अलंकाररत्नाकर' में प्राप्य हैं। पण्डितराज का 'तिरस्कार' अलङ्कार तो सर्वथा नवीन है।

'रसगङ्गाधर' में समस्त प्रकार के उदाहरणों के श्लोक पण्डितराज ने स्वयं बनाये हैं। इस विषय में उनकी गर्वोक्ति है :

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूप
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ।।

अर्थात्, 'मैंने अपने इस काव्य मे स्वयं नये उपयुक्त उदाहरणों को बनाकर रखा है, दूसरे का कुछ भी नहीं लिया है। कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति वाला मृग क्या मन से भी फूलों की गन्ध का सेवन करता है ?'

पण्डितराज ने अपनी इस गर्वोक्ति को प्रसादगुणसम्पन्न प्रवाहपूर्ण शैली में रचे गये उदाहरण के श्लोकों द्वारा चरितार्थ करके दिखा दिया है। उन्होने अलंकारों के निरूपण में अपने पूर्ववर्त्ती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की गर्वोक्तिपूर्ण आलोचना जिस मार्मिकता से की है, वह वस्तुतः उल्लेखनीय है। अप्पय्यदीक्षित के तो वे कट्टर प्रतिपक्षी थे। इसलिए, उन्होने उनके 'कुवलयानन्द' और 'चित्र-मीमांसा' (दोनों अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ) का तो अपने प्रायः प्रत्येक अलंकार के निरूपण के प्रसंग मे तीव्रतर खण्डन किया है। किन्तु मम्मट, रुय्यक, विमर्शिनीकार जयरथ, विद्यानाथ, रत्नाकर, विश्वनाथ आदि आचार्यों की केवल आलोचना की है। यहाँ तक कि जो ध्वनिकार उनके अत्यन्त श्रद्धेय थे और जिनके मत उन्होंने अत्यन्त सम्मान के साथ अनेक स्थलों पर उद्धृत किये हैं, उनकी भी आलोचना करने में कुछ भी संकोच नही किया है। 'भामिनीविलास' तो उनकी गर्वोक्तियों का ही काव्य है। उनकी एक विचित्र गर्वोक्ति इस प्रकार है:

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः ।।

इस लाक्षणिक गर्वोक्ति का मुख्य अभिधार्थ यह है कि जितने हाथी, हथिनियाँ और मृग हैं, वे दयनीय होकर दूर देशान्तरों में भाग खड़े हुए हैं। इसलिए, अब मृगपति (सिंह) अपने नये नुकीले नखों का कौशल किस पर प्रकट करे ?

निश्चय ही, इस लाक्षणिक गर्वोक्ति में पण्डितराज पराकाष्ठा पर ही पहुँच गये हैं। इसमें वे समकालीन सभी विद्वानों को अपने समकक्ष न मानकर उन्हें कारुण्यास्पद (दयनीय) बताकर और अपने को दिग्विजयी सूचित करके ही सन्तुष्ट नही हुए, वरन् अपने समकक्ष प्रतिद्वन्द्वी न मिलने का खेद भी सूचित करते हैं कि हम ऐसी स्थिति में किस पर अपना प्रचण्ड पाण्डित्य प्रकट करके अपनी अभिलाषा पूर्ण करें। इस प्रकार की अक्खड़ गर्वोक्ति के बावजूद यह निर्विवाद है कि पण्डितराज जगन्नाथ परवर्त्ती विद्वान् होते हुए भी महान् आलंकारिक और धुरन्धर महाकवि थे, साथ ही स्वतन्त्र विचार के निर्भीक आलोचक और अगड़धत्त आचार्य।

पण्डितराज के 'रसगंगाधर' ग्रन्थ का अनूठापन इस अर्थ में है कि यह अपने अतीत की समस्त साहित्यशास्त्रीय उपलब्धियों को समाहृत कर आधुनिकतम साहित्य-चिन्तन को नई दिशा की ओर उन्मुख करते हुए आगे की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। इस दृष्टि से 'रसगंगाधर' आधुनिक युग के लिए सर्वाधिक उपयुक्त आलोचना-ग्रन्थ है। भारतीय पण्डित-परम्परा में इस ग्रन्थ का नाम आतंक-मिश्रित आदर के साथ लिया जाता है। 'काव्यप्रकाश' का जितना अधिक अध्ययन-अनुशीलन हुआ है, उतना यदि रसगगाधर का हुआ होता तो निस्सन्देह के के अनेक नवीन

आयाम उभर कर सामने आये होते। आश्चर्य है कि इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी यह ग्रन्थ प्राचीन युग में और आज भी आलोचकों की दृष्टि का केन्द्रबिन्दु नहीं बन सका। 'काव्यप्रकाश' पर जहाँ अनेक टीकाएँ मिलती हैं, वहाँ 'रसगंगाधर' पर केवल एक टीका 'मर्मप्रकाशिका' नागेशभट्ट की मिलती है। वस्तुतः, वह भी टीका नहीं, टिप्पणी मात्र है। इस प्रकार की उपेक्षा का एकमात्र कारण पण्डितराज के व्यक्तित्व के असहिष्णु अक्खड़पन तथा उनकी सघन-श्लिष्ट शैली को ही माना जा सकता है।

कहा जाता है, पण्डितराज से अप्पय्यदीक्षित की तीखी आलोचना का बदला लेने तथा अपने पूर्वजों की कीर्त्तिरक्षा के लिए अप्पय्य के भाई अच्चा दीक्षित के पौत्र और नारायण दीक्षित के पुत्र पूर्वोक्त नीलकण्ठ दीक्षित ने उनका तीव्र खण्डन किया। जो हो, सम्प्रति, आलोचकों के लिए 'रस-गंगाधर' में विवेचित ध्वनि और अलंकार-सिद्धान्तों की चर्चा तक सीमित न रहकर, पण्डितराज की युगीन सांस्कृतिक चेतना को उद्घाटित करने का प्रयास अपेक्षित है।

सम्पादक, 'परिषद्-पत्रिका' (त्रैमासिक)
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
पटना—८००००४

'कन्हावत'
जायसी की ही रचना है

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

'हिन्दुस्तानी', भाग ४२, अंक ३, वर्ष १९८१ में डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन का एक लेख प्रकाशित हुआ है—'कन्हावत : सूफी कवि जायसी की रचना नहीं।' लेखक ने गार्सां द तासी का विशेष उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'घनावत' का लेखक कोई जायसीदास हिन्दू था, बाद में उसने मुसलमानी धर्म स्वीकार कर लिया। वे यह भी लिखते हैं कि 'कन्हावत' पद्मावत के बाद की रचना है—यही नहीं, बल्कि वह पद्मावत के अनुकरण पर लिखी गई। उन्हें आश्चर्य लगता है कि जायसी अपनी रचनाओं में 'कन्हावत' का उल्लेख नहीं करते। अन्त मे वे निष्कर्ष के रूप में कहते हैं, "परन्तु यह निश्चित है कि कन्हावत और पद्मावत के लेखक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। पद्मावतकार 'कन्हावत' का कवि नहीं है। कन्हावत पद्मावत के अनुकरण पर लिखी गई है जिसका लेखक वह जायसी था जिसने बाद में हिन्दू धर्म से इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया था। नवधर्म के अतिरिक्त उत्साह में भागवत में वर्णित कृष्ण के पूर्वपरिचित इतिवृत्त को आधार बनाकर 'कन्हावत' की रचना उसने यह बताने के लिए की कि कृष्ण से खुदा बड़ा है जबकि भारत की पौराणिक धारणा उन्हें पूर्ण अवतार और परमब्रह्म मानती है।"

स्पष्ट है कि (१) लेखक सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी को कन्हावत का रचयिता नहीं मानता। (२) कन्हावत पद्मावत के अनुकरण पर लिखी गई बाद की रचना है जिसका रचयिता जायसीदास कोई हिन्दू था जो बाद में मुसलमान हो गया। (३) कन्हावत के रचयिता ने हिन्दू धर्म द्वारा मान्य कृष्ण भगवान् को मुसलमानों के खुदा से छोटा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। तात्पर्य यह कि कन्हावत जाली रचना है। यह मलिक मुहम्मद जायसी को रचना नही हो सकती। किन्तु लेखक ने ऐसा निर्णय सुनाते हुए निम्नलिखित बातों पर ध्यान नहीं दिया—

(क) कन्हावत का सम्पादन न केवल डॉ० शिवसहाय पाठक ने किया है, वरन् उसी वर्ष डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त* ने भी कन्हावत का सम्पादन किया है जिसमें १३० पृष्ठों की भूमिका भी है। इन दोनो सम्पादकों ने पूर्वापर विचार करते हुए कहीं भी यह सन्देह प्रकट नहीं किया कि कन्हावत किन्हीं अन्य जायसी की रचना हो सकती है। अवश्य ही ९४७ हिजरी में कन्हावत की रचना का स्पष्ट उल्लेख होने से डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त को एक सबल तर्क मिल गया है कि पद्मावत की रचना ९४७ में नहीं, वरन् ९४८ या ९५७ में हुई होगी। डॉ० जैन को पद्मावत जैसे महान् काव्य की रचना का तीन-साढ़े तीन साल में किया जाना असम्भव लगता है, किन्तु डॉ० गुप्त ने भूमिका (पृष्ठ ३४) में स्पष्ट लिखा है कि कुतुबन ने अपनी 'मिरगावती' को, जिसमें ४३२ कड़वक हैं, केवल दो मास दस दिन में पूरा किया था। पद्मावत उससे आकार में ड्योढ़ा है, अतः जायसी भी इसे ३½ – ४ मास में पूरा कर सकते थे। वे दूसरा विकल्प भी देते हैं कि यदि प्रतिदिन जायसी वार्धक्य-

---

* मलिक मुहम्मद जायसी कृत कन्हावत : अन्नपूर्णा प्रकाशन, वाराणसी-२, अप्रैल १९८१।

वश एक कड़वक लिखते रहे हों तो पूरे पद्मावत को लिखने में दो वर्ष से अधिक समय नहीं लगेगा ? स्पष्ट है कि ऐसी दलीलो से कोई काम नहीं बनता।

जहाँ तक जायसीदास नामक हिन्दू के मुसलमान बनकर 'कन्हावत' की रचना का प्रश्न है, गार्सां द तासी के कथन पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। जब वे 'कन्हावत' को 'घनावत' पढ़ते रहे और उसकी पुष्टि किसी हिन्दू या मुसलमान से नहीं कर पाये तो 'जायसीदास' का उल्लेख कोरी सुनी-सुनाई एवं बुद्धि-फेर की बात है। गार्सां द तासी ने लालचदास-कृत 'हरिचरित्र' के सम्बन्ध मे जो सूचना छापी है, वह भी इसी प्रकार भ्रामक है।

हमारे देश में हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज और उनका सम्पादन जिस वैज्ञानिकता से किया जा रहा है, उसमे किसी प्रकार के सन्देह के लिए गुंजाइश नही रह जाती। 'कन्हावत' के दोनों ही सम्पादक इसे मलिक मुहम्मद जायसी-कृत लिखते और समझते हैं। यही नही, लम्बी-लम्बी भूमिकाओ में कवि तथा काव्य के सम्बन्ध में नवीन बातें कहते हैं। जायसी के १७ काव्यग्रंथो मे से अभी जिन दस की खोज होनी शेष है, उनमें से एक के प्राप्त होने का संकेत डॉ० पाठक ने किया भी है। अतः सरसरी दृष्टि से 'कन्हावत' को न तो किसी अन्य जायसी की कृति कहा जा सकता है, न उसकी महत्ता को कम किया जा सकता है।

अभी तक अवधी में कृष्ण-सम्बन्धी किसी महाकाव्य से हिन्दी पाठकों का परिचय न था। जायसी की यह 'कन्हावत' कृति उस अभाव की पूर्ति करती है। इससे हिन्दी कृष्णकाव्य-परम्परा मे एक क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है। यह हिन्दी के लिए शुभ लक्षण है और यह भी कि यह महाकाव्य पद्मावत के रचयिता जायसी द्वारा ही रचित है। जायसी एक नही, दो महाकाव्यों के रचयिता सिद्ध होते हैं। वास्तव मे फारसी लिपि मे होने के कारण ही हिन्दी का यह अनमोल हीरा अब तक छिपा रहा है और इसका सम्पादन सम्पादकों के अपार श्रम को लक्षित करता है। इसे हिन्दी जगत् के प्रत्येक व्यक्ति को समझना होगा।

जायसी ने लिखा है कि कन्हावत जैसी कथा न तो तुर्की, अरबी में या फारसी में ही उन्हे देखने को मिली :

> अइस प्रेम कहानी दोसर सब जग नाहिं।
> तुरुकी अरबी फारसी सब देखेउँ अवगाहि॥

इसकी कथा श्रीमद्भागवत से ली गई है। इस ग्रन्थ में राधा और कृष्ण की प्रेमकथा तो है ही, राधा स्वकीया रूप में अंकित हैं। इसमें चन्द्रावली तथा कृष्ण के प्रेम का भी अंकन है। श्रीमद्भागवत में राधा तथा चन्द्रावली, इन दोनों का उल्लेख नहीं मिलता। बाह्य रूप में कन्हावत की कथा हरिवंश तथा भागवत पुराण में वर्णित कृष्णचरित को छूती है, किन्तु आन्तरिक रूप में वह काल्पनिक बन गई है। राधा को राही कहा गया है। यह नाम 'गाथा सप्तशती' में ही मिलता है, अतः जायसी ने अवश्य ही अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अवगाहन किया होगा। वैसे लोक में भी चन्द्रावली कथा के पाये जाने की सम्भावना है। सूफी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बावजूद जायसी भारतीय थे, उन्होने वृन्दावन की यात्रा की थी। वे अवश्य ही तभी गोपी-कृष्ण की प्रेमभावना से परिचित हुए होंगे और तब ६४७ हि० मे 'कन्हावत' की रचना की। पद्मावत तथा कन्हावत, दोनो ही का रचनाकाल एक ही वर्ष में होना आलोचकों की आलोचना का विषय तो है ही, इन दोनों रचनाओ की चिन्तनधारा में जो वैषम्य है, वह भी प्रेरित करता है कि इनको समकालिक न माना जाय। लेकिन कन्हावत का रचनाकाल हुमायूँ बादशाह के शासनकाल में ६४७ हि० है। इसको अपने

स्थान से हटाया नहीं जा सकता, भले ही पद्मावत के काल को और आगे क्यों न सरकाना पड़े। वास्तव में 'कन्हावत' पद्मावत से पहले की रचना है। फलतः यह कहना कि वह पद्मावत के अनुकरण पर लिखी गई, समीचीन नहीं होगा। वास्तव में जायसी प्रारम्भ में अपने पूर्ववर्ती कवि मौलाना दाऊद कृत 'चन्दायन' से प्रभावित थे। उसमें चन्द्रावली की कथा का जो रूप है, उससे प्रेरणा लेकर ही जायसी ने 'कन्हावत' में कृष्ण-चन्द्रावली प्रसंग की सृष्टि की। चन्दायन तथा कन्हावत में अन्य समानताएँ हैं। कन्हावत में ही सर्वप्रथम योग-साधना के स्थल आये हैं जिनका विकास पद्मावत में हुआ है।

'कन्हावत' की कथा विशुद्ध रूप से भारतीय अवतारवाद पर आधारित है और इसमें अद्वैत-वाद का भी प्रतिपादन है। स्वयं कृष्ण नागपत्नी से कहते हैं—

कन्ह रूप अवतरेउँ, मारे आयउँ कंस।

वे राही को भी बताते हैं—

हिये गुनहु सुनि राही नारी। ईंही सो विष्णु सरूप मुरारी॥
मैं समुंद महँ लखमी काढ़ी। गोकुल आये कुदव जब बाढ़ी॥

चन्द्रावली से भी अपने अवतार की चर्चा करते हैं—

हौं गोपाल सो कृष्ण जाकर दस अवतार।

हाँ, यह अवश्य है कि जायसी इन अवतारों की विवेचना करते हुए भी शंकालु रहे हैं अतः उन्होंने अपनी शंका को कंस के माध्यम से प्रकट किया है। नारद ने जब अवतारों की बात कही तो कंस शंका करता है—

एक बार जो अवतरि मरै। सो दुसरैं कैसे अवतरै॥
पिंड जैस माटी कर भाँडा। कैस जुरे जो भा दस खाँडा॥
जो पै फेर तिरोहित तोरा। मिलये न मिलै जुरै न जोरा॥
कैसे टूट होइहि एक ठाऊँ। औ जी उठै कही सो नाऊँ॥
मैं देखत सब जनम गँवावा। जो यहि सो गा फेरि न आवा॥

यह नहीं कि वे ऐसी शंका करके हिन्दू अवतारवाद की हँसी उड़ाना चाहते हैं, वे इसका समाधान भी प्रस्तुत करते हैं—

सूरज आवइ अथिवै जाई। लौटि आइ सो कैसे जाई॥
पूनो चांद दुइज घटि होई। लौटि सपूरन देखी सोई॥
बरखा मेघ जो बरसि बिलाहीं। लौटि कहाँ हुत आवहि जाहीं॥
जो अस करे ईंह बहोरा। तिह रे करत नाहि कछु थोरा॥

जायसी ईश्वर के अजन्मा, अरूप, अवर्ण स्वरूप के समर्थक हैं। वे कृष्ण को ब्रह्माण्ड में व्याप्त बताते हैं—

सातों समुंद अठारहो गण्डा। दीख पिंड महँ सब ब्रह्माण्डा॥

राधा को वे अपना विराट् रूप दिखाते हैं। जायसी विष्णु के चतुर्भुज रूप को बारम्बार देखने की चेष्टा करते हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की अभेदता, प्रकृति और पुरुष की एकता—ये भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व हैं जिसे जायसी भी दुहराते हैं—

हेरत-हेरत आप हेराना। बूँद मनहु सब समुँद समाना॥

कन्हावत मे प्रेम की पीर की अभिव्यक्ति राधिका चन्द्रावली और गोपिकाओ के माध्यम से हुई है। आगे पद्मावत मे इसी प्रेम की पीर का पल्लवन हुआ है।

कुछ शब्द 'कन्हावत' की भाषा पर कहकर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है कि जायसी अपनी ठेठ अवधी के ठाठ के लिए प्रसिद्ध हैं। कन्हावत के कुछ शब्दों का आस्वाद करें जो नितांत अवधी रूप हैं :—

हिराना, चौपारी, दोख, महकारू, मढ, वारपार, छेकौं, मिताना, हेरा, बारा, ठाढा, कोरा (गोद), खन (खोदकर), जामत (उगते ही), उचारा (उखाड़ा), झारि (पूरा), हरबरी, निबहुर बाट, बोरा (डुबोया), साउज, पुछार, गोहन (साथ), चाउर, भतार, रामजनी, खोरा (कटोरा), पौसाऊ (सामर्थ्य), पिसान, अगारी, छीमी, फुलरा, चौबारा, सुलुगि, नीक, हिराना, टोवहिं, लीला (निगला), पौढ़ा (लेटा)।

आवश्यकता है जायसी के भाषा-प्रयोग के विश्लेषण द्वारा 'कन्हावत' के परीक्षण की और इस परीक्षण में यह कृति कंचन के समान खरी उतरती है।

२५, अशोक नगर,
इलाहाबाद

कूट रचनाएँ और सूरदास

डॉ० रामदीन मिश्र

कूटपदों की रचना की परम्परा पुरानी है। कहना नहीं होगा कि वेदमन्त्रों में कूटरचना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अपने कथन को शब्दजाल में छिपाकर रखने की प्रवृत्ति मनुष्य में सामान्य और स्वाभाविक है, ताकि वे अवांछित व्यक्तियों की पहुँच से बचे रहें। साथ ही छिपाई हुई वस्तु को ढूंढ़ने का आनन्द भी अनोखा होता है। बचपन में आँख-मिचौनी का खेल प्रायः सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक रहा है। कूटकाव्य की रचना में विशेष कर यह प्रवृत्ति काम करती है।

प्राचीन राजसभाओं में, जहाँ कवियों को यथेष्ट मान-आदर प्राप्त था क्योंकि वे राज-सभा की शोभा माने जाते थे, वहीं उनकी योग्यता, प्रज्ञा, वैविध्य, ज्ञान आदि की परीक्षा भी होती थी। इस क्रम में प्रहेलिका, समस्यापूर्तियाँ, विभिन्न चित्ररचनाएँ एवं कूटरचनाएँ उनकी कसौटी होतीं।

तीसरे स्थान में मान्य कवियों के लिए अपने ही रचना-संसार में मनोरंजन के उपकरण भी जुट जाते हैं। उपरिलिखित रचनाएँ जिन्हें राजशेखर ने 'वैनोदिक' की संज्ञा दी है और जिनकी ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन भारत के कलाविनोद की चर्चा के क्रम में संकेत किया है तथा जिनका विशेष उल्लेख सभाशृङ्गार की पुस्तकों में प्राप्त होता है एवं जिनके निर्माण के गुर तथा महत्त्व को देवेश्वर ने 'कविकल्पलता' एवं धर्मदास ने 'विदग्धमुखमण्डनम्' जैसे काव्य-शिक्षा के ग्रन्थों में पर्याप्त विस्तार से बताया गया है, अपने रचना-संसार में ही कवियों के मानसिक मनोरञ्जन अथवा बौद्धिक विलास की द्योतक हैं।

कूटरचना की परम्परा का विवेचन प्रस्तुत स्थल पर वांछनीय नहीं है, किन्तु इतना उल्लेख भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि गोपन एवं उद्‌घाटन की प्रवृत्ति को, मनुष्य ही क्यों इतर जीवों की भी आदिम प्रवृत्ति होने के कारण प्राचीनतम प्राप्त लिखित रचनाओं में किसी-न-किसी रूप में ढूंढ़ा जा सकता है। वेदमन्त्रों में इसके बीज देखे जा सकते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २४वें अध्याय के सातवें सूक्त का हिन्दी रूपान्तर निम्न है—

> "वरुण लोक में एक ऐसा वृक्ष है जिसकी किरणों की जड़ें ऊपर हैं और जिनकी किरणें ऊपर से नीचे फैलती हैं।"

स्पष्टतः यह वर्णन कूटशैली में है। इस क्रम में उपनिषदों में भी ऐसे वर्णन हैं जो रचना की पद्धति में आते हैं। उदाहरण के लिये मुण्डकोपनिषद् के बहुचर्चित श्लोक—

> द्वा सुपर्णा सयुजासखायाम् मानंवृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

की ओर इंगित किया जा सकता है अथवा कठोपनिषद् के—

> ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखएषोऽश्वत्थः सनातनः।
> तदेव शुक्रं तद्ब्रह्मतदेवामृतमुच्यते ॥ ६-१

को देखा जा सकता है। कठोपनिषद् के इस श्लोक से मिलता-जुलता गीता का निम्न श्लोक है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तंवेद स वेदवित्॥ १५-१॥

श्रीमद्भागवत् में भी इस प्रकार की रचनाएं प्राप्त होती हैं। ऐसे कई श्लोक जैसे स्कंध-६, अध्याय-५, श्लोक ६-८,१० इसी शैली में रचित हैं। किन्तु ये सभी रचनाएँ अपने अर्थ में एकदेशीय हैं, अर्थात् इनके अर्थ ब्रह्म एवं सृष्टि की रचना से सम्बद्ध हैं और ये ब्रह्म एवं सृष्टि के इस सम्बन्ध को ही किसी रूपक के सहारे उपस्थित करती हैं। अतः इन्हें कूट शैली का बीज रूप ही कहना अधिक समीचीन होगा।

कूट का विशद रूप महाभारत में प्राप्त होता है। महाभारत में ऐसे दुरूह श्लोकों की रचना से सम्बद्ध उस प्रसिद्ध किम्वदन्ती से हम अवगत हैं जिसमें गणेशजी की तीव्र लेखन-शक्ति को उलझाकर सोचने एवं श्लोक-रचना के लिये समय प्राप्त करने के उद्देश्य से बीच-बीच में महर्षि वेदव्यास ने ये रचनाएँ की हैं। जब तक गणेशजी इन श्लोकों का तात्पर्य समझ पाते, तब तक व्यासजी को महाभारत को आगे बढ़ाने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता। इस प्रकार गोपन-उद्घाटन की सन्तुष्टि के साथ ही बुद्धि-चातुर्य की कसौटी के रूप में ये श्लोक हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं।

आगे चलकर कूट शैली की दो स्पष्ट धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम धारा तंत्रपद्धति से प्रेरित सिद्धों एवं नाथों से होती हुई सन्तों की उलटबाँसी के नाम से विख्यात है और दूसरी धारा संस्कृत एवं हिन्दी की सामान्य काव्यधारा के साथ चलती हुई विद्यापति से होकर सूर मे प्रमुखता पाती है तथा आगे भी युगानुरूप परिवर्तन-परिवर्द्धन को अंगीकृत करती हुई आधुनिक कविता मे घुल-मिलकर एकाकार हो जाती है।

जहाँ तक सिद्ध-कूटों का प्रश्न है, उनके अर्थ के उद्घाटन की कठिनाई अभी भी बनी हुई है। इसका कारण सिद्धो की संधा भाषा अधिक है जो स्वतः सकेत-विशेष की भाषा होती है। गोरखनाथ की बानियों मे भी कूटशैली अथवा आभिप्रायिक वचन से युक्त शैली का प्रयोग अधिकता से हुआ है। इसी क्रम में कबीर तथा अन्य कवियों की उलटबाँसियों में निहित कथनों को भी देखा जा सकता है। किन्तु सिद्धान्तगत कथनों के गोपन के अतिरिक्त इन अटपटी बानियों का एक उद्देश्य आश्चर्यमय कथन भी है। कहना नहीं होगा कि आश्चर्यजनक व्यापारों के वर्णनों के द्वारा जो अनेक रूपों में असम्भव भी कहे जा सकते हैं, श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करना भी इन उलटबाँसियों का लक्ष्य हो सकता है, ताकि श्रोता कुतूहल मे पड़कर इनके भीतरी रहस्य के उद्घाटन मे प्रवृत्त हों। इसका हमे संकेत मिलता है जब कबीर कहते हैं—

एक अचम्भा देखा रे भाई। ठाढ़ा सिंह चरावै गाई॥

सूरदास भी अपनी कूट रचना मे इस अचम्भे का उल्लेख करते हैं—

देखौ भाई, दधिसुत में दधि जात।
एक अचम्भौ देखि सखी री, रिपु में रिपु जु समात॥

अथवा

अद्भुत एक अनूपम बाग।

इस प्रकार, किसी अचभे का वर्णन अथवा कुछ अद्भुत कथन कूट शैली की विशेषता है।

सूरदास के कूट पदो में कोई सिद्धान्त अथवा साम्प्रदायिक रहस्य को छिपाकर नहीं रखा

गया है जिसका सामान्य जन के हाथ में जाकर विकृत हो जाने का भय हो। उनके पदों में इस स्तर पर भी उच्च काव्य की सृष्टि होती है जिसके उद्‌घाटन में विद्वज्जनों की बुद्धि और सूझ की परीक्षा भी होती है और सही अर्थ तक पहुँच जाने पर उन्हें अपार आनन्द भी होता है।

जहाँ तक सूर की रचनाओं के विषय का प्रश्न है, उनके विनय के पदों में केवल एक पद दृष्टिकूट का प्राप्त होता है, चार पद बाललीला के हैं तथा शेष सभी पद शृङ्गार के उभय पक्षों से ही सम्बद्ध हैं। शृङ्गार के पदों में रूप-वर्णन अथवा नखशिख वर्णन की बहुलता दीख पड़ती है। इसके अतिरिक्त राधा-कृष्ण की शृङ्गारिक चेष्टाओं, रतिक्रीड़ाओं एवं उसके प्रभावों का यथेष्ट विस्तृत वर्णन है। शृंगार नायिकाओं की प्रायः सभी स्थितियों एवं रूपों की योजना सूर के कूट पदों में हुई है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत विलम्बित प्रवास की योजना तो इन पदों में नहीं मिलती, किन्तु प्रेम के उत्कट क्षणों में नायक की अनुपस्थिति नायिका के हृदय में गम्भीर विरह की सृष्टि करती है। इस क्रम में इन पदों में वासकसज्जा, उत्कंठिता, खण्डिता, अनुशयना, विप्रलब्धा आदि रूपों में राधा-कृष्ण की चेष्टाओं का वर्णन उपलब्ध होता है।

मान भी विप्रलम्भ के अन्तर्गत ही परिगणित है। सूरदास ने इन कूटपदों में मान-वर्णन के क्रम में दूती एवं उसके कार्यों का विशद वर्णन किया है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत इस क्रम में प्रोषितभर्तृका, कलहान्तरिता एवं मानवती के रूप में भी राधा की चेष्टाओं का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। सम्भोग-वर्णन के अन्तर्गत रतिकेलि की क्रीड़ाएँ नियोजित हैं। इन पदो में राधा और कृष्ण परस्पर अभिन्न दीख पड़ते हैं। अतः यह प्रश्न ही व्यर्थ है कि यह शृङ्गार-वर्णन नायिकारब्ध है अथवा नायकारब्ध। उभय पक्षों का समान योग इन पदों की अन्य विशेषता है। इस प्रकार इन कूटपदों में हमें नायिकाभेद की उस परम्परा का स्पष्ट स्रोत दीख पड़ता है जो रीतिकाल में कवियों का प्रधान वर्णन बन गया।

कहा जा चुका है कि कूटरचना शब्द-विन्यास की एक विशिष्ट शैली है, दुरूहता जिसकी प्रमुख विशिष्टता है। कवि अटपटे अथवा असम्बद्ध से दीखनेवाले शब्दों के अन्तर्गत अभीष्ट अर्थ छिपाकर रखता है और पाठक अथवा श्रोता से आशा करता है कि इस शब्दजाल से वह सही अर्थ निकाल ले। फलतः इन रचनाओं में शब्दों की प्रधानता होती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर परवर्ती आलङ्कारिकों ने कूट अथवा दृष्टिकूट को शब्दालङ्कार के अन्तर्गत परिगणित किया है।

सूरदास के दृष्टिकूट पदों की रचना-प्रणाली का विश्लेषण करने पर हमें सामान्यतः चार प्रकार की शब्दप्रणाली का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है—

रूप-वर्णन अथवा नखशिख-वर्णन से सम्बद्ध पदों की रचना का आधार प्रायः ऐसे अलङ्कार हैं जिनमें केवल उपमानों के वर्णन के सहारे ही रूपचित्र उपस्थित किया गया है। उदाहरण के लिये, सूरदास का प्रसिद्ध दृष्टिकूट पद 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग' को देखा जा सकता है। प्रस्तुत पद मे राधा का नखशिख-वर्णन केवल उपमानों के सहारे किया गया है और इस प्रकार एक बाग का रूपक उभरता है जिसके विभिन्न उपकरणों मे कोई तालमेल नही दीखता और इसी कारण इस बाग को अद्‌भुत कहा गया। स्पष्ट है कि यहाँ अर्थ की दुरूहता का कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार है। यदि पाठक परम्परा-प्रसिद्ध उपमानों से परिचित है और अलङ्कार का ज्ञान भी उसे है तो इस प्रकार के कूटपदों का अर्थ वह उपलब्ध कर लेगा।

कतिपय पदों में गुरुजनों अथवा अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में उनसे गुप्त रखने के उद्देश्य

से राधा-कृष्ण के पारस्परिक भाव-विनिमय कुछ इंगित अथवा चेष्टाओं के द्वारा वर्णित हैं। इन क्रियाओं के वर्णन का आधार भी सूक्ष्म अथवा युक्ति अलङ्कार है। उदाहरण के लिये—

स्याम अचानक आय गए री।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी, देखत ही मो नैन नए री॥
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी बेंदी सौ कर परस कियौ री॥
आप हँसे उत पाग मसकि हरि, अन्तरयामी जानि लियौ री॥ आदि-आदि

अर्थगोपन अथवा कूटरचना की दूसरी प्रणाली अनेकार्थवाची शब्दों पर आधारित है। 'सारंग' शब्द पचास से भी अधिक अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'हरि' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं। अन्य ऐसे बहुत सारे शब्द हैं जिनके चार-पाँच अर्थ हैं। पुनः इन शब्दों से अनेक यौगिक शब्दो का निर्माण होता है। सूरदास के कितने ही कूटपदों की रचना इन शब्दों की आवृत्ति पर आधारित है। इस प्रकार यमक के सहारे इन शब्दो के द्वारा अभीष्ट अर्थ को आच्छन्न बना पाने में सूरदास को पर्याप्त सफलता मिली है। जैसे—

हरै बलबीर बिना को पीर।
सारंगपति प्रघटे सारंग तै जानि दीन पर भीर॥
सारंग बिकल भयौ सारंग मैं सारंग तुल्य शरीर॥ आदि-आदि

इस क्रम मे यह भी ध्यातव्य है कि सूरदास ने ऐसे शब्दों का प्रयोग तो बहुलता से किया ही है जिनके अनेक पर्याय हैं, साथ ही उन्होंने दृष्टिकूट की पद्धति से इन शब्दों से ऐसे यौगिक शब्दों का निर्माण भी किया है जो सामान्यतः शब्दकोशो में नहीं पाये जा सकते। उदाहरण के लिये, जल-सुत यानी मोती, अथवा सारंग-रिपु-बाजि यानी रात्रि के शत्रु सूर्य का घोड़ा। इस प्रकार की शब्द-निर्माण-पद्धति ही दृष्टिकूटात्मक पद्धति कहलाती है। सूरदास-रचित प्रायः समस्त कूटपदो में शब्दप्रयोग की इस पद्धति को अपनाया गया है। कहना नहीं होगा कि इस पद्धति के वर्णनों मे यमक के साथ ही श्लेष का भी योग होता है। यों अयत्नज और सयत्नज भी अन्य अलङ्कारों का चमत्कार इन पदों में उपलब्ध है। बहिर्लापिका एवं प्रहेलिका का स्थान चित्र-रचनाओं के अन्तर्गत है, अतः कूटरचना में इनका योग अनिवार्य रूप से रहता है।

दृष्टिकूट के पदों मे संख्यात्मक पद्धति का भी उल्लेखनीय प्रयोग हुआ है। अनेक पदों मे अर्थ इसी कारण अत्यन्त गूढ़ हो उठता है कि उनमें उपमानो के साथ संख्याओं का उल्लेख है। ये संख्याएँ पाठक को ऐसे पदों में निहित कथन के समीप पहुँचने में सबसे बड़ी बाधा सिद्ध होती हैं क्योकि सही स्थिति की कल्पना ही सम्भव नही हो पाती है। उदाहरण के लिये, निम्न पद को लिया जा सकता है—

देखि री प्रघट द्वादस मीन।
षट इन्दु द्वादस तरनि सोभित बिमल उडगन तीन॥ आदि-आदि

प्रस्तुत पद में उपमानों की संख्या दी हुई है। इन संख्याओं के कारण पद में दृष्टिकूटात्मकता का आधान सम्भव है। यदि सन्दर्भ की कल्पना सम्भव हो सके, अर्थात् राधा-कृष्ण यमुना-किनारे बैठे दर्पण देख रहे हैं, इस चित्र का आभास पाया जा सके तो पद का अर्थ भी अतिशयोक्ति-पद्धति से खुल जायगा। इस पद्धति का प्रयोग सूरदास ने बहुलता से किया है।

उपर्युक्त प्रणालियों के अतिरिक्त सूरदास ने ऐसे कूटपदों की रचना की है जिसमें किसी पौराणिक अथवा लौकिक कथा को आधार बनाया गया है। श्रीमद्भागवत चूँकि सूरदास का

आधारग्रन्थ है, अतः उनके द्वारा रचित दृष्टिकूटों में भी अधिक पात्र अथवा कथा श्रीमद्भागवत से ही गृहीत हैं। इनके अतिरिक्त महाभारत तथा अन्य पुराणों में वर्णित पात्रों एवं कथाओं का आधार भी यत्र-तत्र लिया गया है।

लौकिक कथाओं अथवा लोकोक्तियों का आधार भी कतिपय पदों में दीख पड़ता है। ये लोकोक्तियाँ अथवा काव्य-प्रौढ़ोक्तियाँ परम्परा से काव्य मे प्रयुक्त होती आई हैं और सूर ने इनका प्रयोग अपनी इतर रचनाओं में भी किया ही है। अतः कूटसन्दर्भ में इनका अपना कोई विशिष्ट महत्त्व हो, ऐसी बात नहीं—फिर अन्य प्रणालियों के साथ युक्त होकर ये विशेष चमत्कारोत्पादक बन गई हैं। यथा—

> जल-सुत (पंक)-सुत (कमल) ताको रिपु (हाथी) पति (विष्णु) पुत (कामदेव)
> घेरि लई सखि है कित ध्याऊँ।
>
> × × ×
>
> एक उपाय आनि जो पाऊँ भो खगपति (गरुड़)-पितु
> (कश्यप, अर्थात् कछुआ) दृष्टि चुराऊँ॥

यहाँ कछुए की दृष्टि, अर्थात् कछुए द्वारा जल में रहकर पृथ्वी पर अण्डा सेने के तथ्य की ओर संकेत है और यह लौकिक बात है।

चित्रकाव्य अथवा चित्ररचनाओं में कवियों को कुछ छूट मिली होती है, जैसे आवश्यकता पड़ने पर र-ल, ज-य, ब-व आदि वर्णों को अभिन्न मानकर एक के स्थान पर दूसरे का पाठ किया जा सकता है। मात्राओं में भी इस प्रकार की छूट ली जा सकती है। दृष्टिकूट की रचना में वर्ण के क्षेत्र में इसकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु शब्दों के क्षेत्र में इस प्रकार की स्वतन्त्रता का उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिये, हरि-आहार में यदि हरि का अर्थ सिंह है तो सिंह का आहार मांस होगा। किन्तु चूँकि मांस और मास में केवल अनुस्वार का अन्तर है, अतः मांस को मास लेकर महीना के अर्थ में उपयोग किया जा सकता है। सूरदास ने कूटरचनाकारों अथवा चित्ररचनाकारों की इस सुविधा का उपयोग अपनी रचनाओं में पर्याप्त किया है।

वस्तुतः, जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, अचंभा अथवा आश्चर्य पैदा करना दृष्टिकूट का अन्यतम लक्ष्य है। कवियों का स्वान्तः विनोद एवं बौद्धिक विलास इनका दूसरा लक्ष्य है तथा ज्ञान की परीक्षा इनका तृतीय उद्देश्य कहा जा सकता है। किन्तु इनके अतिरिक्त सूरदास के दृष्टिकूट के पदो में उच्चकोटि के शृंगारकाव्य की भी रचना हुई है जिनमें शृंगार-नायिकाओं की चेष्टाओं का सटीक वर्णन है तथा उत्कृष्ट आलङ्कारिक योजना भी इनमें दृष्टिगत होती है। सिद्धों, नाथों अथवा सन्तों द्वारा रचित कूटों अथवा उलटबाँसियों की तरह ये पद कोरे साधनात्मक सिद्धान्तों अथवा पद्धतियों का सङ्कलन नहीं करते, बल्कि कूट की सारी विशिष्टताओं से युक्त होकर भी पर्याप्त मनोहारी काव्य की सृष्टि करते हैं।

रीडर, हिन्दी विभाग
पटना विश्वविद्यालय
पटना

काव्य-नाटक : एक तात्विक विवेचन

□

डॉ० श्यामदेव भगत

यह कविता का ह्रास-युग कहा जाता है। सामान्य व्यक्ति के जीवन में कविता के लिए अवकाश नहीं रह गया है, क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था ने मनुष्य को व्यक्तिवादी बना दिया है। आज कविता में व्यक्तिवाद का स्वर प्रमुख हो उठा है – जन-समाज के जीवन से उसका संबंध छूट गया है। कॉडवेल ने एक जगह लिखा है कि आधुनिक कविता, जीवन से, वास्तविक सामाजिक तत्त्वों से रहित होती जाती है और कविता द्वारा प्रयुक्त शब्द-मूल्य तब तक क्रमशः अधिक व्यक्तिगत होते जाते हैं जब तक कविता पूर्णतः दुरूह और व्यक्तिगत नहीं हो जाती। यही कारण है कि बूर्जुआ सभ्यता के अधिकांश लोगों को कविता ग्राह्य नहीं हो सकी। निष्कर्षतः कविता फिर से तभी लोकप्रिय हो सकेगी जब जन-समाज के जीवन से उसका संबंध होगा। और, यह कार्य काव्य-नाटक के माध्यम से सहज हो सकता है। कविता काव्य-नाटक के ही रूप में अपने अस्तित्व की रक्षा करती हुई फिर से जन-जन के हृदय मे प्रतिष्ठित हो सकती है, क्योकि काव्य-नाटक में एकसाथ ही मनुष्य का अन्तर्जीवन भी है, बहिर्जीवन भी; भावनाओं की कोमलता भी है, संघर्षों की कठोरता भी; व्यक्तिगत जीवन भी है, सामाजिक जीवन भी। इसके अतिरिक्त यह एकसाथ ही पाठ्य भी है, अभिनेय भी; काव्य भी है, नाट्य भी।

इसके साथ ही, कवि-मानस की सभी क्षमताओं – कल्पना, भावना और बुद्धि — का जैसा उत्कृष्ट संयोजन काव्य-नाटक मे होता है, वैसा अन्य विधाओं में नही। काव्य-नाटक की रचना केवल वे ही महान् कवि कर सकते हैं जो नाटकीय प्रतिभा से भी सम्पन्न हों, क्योंकि नाटक-तत्त्व इसका बाह्य स्वरूप निर्धारित करता है, काव्य-तत्त्व इसमें आत्मा की स्थापना करता है। नाटक-तत्त्व कथानक का निर्माण करता है, घटनाएँ देता है, संघर्ष देता है, पात्रों की सृष्टि करता है और काव्य-तत्त्व इसमें अनुभूतियों का दान देता है। स्पष्ट ही इसमे न तो काव्यों जैसी भावुकता की प्रधानता होती है और न गद्य-नाटकों जैसे स्थूल क्रिया-व्यापार की बहुलता ही। वस्तुतः यहाँ गद्यात्मक नाटकों की अपेक्षा अधिक भावमयता और कविता से अधिक व्यापार रहता है। इस सामंजस्य मे कुछ सीमाएँ नाटकीयता को छोड़नी पड़ती हैं और कुछ कवित्व को। और इस प्रकार एक नए काव्य-रूप का जन्म होता है जिसके तत्त्व इस प्रकार हैं—

(१) कथानक, (२) पात्र एवं चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) भाषाशैली— बिम्ब-विधान, प्रतीक-विधान, छन्द-विधान, (५) अभिनेयता, (६) उद्देश्य।

(१) कथानक

नाटक में किसी-न-किसी कथावस्तु की अपेक्षा होती है, भले ही वह भाव-प्रधान हो। कथा- के अभाव में नाटक की रचना हो ही नहीं सकती। विशिष्ट देश और काल में, विशिष्ट व्यक्तियो

के सन्दर्भ में घटित तथा कारण-कार्यक्रम में नियोजित घटनाओं की श्रृङ्खला को कथानक कहते हैं। फास्टर के मत से कथानक मे प्रत्येक क्रिया-व्यापार और शब्द का सकारण होना नितान्त आवश्यक है। और काव्य-नाटक सामान्यतः बहिर्जीवन की उपेक्षा कर सीधे मानव-जीवन की गहराइयों तक पहुँचने की चेष्टा करता है। क्योंकि अन्तर्जगत् की भावनाएँ ही बहिर्जगत् के कार्य-कलापों का सचालन करती हैं और विचार, अनुभूतियाँ, राग और विराग ही हमारे अन्तरतम के सत्य हैं। स्पष्ट ही काव्यात्मक विषय-वस्तु के कारण ही काव्य-नाटक का कथानक भाव-प्रधान होता है। इसमें प्राय: ऐसे स्थलों को चुना जाता है जो अपनी मार्मिकता के कारण हमारे अन्तस्तल की गहराई का आसानी से स्पर्श कर सकें। यही कारण है कि इससे प्राय: कथावस्तु अतीत की गौरव-गाथाओं अथवा धार्मिक-पौराणिक क्षेत्रों से उठायी जाती है। जे० आइजेक्स ने भी काव्य-नाटक पर विचार करते हुए इसकी विषय-वस्तु पुराण-कथाएँ ही मानी हैं। पौराणिक कथानक किसी देश के जातीय जीवन के धर्म, दर्शन, इतिहास और संस्कृति से सम्बद्ध होते हुए भी किसी विशिष्ट युग और उसके किसी विशिष्ट सन्दर्भ तक ही सीमित नहीं होते। उनके विशिष्ट रूप में ही उनका सामान्य स्वरूप निहित रहता है जो असीम अर्थवत्ता और प्रतीकात्मकता प्रदान करता है। वस्तुतः अतीत की कथावस्तु को प्रतीक-सूत्रों में पिरोकर जहाँ एक ओर वर्तमान युग की समस्याएँ प्रभावोत्पादक रूप मे सुगमता से प्रस्तुत की जा सकती है, वहीं दूसरी ओर इससे कलात्मकता के साथ ही भावोत्तेजन की भी अधिक संभावना बढ जाती है।

इतना ही नहीं, पुराख्यान अपने प्रतीक रूप में जिस सामाजिक जीवन की व्याख्या करता है, युग के उस सामयिक जीवन से काव्य-नाटक के लिए वस्तु का चयन सीधे भी किया जा सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जिस आधुनिक समाज का विकास हुआ, उसमें आधुनिक उद्योग और वैज्ञानिक आविष्कारों का पूरा-पूरा हाथ है। औद्योगीकरण और यन्त्र-क्रांति ने नयी समाज-व्यवस्था को जन्म दिया। सरकारी समाजवादी नीति के घोषणा-पत्र के बावजूद समाज के बीच आर्थिक खाइयाँ बढ़ती गयी। यांत्रिकता ने मूल्यों को बदल दिया। स्वतन्त्रता-पूर्व नयी पीढ़ी ने खुशहाली के जो स्वप्न सँजोये थे, उसके मन में देश को जागृत और उन्नत देखने की जो बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, राष्ट्र को एक भिखारी के रूप में नही बल्कि समृद्ध और उन्नत राष्ट्र के रूप में देखने की जो उनको कल्पना थी, स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर वह सब कुछ न हुआ। बल्कि हुआ वह सब जिसे राजनीतिक नेताओं और उसके संकेतों पर चलने वाले मोहरों ने चाहा। सच पूछा जाए तो दार्शनिकता, कला, समाज, ऑफिस, रेस्तरां हर जगह राजनीति हावी होती गयी। चीनी आक्रमण और पाकिस्तानी आक्रमण ने भी हमारे स्वप्नों को बिखराया। और इस प्रकार आज का युग 'मूल्यों के विघटन' अथवा 'सांस्कृतिक संकट' के युग के रूप में सामने आया। आज का साहित्य जीवन की इस अनियमित एवं वैचित्र्यपूर्ण लय को पकडने का प्रयास कर रहा है। कतिपय काव्य-नाटकों में जीवन की यह जटिलता मार्मिक ढङ्ग से प्रस्तुत हुई है। सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने 'शिल्पी', 'सौवर्ण', 'रजतशिखर' संग्रह के माध्यम से बदलते हुए जीवन-मूल्यों को मानवतावादी स्वर प्रदान किया है। गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-नाटक 'कल्पांतर', 'दंगा' आदि भी समसामयिक जीवन की समस्या पर ही आधारित हैं।

डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा मानते है कि काव्य-नाटक में कथानक का सौन्दर्य मार्मिक घटनाओं के द्वन्द्वमूलक विकास में निहित रहता है। सच पूछा जाए तो काव्य-नाटक के कथानक का ही नही, नाटक मात्र की कथावस्तु का सौन्दर्य संघर्ष में निहित है। धर्म, अर्थ और काम— इन तीनों की प्राप्ति

कथावस्तु का फल है। नाटक इन त्रिवर्गों में से कभी एक की, कभी दो की और कभी तीनों की कामना करता है। और किसी फल की प्राप्ति में उठा कदम ही विभिन्न आदर्शों, उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के बीच संघर्षों को जन्म देता है। इसी टकराव से वस्तु का विकास होता है। पात्रों के परिस्थिति से जुड़े होने के कारण घटनाओं का टकराव वस्तुतः पात्रों का ही टकराव हुआ करता है। पात्रों की मनःस्थिति का द्वन्द्व मानसिक स्तर के साथ-साथ क्रिया-व्यापारों अथवा घटनाओं के रूप में भी व्यक्त होता है। पर इस संघर्ष की चारुता, वास्तविकता और विश्वसनीयता तभी है जबकि असत् पक्ष भी उतना ही प्रबल हो जितना कि सत् पक्ष।

(२) पात्र और चरित्र-चित्रण

अरस्तू ने 'कथानक' को त्रासदी में अत्यधिक प्रमुखता देते हुए चरित्र-चित्रण को गौण माना है। उसका यहाँ तक कहना है कि बिना चरित्र-चित्रण के त्रासदी का निर्माण हो सकता है, पर बिना कथानक के नहीं। पर ऐसा समझना बड़ी भारी भूल है। नाटकों में भी चरित्र-चित्रण का उतना ही अधिक महत्त्व रहता है जितना कि उपन्यासों में उसे प्राप्त है। वास्तव में चरित्र-चित्रण ही नाटक का स्थायी तत्त्व है। शेक्सपीयर या द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का महत्त्व इसलिए है कि उनमें चरित्र-चित्रण की प्रधानता है। उन नाटकों में मुख्यत. पात्रों के विचारों एवं भावों का विकास ही दिखलाया गया है जो चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। पात्रों के जीवन अथवा चरित्र का विकास ही कथानक को गति प्रदान करता है। पर पात्रों का चयन करते समय नाटककार को यह सावधानी बरतनी होगी कि उसे सिद्धान्तों के घेरे से असंपृक्त रखा जाए, ताकि जीवन के स्वस्थ दृष्टिकोण को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके; अन्यथा पात्रों के यथार्थ होते हुए भी परिणाम यांत्रिक होंगे। क्योंकि पात्र परिस्थिति के माध्यम से ही अपने जीवन को व्यक्त करता है।

काव्य-नाटक में भाव-प्रधानता के कारण पात्र दैनिक जीवन में मिलने वाले पात्रों से कुछ भिन्न होते हैं, क्योंकि काव्य-नाटककार पात्र-योजना करते समय उनको उसी रूप में नहीं अपनाता। वह जीवन से कुछ पात्रों को लेकर उनमें यथानुरूप काट-छाँट करता है। चरित्र के गठन में वह सरलीकरण तथा अतिरंजना का आश्रय लेता है। और ऐसे पात्रों की सृष्टि करता है जिनमें नाटकीय क्रिया-व्यापार भी हो, काव्यात्मक भावात्मकता भी। इसीलिए काव्य-नाटक के पात्र सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक चिन्तन-प्रधान और संवेदनशील होते हैं और इसका लक्ष्य मानव के अन्तर्जीवन का चित्रण होने के कारण उसमें पात्रों की मनःस्थिति का गहराई से मंथन किया जाता है। प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने काव्य-नाटक के पात्रों के विषय में कहा है, "सबसे अच्छा प्रभाव तब पड़ता है जब पात्र सांस्कृतिक उन्नयन के एक विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित हों जिससे कि उनके कार्य नैतिक, राजनीतिक अथवा यांत्रिक विचारधाराओं से अभिभूत हुए बिना उसके व्यक्तित्व की निर्भ्रान्त अभिव्यंजना करें। इन्हीं कारणों से वीर-युग की पुराण-कथाएँ कवियों के लिए विशेष उपयोगी हुआ करती थीं।" ये पात्र जीवन की सतही क्रियाओं, प्रवृत्तियों के द्योतक न होकर, जीवन की अतल गहराइयों में निहित उन गहन शक्तियों, आन्तरिक प्रवृत्तियों और मनोद्वन्द्वों के प्रकाशन होते हैं जो किसी निजी जीवन को परिचालित करने वाले होने के साथ ही समष्टिगत जीवन की भी मूलभूत प्रेरणादायिनी शक्तियाँ हैं।

गूढ़ अर्थगर्भित तथा आन्तरिक संघर्ष से युक्त कथानक के समान ही काव्य-नाटक के पात्र भी अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान और गूढ होते है। वस्तुतः नाटक के चरित्रों का सौन्दर्य अन्तर्द्वन्द्व से ही निखरता है। यही प्रधान साधन है जिसके द्वारा पात्रों के चरित्र की सूक्ष्मता स्पष्ट होती

है। और यह सौंदर्य, संस्कार और प्रभाव की उचित समंजन में ही सम्भव है। यदि प्रभाव संस्कारों के प्रतिकूल हों तो भयंकर अन्तर्द्वन्द्व होता है, यदि वे संस्कारों के अनुकूल हों तो पात्र विलासी होने लगता है। स्पष्ट ही कथानक चाहे ऐतिहासिक हो या पौराणिक, उत्पाद्य हो या मिश्र, किन्तु संघर्षपूर्णता उसकी आवश्यक शर्त है। और यह संघर्ष भी इस प्रकार नियोजित हो कि पात्रों की रागात्मक तथा बौद्धिक प्रतिक्रियाएँ अपने चरमोत्कर्ष पर व्यक्त हो सकें। अन्य नाटकों की भाँति काव्य-नाटक में भी कथानक के सौन्दर्य का महत्त्व चरित्र-सृष्टि की सफलता में सहायक होने में ही है। अतः यहाँ भी कथानक और चरित्रों में पूर्ण सामंजस्य होना आवश्यक है।

(३) कथोपकथन

कथाक्रम के विकास और चरित्र-चित्रण के लिए कथोपकथन की अनिवार्य उपयोगिता मानी जाती है। उपन्यासकार की भाँति नाटककार प्रत्यक्ष रूप से चरित्र-चित्रण नहीं कर सकता। उसे परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग से काम लेना पड़ता है। इलियट मानता है कि एक बड़े नाटककार का संसार वह संसार है जहाँ वह सर्वत्र उपस्थित भी रहता है और सर्वत्र अदृश्य भी। इसलिए वह पात्रों के विषय में स्वयं कुछ न कहकर या तो नाटक के एक पात्र से दूसरे पात्र के चरित्र पर प्रकाश डलवाता है या कोई पात्र कार्य, संवाद, भाव-मुद्रा आदि द्वारा स्वयं अपने चरित्र का उद्घाटन करता है। स्पष्ट ही, इस अप्रत्यक्षता की स्थिति संवादात्मक शैली के आश्रय से ही संभव है। और यहाँ संवादों में गद्य-नाटक के समान गद्य का प्रयोग न होकर कविता का प्रयोग होता है, क्योंकि अन्तर्जीवन को अपना आधार बनाने के कारण काव्य-नाटक में रागात्मक अनुभूतियाँ, आकांक्षाएँ एवं विचारों की सघनता रहती है। इसमें नाटककार पात्रों के इस अन्तर्जगत् का काव्यत्व के योग से इस प्रकार चित्रण करता है कि उनका हृदय आवेग से आप्लावित हो जाता है। और यह वह क्षण हुआ करता है जब मानव-हृदय की रागात्मक अनुभूतियाँ अपने तीव्रतम रूप में सामने आने का प्रयास करती है। अतः काव्यमय कथानक और पात्रों को काव्यमय भाषा-शैली में ही निबद्ध किया जा सकता है। काव्यमय व्यापारों और उद्गारों की अभिव्यक्ति के लिए गद्य उपयुक्त नहीं हो सकता। मनोविज्ञान मानता है कि हमारे तीव्र मनोभाव अतिरंजित वाणी की ओर झुकते हैं। इलियट भी भावातिरेक के क्षणों की अभिव्यक्ति मे कविता की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। लय और भावनाओं की परस्पर आबद्धता स्वतःसिद्ध है। तीव्र मनोभावों का प्रखर वेग कविता की लय ही सँभाल सकती है। यही कारण है कि काव्य-नाटक सर्वथा कविताबद्ध होता है। पर यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जहाँ पर कविता में स्वाभाविकता लाना कठिन हो, या तो उन स्थितियों एवं दृश्यों को नाटक में स्थान ही न दिया जाए, या फिर किंचित् मात्रा में गद्य का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु यहाँ सीमित मात्रा में ही गद्य का प्रयोग अभीष्ट है, अन्यथा इससे दर्शक (पाठक) का ध्यान नाटक की ओर से हटकर माध्यम की ओर लग जायगा और अखंडित आनन्द की उपलब्धि न हो सकेगी। इसलिए नाटकीय कथोपकथन (चाहे पद्य में हो या गद्य में) की शैली और लय का मुख्य प्रभाव अचेतन मन पर पड़ना चाहिए।

काव्य-नाटक में निहित मार्मिक प्रसंगों एवं संवेदनशील पात्रों की सजीव अभिव्यक्ति के लिए संवादों का एक ओर जहाँ काव्यमय होना आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि बोलचाल की भाषा से उसका सम्पर्क बना रहे— पर वह बोलचाल के उस निचले स्तर तक न उतरे कि गँवारू और अश्लील हो जाए। यही इस तथ्य को भी ध्यान में रखना है कि भावपूर्ण स्थितियों की भाषा संगीतमयी हो जाती है, पर कोरे संगीत मे पात्रों और परिस्थितियों के निर्वाह की क्षमता

नहीं होती। अतः संगीतमयी और बोलचाल की भाषा का संतुलित रूप ही काव्य-नाटककार का अभीष्ट होना चाहिए।

काव्य-नाटक में कथोपकथन छन्दोबद्ध होता है, चाहे वह परम्परामुक्त छन्द में हो या अभिनवमुक्त छन्द में। सामान्यतः काव्य-नाटक के लिए मुक्त छन्द की उपयोगिता इसलिए है कि दैनिक व्यवहार की बोलचाल के निकट और भावनाओं के आरोह-अवरोह पर आधारित होने के कारण इसकी लय स्वाभाविकता का बोध कराने के अतिरिक्त सजीव एवं प्रभावोत्पादक रूप में नाटकीय तीव्रता का निर्वाह कराने में असमर्थ है। 'ब्लैंक वर्स' की अपेक्षा 'फ्री वर्स' ज्यादा सशक्तता से अभिव्यक्त कर सकता है। नाटकीय लाघव (ड्रामेटिक इकॉनोमी) लाने के लिए कथोपकथन छोटा ही नहीं, वरन् ऐसा भी हो जो चरित्र पर प्रकाश डाल सके। काव्य-नाटक के संवाद भी पात्रों और परिस्थितियों के मर्म का उद्घाटन करने वाले होने के कारण संक्षिप्त, सजीव, भावपूर्ण, बिंबात्मक और व्यंजक होते हैं।

(४) भाषा-शैली

जब विषय-वस्तु और रूप में एक साहित्य-विधा दूसरे से भिन्न होती है, तो उसकी भाषा-शैली भी विषय-वस्तु और रूप के अनुकूल ही परिवर्तित हो जाती है; क्योंकि विषय-वस्तु के अनुरूप आकार देने में भाषा-शैली ही तो योग देती है। एँबरक्रॉम्बी ने काव्य-नाटक में पद्यमय भाषा की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहा है कि काव्य-नाटक में पात्र स्वयं ही काव्य प्रतीत होते हैं और उनका व्यक्तित्व काव्यमय बिम्ब अथवा प्रतीक के सदृश होता है। उनकी भावमय सृष्टि इस प्रकार की जाती है कि कविता उनके लिए अनिवार्य भाषा बन जाती है और कविता की भाषा दर्शन एवं विज्ञान की भाषा से भिन्न होती है। विज्ञान और दर्शन में, अर्थों के स्थिरीकरण की प्रवृत्ति होती है, जबकि कविता की भाषा में शब्दों के कोशगत अर्थ या अभिधार्थ गौण हैं। यही कारण है कि विज्ञान और दर्शन की भाषा जहाँ अभिधात्मक, गद्यात्मक और बिम्बरहित होती है, वहीं कविता की भाषा प्रतीकात्मक, बिम्बात्मक, लय एवं तुक से युक्त होती है। अतः काव्य-नाटक की भाषा-शैली के अन्तर्गत बिम्ब-विधान, प्रतीक-विधान, छन्द एवं लय-तुक पर विचार करना भी अपेक्षित है।

(क) बिम्ब-विधान—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी बिम्ब की महत्ता स्वीकार करते हुए बिम्ब-ग्रहण कराना ही कवि का प्राथमिक कर्त्तव्य बतलाते हैं, "कवि का प्राथमिक कर्त्तव्य बिम्ब ग्रहण कराना है और उसका साधन है अप्रस्तुत विधान। इसके बिना कवि मनोरम भाव को हृदयहारी बनाकर अपना वक्तव्य कह ही नहीं सकता।" जहाँ "इमेज (बिंब) से अभिप्राय है ऐसी सचेत स्मृति जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति में किसी अतीत अनुभव का समग्र अथवा अंश-रूप में पुनरुत्पादन करती है।" लेविस भी काव्य-बिम्ब को न्यूनाधिक रूप में ऐन्द्रिय शब्द-चित्र ही मानते हैं जो कुछ सीमा तक रूपकात्मक होता है।

इन प्रतिमाओं या बिम्बों को दो प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

(१) उद्भव के आधार पर—स्मृतिजन्य और स्वरचित।
(२) ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर—रूप, दृष्टि, ध्वनि (शब्द), गंध, स्पर्श और रस।

स्मृतिजन्य बिम्ब पूर्वगामी अनुभूति का पुनरुत्पादन मात्र होता है। जैसे किसी मित्र की याद करने पर उसके रूप, स्वर आदि की दृष्टि और शब्द-प्रतिमाएँ हमारे मन में आ जाती हैं। स्वरचित प्रतिमाएँ अपेक्षाकृत नूतन तथा मौलिक होती हैं। यद्यपि उनके निर्मायक घटक हमारे अनुभव में

अलग-अलग आ चुके होते हैं। जैसे मेघ और दूत हमने अलग-अलग अवश्य देखा है, परन्तु 'मेघदूत' की अन्वित कल्पना हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में न कभी आयी है, न आ सकेगी।

व्यक्तियों की बिम्ब-विधान-सम्बन्धी क्षमता में बड़ा अन्तर होता है। दृष्टि-सम्बन्धी बिम्ब-विधान की क्षमता प्रायः सभी व्यक्तियों में मिलती है। यही कारण है कि रूपकात्मक बिम्ब सर्वाधिक होते हैं। किन्तु सूक्ष्म होने के कारण ध्वनि-बिम्ब अपेक्षाकृत कम होते हैं। कवि शब्दों की ध्वनन-शीलता के माध्यम से झंझावात, वनों की नीरवता आदि के बिम्ब अंकित करता है। गंध, स्पर्श, रस सम्बन्धी कल्पना की क्षमता कम लोगों में होती है। स्पष्ट ही, बिम्ब के उपर्युक्त भेदों में रूपात्मक बिम्ब ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गंध, ध्वनि, स्पर्श, रस का पृथक् कोई मूर्त बिम्ब हो ही नहीं सकता, क्योंकि वस्तु के रूप से पृथक् तो इनका केवल बोध-मात्र ही सम्भव है। बिम्बों की सार्थकता रूप-बिम्बों के साथ सम्बद्धता में निहित है। अतः ये सभी रूप-बिम्बों के आनुषंगिक बिम्ब हैं जो उनके साथ संयुक्त होकर उनको विविध ऐन्द्रिय संवेदनाओं और सम्बद्ध अनुभूतियों से आप्लावित कर देते हैं।

यों तो कविता मात्र में बिम्ब-विधान का महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर काव्य-नाटक में नाटकीय क्रिया-व्यापार की गत्वरता को मूर्त करने में बिम्बावली का विशेष महत्त्व होता है। काव्य-नाटक में सूक्ष्म भावनाओं और मनःस्थितियों को चित्रित करने के लिए स्थूल तथा मूर्त आधार की आवश्यकता पड़ती है। सूक्ष्म भावनाओं की स्पष्ट अभिव्यंजना एवं पाठकों की अनुभूति के लिए यह आवश्यक है कि वह उनको कुछ मूर्त आधार प्रदान करे। इसके लिए वह काव्य-चित्रों या बिम्बों की सहायता लेता है। बिम्ब-विधान काव्य-नाटक के विषय को एक ओर मूर्त और ग्राह्य बनाता है तो दूसरी ओर उसके रूप को संक्षिप्त और दीप्त। परन्तु जिस बिम्ब में ऐन्द्रिय और मानसिक संवेदनाओं को उभारने वाले मूर्त आधारों का जितना सुनियोजित, मौलिक और साभिप्राय संयोजन होता है, वह उतना ही अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

(ख) प्रतीक—अभिधात्मक भाषा जब मनोभावों को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ हो जाती है; तब प्रतीक की योजना होती है। विज्ञान और दर्शन के अर्थ कोशगत होते हैं। अभिधा से पृथक् उसका कोई अर्थ नहीं होता, पर कविता में यह बात नहीं होती। यहाँ अभिधार्थ तो मात्र पंखुड़ियाँ हैं जिसके नीचे सूक्ष्म या प्रतीकार्थ के पराग छुपे पड़े होते हैं। जब कवि किसी व्यक्तित्व की विराटता, अगाधता एवं गम्भीरता दिखाना चाहता है, तो इसके लिए 'सागर' प्रतीक रूप में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'भौंरा' अस्थिरचित्त प्रेमी का, 'सोने का साँप' काम का, 'रक्तकमल' प्रेम का प्रतीक है। स्पष्ट ही, प्रतीक का प्रयोग उस गोचर वस्तु के लिए होता है जो अपने आकृतिमूलक या प्रकृतिमूलक गुणों के साम्य के आधार पर सूक्ष्म भावों को लक्षित या व्यंजित कर सकती है। अरबन ने प्रतीक की परिभाषा देते हुए कहा है, "कला-सम्बन्धी प्रतीक सदैव अनुभूति का गोचर या कल्पित विषय होता है जो किसी मानसिक विषय-सामग्री की ओर संकेत करता है, या उसे स्वयं में समाहित रखता है।"

वस्तुतः प्रतीक और कुछ नहीं, वरन् हमारी अनुभूतियों का ऐन्द्रिय या मूर्त आधार है। इस प्रकार प्रतीक स्थूल वस्तुगत आधार से सूक्ष्म मानसिक अर्थों को, जो ज्यादा बड़ा है—जोड़ने का काम करता है। यहाँ दो संदर्भों के संयोग में, एक सन्दर्भ से सम्बन्धित अनुभूतियाँ दूसरे में स्थानान्तरित हो जाती हैं।

प्रतीकों का चयन प्रायः जीवन और जगत् के प्राकृतिक पौराणिक ऐतिहासिक आदि क्षेत्रों

से किया जाता है। यहाँ यह याद रखने की आवश्यकता है कि प्रतीक का सौन्दर्य इस बात में है कि वह युगानुभूति की अभिव्यक्ति में सक्षम हो। उनका आधार भी बिम्बों की भाँति जीवनगत अनुभव और यथार्थ जीवित सत्य ही हैं।

बिम्ब-योजना की ही भाँति काव्य-नाटक में प्रतीक-योजना भी महत्त्वपूर्ण है। काव्य-नाटक में संवेदनाओं को अंकित करने के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है और काव्यगत प्रतीक किसी सिद्धान्त या विचार का व्यंजक नहीं होता, बल्कि गूढ़ संवेदनाओं का वाहक होता है। अतः प्रतीको की यहाँ स्पष्ट आवश्यकता है।

(ग) छन्द—रिचर्ड्स ने काव्य में लय और उसके नियमित संरूप छन्द को महत्त्वपूर्ण स्वीकारा है। उन्होंने लय को आकांक्षा अथवा प्रत्याशा और आवृत्ति के आधार पर पारिभाषित किया है। वे लय को न तो ध्वनियों की व्यवस्था मात्र मानते हैं और न छन्द को कोई बाहरी ढाँचा भर।

एक पंक्ति पढ़ने अथवा सुनने के बाद पाठक अथवा श्रोता में वैसे ही स्वर, वैसी ही गति, वैसी ही समाप्ति के लिए जो आकांक्षा उदित होती है, उसका प्रभाव ही लय और छन्द कहलाता है। रिचर्ड्स ने काव्य में छन्द की अनिवार्यता को स्वीकारते हुए लिखा है, "छन्द सर्वाधिक कठिन और सर्वाधिक सूक्ष्म कथनों के लिए करीब-करीब अनिवार्य साधन-सा है।"

काव्य-नाटक का पूरा विधान छन्दोमय होता है। पर यहाँ विचारणीय यह है कि इसमे कौन से छन्द की योजना की जाए कि वह अधिक प्रेषणीय और प्रभःविष्णु हो सके। अतुकान्त और तुकान्त छन्दों की प्रवृत्ति आज प्रायः नहीं पायी जाती। इसके स्थान पर मुक्त छन्द ज्यादा उपयुक्त है क्योंकि काव्य-नाटक में तीव्र मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए लयात्मक छन्द की अपेक्षा होती है। स्पष्ट ही तुकान्त छन्द में अन्त्यानुप्रास की योजना के कारण लय के लिए अवकाश नहीं होता। अतुकान्त छन्दों में तुक न होने पर भी मात्राओं का जो बन्धन लगा रहता है, उससे नाटककार की स्वतन्त्रता में कुछ बाधा पड़ती है और वह उसकी योजना भावानुकूल नहीं कर पाता। ऐसे ही क्षण मे काव्य-नाटककार को मुक्त छन्द की ओर झुकना पड़ता है। वस्तुतः मुक्त छन्द वह विषम छंद है जिसके चरणों की संख्या और विस्तार पूर्ण अनिश्चित और स्वतन्त्र होते है। केवल लयाधार आद्योपांत एक-सा रहता है। भावों के अनुसार लय में परिवर्तन की इसमें विशेष सुविधा रहती है। यह परिवर्तन भावानुरूप शब्दों के चयन और उसमें उतार-चढ़ाव के द्वारा किया जाता है। मूलतः छंद होते हुए भी इसकी प्रकृति मुक्त होती है। उसके प्रत्येक चरण में लय होती है। इसी लयात्मक विशेषता के कारण काव्य-नाटक मे मुक्त छंद की योजना सबसे उपयुक्त जान पड़ती है।

(५) अभिनेयता

किसी नाटक की अभिनेयता उसके प्रयोग के द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है। जिस नाटक के अभिनय में सामाजिक की रुचि आद्योपांत बनी रहती है और जिसे बार-बार देखने के लिए वह लालायित रहता है, वही नाटक अभिनेय माना जाता है। नाट्यकार की सफलता की पूर्ण परिणति उसकी कृतियों के प्रदर्शन मात्र में ही परिलक्षित होती है।

जिस रचना द्वारा बाह्य संघर्ष के साथ-साथ सात्त्विक भावों का अभिनय दिखाया जा सके, वह श्रेष्ठ रचना है। बाह्य संघर्ष को आन्तरिक संघर्ष से एकदम पृथक् नही किया जा सकता। इस परिभाषा के आधार पर काव्य-नाटक स्पष्ट ही अभिनेय विधा है। सात्त्विक भावों के अभिनय के लिए अभिनेता का भावुक और कुशल होना अपेक्षित है, तभी स्वर भंगिमा तथा संयत, सूक्ष्म

भावाभिव्यंजक चेष्टाओं द्वारा काव्य-नाटक की मूल अनुभूतियों को वह सहृदय-संवेद्य रूप में सम्प्रेषित कर सके। इधर रेडियो के कारण भी काव्य-नाटक के विकास में यथेष्ट सहायता मिली है। यहाँ श्रव्य भी दृश्य बनाया जा सकता है। ध्वनियों के माध्यम से रंगमंच के सर्वथा प्रतिकूल दृश्यों, यथा—बादलों की गड़गड़ाहट, झंझावात की भीषण ध्वनि, सरिता की कल-कल आदि को आसानी से बिंबित किया जाता है। स्थूल रंगमंच के बजाय सहृदयों की ग्राहिका कल्पना ही यहाँ रंगमंच का कार्य करती है।

स्पष्ट ही, यदि काव्य-नाटक को साहित्य-प्रांगण में अपने को जीवित रखना है, तो उसे अपनी अभिनेयता सिद्ध करनी ही होगी, क्योंकि नाटक केवल अभिनीत होकर ही अपनी प्राणवत्ता को प्राप्त कर सकता है। यह और बात है कि कुछ ऐसे भी काव्य-नाटक हैं जो मात्र पाठ्य ही हैं जिनको रंगमच पर प्रस्तुत करना प्रायः संभव नहीं है।

(६) उद्देश्य

साहित्य की अन्य विधाओं की तरह नाटक के उद्देश्य से भी हमारा तात्पर्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। हमारे यहाँ प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि धर्म अर्थ और काम की सिद्धि ही नाटक की कथावस्तु के फल अथवा कार्य हैं, अर्थात् नाटकों से इन तीनों अथवा इनमें से किसी एक या दो की सिद्धि होना आवश्यक है। जिस नाटक मे इनमे से किसी एक की भी सिद्धि न हो, वह नाटक ही निरर्थक है। काव्य-नाटक की रचना भी इन्हीं उद्देश्यों को पूर्ति के लिए होती है, पर उसका प्रथम उद्देश्य है—अन्तर्जीवन के संघर्षों एवं भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करना। कारण है कि यहाँ राग-तन्तुओं पर मादक प्रभाव डालने वाले कथानक का चयन किया जाता है। समासतः काव्य-नाटक अपने आन्तरिक गठन के अनुसार नितान्त सतही सामयिक समस्याओं और उसके कामचलाऊ समाधानों को उद्देश्य के रूप में ग्रहण न करके जीवन और जगत् की मूल समस्याओं, चिरन्तन संदेशों और उदात्त आदर्शों को अपना प्रतिपाद्य बनाता है जिनमें प्राचीन और अर्वाचीन मानवीय सन्दर्भों और समस्याओं की सीमारेखाएँ एक-दूसरे से घुल-मिल जाती हैं। स्पष्ट ही इसके उद्देश्य की महत्ता इस बात में है कि वह कथित न होकर व्यंजित हो।

व्याख्याता, हिन्दी विभाग
मुरारका कालेज,
सुलतानगंज

नाट्य-रचना के सन्दर्भ में नाट्य-समीक्षा : सीमाएँ और सम्भावनाएँ

□

डॉ० श्यामधर तिवारी

किसी रचना के गर्भ से ही उसकी समीक्षा के बीज खोजे जा सकते हैं। उससे बेहतर कोई अन्य आपाततः आरोपित माध्यम रचना को सार्थक मूल्य प्रदान नहीं कर सकता। नाटक की समीक्षा के लिए भी यही बात चरितार्थ होगी।

नाट्य-लेखन बड़ा कठिन कार्य है। नाट्य-सर्जन-काल में लेखक अपने ऊपर उमड़ती-घुमडती समस्याओं, तनावों एवं अन्तर्द्वन्द्वों से गुजरता है। उसकी यही पीड़ा रचना की आंतरिक संरचना एव अनुभूत्यात्मक संवेदना की सम्पृक्तता और तद्रूप रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण के शिल्प-तकनीक को लेकर होती है।

नाट्य-रचना की गर्भस्थ प्रक्रिया एवं विकास-काल में रचनाकार स्वयं कई चुनौतियों-परीक्षणों से संचालित होता है। उसकी सर्जनात्मक चुनौती अपनी ही नजरों में दो स्तर पर होती है—

१. अपने अन्तस् की तीव्र अनुभूतियों को लेकर।

२. समाज तक अपनी बातों को सम्प्रेपित करने के माध्यम को लेकर।

प्रथम का सम्बन्ध रचना मे वर्णित सामाजिक जीवन मे घटित-अघटित घटनाओं की यथार्थता की विश्वसनीयता से है और द्वितीय का सम्बन्ध रचना के बाह्य ढाँचा अथवा रूप-संरचना (फार्म एण्ड स्ट्रक्चर) से है जिसके माध्यम से वह अपनी बात को समाज तक प्रेपित करता है।

इस संयोजन-काल में (आंतरिक एवं बाह्य रूप-संरचना के संयोजन-काल में) नाट्यकार स्वयं अपने अन्तस् द्वारा निर्मित समीक्षा-कसौटी पर नाट्य-रचना को सँवारता-तराशता है। इस अवधि-विशेष में उसके मन मे कई प्रश्न उन्मथित होते रहते है। यथा— क्या वह अपनी रचना मे जो कुछ रूपायित-प्रतिबिम्बित करना चाह रहा है, उसे उसी रूप में प्रतिफलित कर पा रहा है जिस रूप में वह अनुभव कर पा रहा है? क्या उसके निर्माण को समुचित वातावरण-परिवेश-सदर्भ मिल रहा है? क्या वह कथा-विन्यास मे अपनी अनुभूतियो एवं मान्यताओं की प्रतिस्थापना के साथ पात्रों के प्रति न्याय कर पा रहा है? क्या आन्तरिक संरचना के स्तर पर उसके द्वारा मंचीय व्यवस्था के लिए जो मंच उपकरण उपयोग-प्रयोग में लाये गये हैं, वे नाटक के सन्दर्भों से मेल खाते हैं या अनावश्यक श्रृङ्गार मात्र तो नहीं हैं? क्या दर्शकों-पाठकों पर इसका अभीष्ट प्रभाव पड़ेगा? ये सारे प्रश्न ही नाटक को समग्रतः सार्थकता प्रदान करते हैं। जीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावो के स्पन्दन की अभिव्यक्ति की मात्रा जितनी तीव्र होगी, नाटक का शिल्पात्मक रूप भी उतना ही प्रभावात्मक होगा।

प्रश्न उठता है कि क्या नाट्य-संरचना के दौरान नाटककार की मूल संवेदना से जुड़कर, उसके सही सन्दर्भ को पकडकर, उसकी रचना-प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर, नाट्य-समीक्षा उपयुक्त एवं सार्थक होगी? अथवा किसी बँधी बँधायी परम्परागत शास्त्रीय नाट्य-समीक्षा जिसमें रचना की

मूलात्मा की जगह तात्त्विक विश्लेषण को ध्यान में रखा जाता है) को आधार बनाकर मूल्यांकन अभीष्ट होगा।

इस परिप्रेक्ष्य में मतैक्य सम्भव नहीं है। एक का मत होगा कि शास्त्रीय परम्पराओं के उल्लंघन से नाटक अपने सुगठित रूप में नहीं आयेगा और दूसरे का मत होगा कि नाटक की मूल संवेदनाओं और उसकी आन्तरिक सर्जनात्मक सम्भावनाओं के विकास में ही नाटक का मूल्यांकन अभीष्ट होगा। निश्चय ही इस मूल्यांकन-पद्धति में नाट्य-तत्वों का बन्धन ढीला होता है। किन्तु यह बात किसी को भी अस्वीकार नहीं होगी कि जितनी भी ऐसी रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं, उन्हीं पर समीक्षकों की दृष्टि आज भी लगी हुई है, अब भी उसकी सम्भावनाओं को लेकर विविध कोणों से मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन जारी है। उदाहरणार्थ—प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु' जितनी सरगर्मियों से उनके जीवन-काल में समीक्षा के विषय बने हुए थे, स्वयं प्रसाद की आलोचना-प्रत्यालोचना की चर्चा से—रंगमंचीय सम्भावनाओं से—जुड़े हुए थे, उतने ही वर्तमान समय में भी समीक्षकों को अपनी प्रस्तुति की सम्भावनाओं से आकृष्ट करते रहे हैं। नाटक अपने आप में क्या अन्तर्निहित किये हुए है, यह अलग बात है, किन्तु समीक्षकों की दृष्टि में उसकी मूल्यवत्ता-सम्भाव्यता सदैव बनी रहती है, यह सत्य तथ्य है। किसी कृति की समीक्षा, सम्भव है, किसी समीक्षक के द्वारा सर्वप्रथम प्रस्तुत हुई हो, किन्तु वह समीक्षा अन्तिम नहीं होती, उसके अन्तर्गत अभिव्यक्त विचार अन्तिम नहीं होते। यह विन्दु ही कृति के भीतर छिपी हुई रचनाशीलता—सम्भाव्य मूलवत्ता—को परखने का द्वार खोलता है।

समीक्षक का दायित्व एक मध्यस्थ का होता है—कृति, कृतिकार तथा पाठकों के मध्य। उसका निष्पक्ष, सहृदय एवं पूर्वग्रहरहित होना—कृति विशेष के प्रति न्याय की अपेक्षा में—आवश्यक है, यह तथ्य सर्वविदित है, किन्तु कितनी कृतियाँ इन दृष्टियों के अभाव में समीक्षकों के कोडों की मार खाकर लुंज-पुंज रूप में अभिव्यक्त हुई हैं, किसी नाटक-अध्येता से छिपी नहीं हैं। नाट्य-समीक्षक का दायित्व दुहरा होता है—एक तो कृतिगत वैशिष्ट्य से, तो दूसरा—रंगमंच से जुड़े हुए सम्पूर्ण समूह के एकीकरण से।

वास्तव में नाट्य-समीक्षक की स्थिति एक टार्च की भाँति होनी चाहिए जो अपनी आंतरिक संवेदना-सेल की शक्ति से नाट्य-सम्बन्धी सभी पक्षों को प्रकाशित-उद्‌घाटित करे। वह सभी की समस्याओं-सीमाओं को अन्तर्भुक्त-आत्मसात् करके स्पष्ट करे। सभी पक्ष अपनी स्वतन्त्रता—सीमा से परिचित होते हैं, तदनुरूप परिचालित-संचालित होते हैं, जबकि समीक्षक समग्रतया सभी के दायरे से गुजरता है। समीक्षक की स्थिति इस प्रकार से होती है—
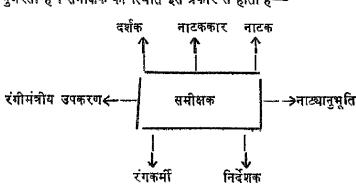
एक बात और है कि छिछली आलोचना से न तो कृति की महत्ता ही प्रतिपादित होती है

७

और न ही उसकी मूल्यवत्ता नष्ट होती है अपितु गम्भीर आलोचकों की अतर्दृष्टि—गम्भीर गवेषणा—की आवश्यकता उसे शाश्वत बनी रहती है।

समाज की कतिपय पृच्छाएँ होती हैं। उन पृच्छाओं का प्रतिफलन नाटककार की इच्छा मे होता है। ये इच्छाएं दर्शकों तक किस रूप में—किस तरह—सम्प्रेषित हों, उनकी मूक पृच्छाओं का समाधान कैसे हो, इसे प्रत्यक्षीकृत कर उन्हें परितुष्ट करना ही उसका अभीष्ट होता है।

इस परिप्रेक्ष्य में नाटककार की प्रतिभा, कल्पना, संवेदना तथा उसकी नाट्य-संरचना के तथ्यों-तत्त्वों का निदर्शन कराना ही नाट्य-समीक्षक का ध्येय होता है। ऐसा करते समय वह यह भी देखता है कि क्या नाट्य कथा में अभिव्यक्त समस्याएँ तज्जन्य अनुभूति की सम्पृक्तता, पात्र, उनकी भाषा, उनके संदर्भित संवाद-वातावरण, प्रतीक-बिम्ब—अपनी समग्रता में रंगमंचीय उपकरण—मंच-सज्जा, रूप-सज्जा, वेशभूषा, संगीत, प्रकाश, अंक-विधान, दृश्य-बन्ध—आदि के साथ परस्पर संश्लिष्ट-संयोजित होकर रचना को सार्थक मूल्य प्रदान करती हैं? इस मूल्यांकन-पद्धति में समीक्षक की जागरूकता अपेक्षित है। उसकी एक भी दृष्टि-चूक रचना की समग्रता को खण्डित कर सकती है।

यह तथ्य विचारणीय है कि कभी भी नाट्य-रचनाएँ एक-जैसी नही होती—रूप-संरचना, संवेदना, सन्दर्भ और ऐतिहासिकता के स्तर भी। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु' 'ध्रुवस्वामिनी'; मोहन राकेश के 'लहरों के राजहंस', 'आषाढ़ का एक दिन' और सेठ गोविन्ददास का ''हर्ष''—ये सभी ऐतिहासिक नाटक हैं। यदि इन सभी का मूल्यांकन एक ही पद्धति से किया जाये और नाटकों की समीक्षा की सार्थकता-मूल्यवत्ता की अपेक्षा की जाये, तो सब धान-बाईस-पसेरी या एक ही लाठी से सभी को हांकने जैसी कहावत के रूप में अपने-आप में समीक्षा का कोई मूल्य नही होगा। यहाँ तक कि एक ही रचनाकार द्वारा रचित दो नाटकों में—संरचना-प्रक्रिया—रूप-संगठन में पर्याप्त अन्तर होता है। अस्तु, एक नाटक की समीक्षा के मानदण्ड दूसरे नाटक पर लागू करना समीक्ष्य नाटक की मूल आत्मा की हत्या करना है।

इतिहास को उपजीव्य बनाकर लिखे जाने वाले नाटकों और समसामयिक समस्याओं, विसंगतियों एवं अन्तस् के तनावों को आधार बनाकर लिखे जाने वाले नाटकों की मूल प्रकृति, आंतरिक संरचना और रूप-संरचना में भी पर्याप्त भिन्नत्व होता है। इतिहास के क्रोड़ में जाकर नाटककार इतिहास की युगसीमा में बंधकर, ऐतिहासिक सम्भावनाओं की निष्पत्ति भले ही युगानुरूप परिस्थितियों में प्रक्षेपित कर दे, दर्शकों को सन्तोष प्रदान कर दे, किन्तु वर्तमान की समस्याओं, तनावों एवं जटिलताओं को प्रस्तुत करना नाटककार के लिए जोखिम-भरा कार्य है, क्योंकि दर्शक समाज के अन्तर्बाह्य से परिचित होता है। सब कुछ उसके लिये खुले अध्याय जैसा होता है, उससे कुछ भी नही छिपाया जा सकता। दर्शक पहले सामाजिक व्यक्ति होता है, प्रेक्षक या कुछ और बाद में।

समसामाजिक सन्दर्भों के नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करना और दर्शकों का विश्वास अर्जित करना नाटककार का प्रथम दायित्व व कर्त्तव्य है और इसी मे उसकी सफलता भी है और उसकी सर्जनात्मक अनुभूतियों का प्रतिफलन भी।

उचित रंगमंच-व्यवस्था का संकेत किसी भी नाट्य-मंचन में पर्याप्त भूमिका रखता है। नाटककार की सूझबूझ—संवाद, भाषा, मंच-सज्जा—उपकरण, पात्र, रंग-निर्देश, प्रकाश, संगीत, दृश्य बन्ध—सम्पूर्ण रूप में रंगमंच की सेटिंग की प्रभावात्मकता में है। निर्देशक एवं रंगकर्मी पात्रों का, हर स्तर पर परस्पर सहयोग की भावना नाटक की सफलता के प्राण हैं। सारे नाट्य-व्यापारों को प्रभावशाली ढंग से प्रतिबिम्बित करना उनका प्रमुख धर्म होता है। सामाजिक दर्शकों की सहिष्णुता

नाटक की मूल संवेदना से जुड़ने में है। इन सारी प्रक्रियाओं के मूल में ही नाटक का विश्लेषण-मूल्यांकन सम्भव है। नाटक के चौखट मे सम्पृक्त नाटककार के संवेद्य-भावों एवं उसकी अन्तर्भुक्तियो को समझना-जानना ही नाटककार की भावना से जुड़ना है—उसकी मान्यताओं-अनुभूतियो से जुडना है। जुड़ने की प्रक्रिया में ही नाटक की सार्थकता है। यही वह स्थल-शीर्षबिन्दु है जहाँ पर नाटककार नाटककार नहीं होता, दर्शक दर्शक नहीं होता, पात्र पात्र नहीं होता। सभी एक ही परिवेश के अन्तर्सम्बन्धों से उत्पन्न समस्याओं-जटिलताओं के अंग होते हैं।

दर्शकों की मनोवृत्ति कुछ बदली-सी है—नाट्य-दर्शन के क्षेत्र में। सिने-जगत् का प्रभाव ही इसके मूल में है। विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर, जिन्हें रंगमंच और नाट्य-रचना का परिज्ञान है—सामान्य दर्शक की नजरों में रंगमंच का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से भले ही पड़े, प्रत्यक्षत: वह पात्रों की मन:स्थितियों, तनावों, क्रियाकलापों एवं प्रखर संवादों की प्रभावात्मकता से प्रभावित होता है। सामान्य दर्शक रंगमंचीय बारीकियों—बौद्धिक कलाबाजियों से अपरिचित ही रह जाता है। यह लक्ष्य करने की बात है कि समसामयिक सन्दर्भ में जो नाटक मंचित किये जा रहे हैं, वे बड़े-बडे महानगरों—दिल्ली, इलाहाबाद, गोरखपुर, कलकत्ता या अन्य शहरों एवं कालेजों तक ही सीमित है। उनका रंगमंचीय प्रयोग जैसा हो रहा है, उसके प्रस्तुतीकरण को पहचाना जा रहा है, किन्तु आम जनों से उसका कोई सम्बन्ध नही होता है। आम दर्शक को तो अब भी चार तख्ते, चार पर्दे और चार पात्रों के माध्यम से नाटक देखने का सौभाग्य मिलता है। अब भी वह रामलीला, रासलीला या अन्य प्रचलित नाटकों से ही परितोष प्राप्त करता है। यह सत्य है कि दर्शक रंगमंचोय बोध से अपरिचित है, किन्तु यदि बार-बार उसके सम्मुख किसी नाटक की आत्मा से उसे परिचित कराया जाता है, तो कोई वजह नहीं है कि वह इनसे प्रभावित न हो। यह कार्य श्रमसाध्य एवं अर्थसाध्य है, किन्तु असम्भव नहीं।

नाटक के प्रस्तुतीकरण एवं मंचीय उपकरणों के उपयोग में भी सैद्धान्तिक-व्यावहारिक बाधाएँ सम्भव हैं। नाटककार अपनी भावना के प्रतिस्थापन के अनुरूप मंचसज्जा, दृश्य-बन्ध, प्रकाश, संगीत, ध्वनि-प्रभाव, संवाद-प्रयोग, वेशभूषा, पात्रों की अवतारणा, अंग-संचालन, शब्दों के आरोह-अवरोह, बिम्ब, प्रतीक सम्बन्धी रंगनिर्देशों को इंगित करता है। नाट्य-मंचन में यह आवश्यक भी है कि नाटककार के निर्देशों का कड़ाई से अनुपालन हो, उनके मनस्तत्त्वों-भावों का समादर हो। इस मौलिक प्रतिस्थापना की रक्षा के लिए मंचन-काल के दौरान कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ-समस्याएँ आती हैं। यहीं पर नाटककार से निर्देशक अपने को 'डिफ़र' करता है। वह उतना ही लेता है—भावों, संवादों, परिवेश—मंच-उपकरण को जितना इनसे नाट्य-प्रस्तुति में सहायता मिलती हो, क्योंकि उसे उस काल-विशेष में दो पाटनों—नाटककार की मूलभावना—दर्शकों के परितोष से गुजरना पड़ता है। अन्त में उसका झुकाव दर्शकों के सन्तुष्टीकरण—बहुत-कुछ स्वतुष्टीकरण—से होता है। यहीं वह नाटककार से स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

निर्देशक के पश्चात् रंगकर्मियों—अभिनेताओं को तो और भी परीक्षण-काल से गुजरना पड़ता है। उसका दायित्व त्रिकोण—नाटककार, निर्देशक, दर्शक—में बँधा रहता है। वह नाटक की संवेदना को ग्रहण कर उसे दर्शकों तक पहुँचाता है। इस मध्य वह कुछ जोड़-तोड़ चाहता है—परिवर्तन की अपेक्षा करता है। प्रश्न है कि नाट्य-लेखन से लेकर नाट्य-मंचन एवं समीक्षण तक स्वतन्त्रता किसकी, किसके लिए और कितनी सीमा तक के लिए। अन्त में, हम पाते हैं कि सभी—नाट्यलेखक, निर्देशक, अभिनेता—का लक्ष्य अपनी-अपनी प्रतिभाओं से दर्शको को प्रभावित करना है। इस विकासक्रम में प्रथम सत्ता नाटक की है और अंतिम सत्ता सामाजिक दर्शक की। निर्देशक-

अभिनेता इन दोनो के भाव सम्प्रेषण की साक्षात् कडी हैं समीक्षक का उदार निष्पक्ष दृष्टिकोण इन सब के एकीकरण में है। इन सबकी सीमाओं से मूल लक्ष्य को प्राप्त कर पाठकों को परिचित कराने में है।

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
गढ़वाल विश्वविद्यालय परिसर,
पौड़ी (गढ़वाल) उ० प्र०
पिन—२४६ ००१

व्यक्तिवाचक संज्ञा : तुलनात्मक भाषाविज्ञान के संदर्भ में

डॉ० राजमल बोरा

व्यक्तिवाचक संज्ञा की भाषा को पहचानने का प्रयास करना अपने आप में भाषा की खोज करना है। व्यक्तिवाचक संज्ञा की भाषा एक नहीं हो सकती। इस शब्द-समूह में अनेक भाषाओं का मिश्रण है। इस मिश्रण को सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा भाषिक आदान-प्रदान कहना चाहिए। भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने में यह शब्द-समूह उपयोगी है। प्रस्तुत में इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का शब्द-समूह चाहे वह किसी भाषा से--नामकरण की दृष्टि से कहना चाहिए---सम्बन्ध रखे, उसका उपयोग अन्य भाषा बोलने वालों को भी करना पड़ता है। इस नाते यह शब्द-समूह अपने आप में किसी भाषा-विशेष से सम्बन्ध रखते हुए भी इसे उन सब भाषाओं के शब्द-समूह के अन्तर्गत रखना पड़ता है जिनके अन्तर्गत उनका उपयोग होता है। संक्षेप में, यह मानना चाहिए कि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं की भाषा सार्वजनीन है। बात यह है कि हम व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का अनुवाद नहीं करते। देशी नाम हो या विदेशी नाम हो, किसी स्थान का नाम हो या व्यक्ति का नाम हो, हमारा प्रयास यही रहता है कि हम उस नाम को उसी रूप में लिखें, उसी तरह का उच्चारण करें और व्यवहार भी उसी तरह का हो। इस व्यवहार से अन्य भाषा-भाषियों को कठिनाइयों का अनुभव होता है। इस कठिनाई के कारण न चाहने पर भी उच्चारण-लेखन तथा व्यवहार की सुविधा के लिये अन्य भाषाभाषी लोग इस शब्द-समूह में ध्वनि-परिवर्तन कर देते हैं। इस परिवर्तन के आधार पर भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

प्रस्तुत में हम नामकरण पर विचार नहीं कर रहे है। हम मानकर चलते हैं कि हमें इस प्रकार के नामो का शब्द-समूह उपलब्ध है। महाराष्ट्र के भौगोलिक नामों को महाराष्ट्र की भाषा से सम्बद्ध मानना चाहिए। इसी तरह कर्नाटक के भौगोलिक नामों को कर्नाटक की भाषा से और अन्य-अन्य प्रदेशों के नामों को अन्य-अन्य प्रदेशों की भाषा से सम्बद्ध माना जा सकता है। भौगोलिक नामों को अन्य नामों की अपेक्षा प्राचीन मानना चाहिए। उदाहरण के लिए—नदी, पहाड़, गाँव, नगर, तीर्थ-स्थान, झील, सरोवर, वन, आदि-आदि। व्यक्ति नामों की अपेक्षा भौगोलिक नाम स्थूल रूप में अध्ययन के लिए— तुलनात्मक भाषाओं का अध्ययन करने के लिए अधिक सुविधाजनक हैं। वैसे तो सभी प्रकार के नामों के लिए यह बात कही जा सकती है। यहाँ हम भौगोलिक नामों को सुविधा के लिए— उदाहरणो के माध्यम से बात को स्पष्ट करने के लिए— ले रहे हैं। भाषा का भूगोल से अटूट सम्बन्ध है। भाषा-भेद का कारण भूगोल है। स्थान बदलने से भाषा बदलती है, इस बात को सभी जानते हैं। इस नाते भी भौगोलिक नामों के साथ स्थानीय भाषा को अधिक सम्बद्ध मानना चाहिए। और तो और, क्या स्वयं प्रदेशों के नाम, भाषाओं के नाम भौगोलिक नहीं हैं? इन प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक रूप मे ही देना होगा। प्रत्येक भाषा की अपनी भौगोलिक

सीमाएँ हैं। इन सीमाओं में ही भौगोलिक नाम को भाषा-विशेष के स्तरीय रूप से सम्बद्ध मानना चाहिए।

व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के भाषागत अर्थ पर हमारा ध्यान नहीं जाता और न ही हम उनका अर्थ जानने का सहज ही में प्रयत्न करते हैं। नाम तो बस नाम होता है और जिस किसी के लिए उस नाम का उपयोग किया गया है, हम उसी के लिए बिना अर्थ जाने ही उसका उपयोग करने लगते हैं। नाम की भाषा—मूलभाषा—जानने का हम सहज ही मे प्रयत्न नहीं करते। यदि नामवाची शब्दों का अर्थ जानने की जिज्ञासा ही हो तो फिर हमें नामवाची शब्दों की मूलभाषा पहचानने का प्रयत्न करना पड़ता है। यह प्रयत्न भाषिक खोज है।

महाराष्ट्र के कुछ गाँवों और नगरों के नाम—

मराठी	हिन्दी	मराठी	हिन्दी
मुंबई	बम्बई, बाम्बे (अंग्रेजी)	अंजिठा	अजन्ता
		वेरूळ	एलोरा, एलुर
पुणे	पूना	परळी	परली
माजलगांव	मजलेगांव	कळंब	कलम
अंबेजोगाई	अंबाजोगाई	नागपूर	नागपुर
कोल्हापूर	कोल्हापुर	जळगांव	जलगांव
यवतमाळ	यवतमाल	धुळे	धूलिया
ठाणे	ठाना	भुसावळ	भुसावल
चन्द्रपूर	चांदा	आष्टी	अष्टी

ये सब नाम तो महाराष्ट्र के है। महाराष्ट्र से बाहर के इसी प्रकार के नाम—

नवी दिल्ली	नई दिल्ली (न्यू डेल्ही—अंग्रेजी)		
पाटणा	पटना	चंदिगढ़	चंडीगढ़
इंदूर	इंदौर	ग्वाल्हेर	ग्वालियर
झाशी	झांसी	हैद्राबाद	हैदराबाद
बेदर	बीदर	उदेपुर	उदयपुर
आग्रा	आगरा	तिरुपती	तिरुपति

हम ध्यान से मराठी तथा हिन्दी के समाचार-पत्र देखें, तो इस प्रकार के उदाहरणों की संख्या बढ़ती जाएगी। मूर्द्धन्य 'ळ्' ध्वनि हिन्दी में नहीं है। अतः जिन मराठी नामों में 'ळ्' ध्वनि का प्रयोग हुआ है, उसके स्थान पर हिन्दी में पार्श्विक 'ल्' ही लिखा जायेगा। मराठी में मूर्द्धन्य ध्वनियों का प्रयोग हिन्दी से अधिक है। मूर्द्धन्य अनुनासिक 'ण्' मराठी में जितना सुरक्षित है, उतना हिन्दी में नहीं। परिणाम यह है कि 'पुणे' का 'पूना', 'ठाणे' का 'ठाना' नामों से मराठी के 'ण्' का परिवर्तन 'न्' में हुआ है। यह परिवर्तन एक ओर का परिवर्तन नहीं है। इस तरह हिन्दी के 'पटना' का मराठी में 'पाटणा' हो गया है। ये उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि मराठी में मूर्द्धन्य अनुनासिक ध्वनि हिन्दी की तुलना में अधिक सुरक्षित है। स्वयं ब्रजभाषा में हम देखते हैं कि 'बाण' का 'बान' हो गया। ब्रजभाषा में मूर्द्धन्य 'ण्' ध्वनि नहीं पाई जाती। उसका स्थान 'न्' ने ले लिया है। इसलिए हिन्दी में भी (मानक हिन्दी में) मूर्द्धन्य 'ण्' के व्यवहार में कमी आई है। हिन्दी तथा मराठी के क्रियारूपों को देखें, तो बात स्पष्ट हो जायेगी। उदाहरण के लिए उठना 'उठणे', जाना 'जाणे', हँसना 'हसणे', रहना 'राहणे', लिखना 'लिहिणे' गाना 'गाणे',

रोना 'रडणे', सीखना 'शिकणे'···आदि। मूर्द्धन्य ध्वनि 'ण्' के सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है—

> "मराठी, सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी सभी णकार-बहुला हैं, पर यह सिलसिला कश्मीर तक नहीं पहुँचता, न सिन्धु नदी के पार ईरान या अफगानिस्तान की भाषाओं में इस ध्वनि का व्यवहार होता है। आर्य परिवार की भाषाओं में इसका व्यवहार सीमित है, हिन्दी प्रदेश में केवल एक बांगरू भाषा (हरियाणा में) है जिसमें इसका व्यवहार होता है। द्रविड़ भाषाओं में इसका व्यवहार अधिक व्यापक है। तमिल, मलयालम, कोत, तोद, कन्नड़, कोडगु, तुलु भाषाओं में इसका व्यवहार होता है। ये सब दक्षिण समुदाय की भाषाएँ हैं। जो अन्य भाषाएँ हिन्दी-भाषी क्षेत्र के पड़ोस में हैं, उनमें इसका व्यवहार या तो बिल्कुल नहीं होता या कम होता है। इससे निष्कर्ष तो यह निकलता है कि जिस भाषा-केन्द्र ने भी इस ध्वनि का प्रसार किया, वह मध्यदेश से दूर या तो उत्तर-पश्चिम में रहा होगा या दक्षिण पश्चिम में। इस ध्वनि के व्यवहार को लेकर न केवल आर्यभाषाएँ, वरन् द्रविड़ भाषाएँ भी विभाजित हैं। यह ध्वनि—नाग, कोल आदि किसी अन्य आर्येतर भारतीय परिवार में नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन समुदायों की अपेक्षा किसी समय आर्यों से द्रविड़ों का सम्पर्क अधिक था। वह प्रभाव वैदिक भाषा तथा आधुनिक उत्तर-पश्चिमी भाषा में दिखाई देता है, इससे अनुमान होता है कि णकार-प्रसार के केन्द्र उत्तर-पश्चिम में थे।"

सच तो यह है कि णकार के प्रयोग का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन होना चाहिये। मराठी में इस ध्वनि के प्रयोग का एक कारण यह भी है कि यह द्रविड़-परिवार के पड़ोस में है। इस मूल तथ्य को जान जाएँ तो यह बात समझ में आ सकती है कि 'पुणे' का 'पूना' क्यों हो गया। णकार भारत के उत्तर-पश्चिम में है, किन्तु जैसे-जैसे हम पूर्व की ओर जाएँ, इसका व्यवहार कम ही नहीं, गायब होता हुआ दीखता है। बंगला में णकार का उपयोग होता ही नहीं।

णकार की तरह हम 'पुणे' के 'ए' स्वर पर विचार कर सकते हैं कि हिन्दी में 'ए' का स्थान 'आ' ने क्यों ले लिया? मराठी के प्रातिपादकों में एकारान्त वाले रूपों की बहुलता है। ठीक इसी तरह हिन्दी में आकारान्त रूप बहुत हैं। मराठी के बहुत से उपनाम एकारांत हैं—सोमटे, गोरे, काळे, बारलिंगे, पाध्ये, पेठे, मुळे, साठे,···और और बहुत हैं। हिन्दी में एकारान्त रूप विरल हैं। 'चौबे' जैसा रूप कहीं मिल जाय तो मिल जाय, अन्यथा इस तरह के रूप हिन्दी में मिलते ही नहीं और फिर 'चौबे' में एकारान्त रूप कैसे आ गया? यह स्वयं खोज का विषय होना चाहिये और क्या 'चौबे' स्वयं परिवर्तित रूप नहीं है। वस्तुतः 'चौबे' का मूलरूप 'चतुर्वेदी' है। एक वेद से सम्बन्धित 'वेदी', दो वेदों से सम्बन्धित 'द्विवेदी', तीन वेदों से सम्बन्धित 'त्रिवेदी' और जो चार वेदों से सम्बन्धित हैं, उन्हें 'चतुर्वेदी' कहा गया है। इनमें 'चतुर्वेदी' का 'चौबे' हो गया है और 'द्विवेदी' का 'दुबे' हो गया है। इस परिवर्तन को बाहरी प्रभाव ही कहना चाहिए और इस प्रवृत्ति की खोज आवश्यक है। मराठी के प्रातिपदिकों में ही नहीं, क्रियार्थक संज्ञाओं में भी एकारान्त रूप मिलते हैं—येणे, जाणे, उठणे, बसणे, हसणे···आदि और हिन्दी में न केवल मूर्द्धन्य ध्वनि का परिवर्तन है, अपितु एकारान्त का आकारान्त वाला रूप मिलता है। यथा—आना, जाना, उठना, बैठना, हँसना आदि।

१. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० ४८—भाग ३, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८१ ई०

इसीलिए 'पुणे' का 'पूना' और 'ठाणे' का 'ठाना' हो गया है। महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोत-दार 'पुणे' को संस्कृत में 'पुण्यनगरी' कहा करते थे। उत्तर काशी जैसे विद्या का स्थान है, ठीक उसी तरह वे 'पुण्यनगरी' को विद्या का स्थान मानते थे। 'धुळे' का 'धूलिया' में भी एकारान्त का परिवर्तन आकारान्त में हुआ है। हिन्दी में 'गुप्त' उपनाम है; अंग्रेजी के प्रभाव से 'गुप्ता' हुआ और संभवतः मराठी में वही नाम 'गुप्ते' हो गया हो। इस तरह बहुत से उदाहरण खोजने पर मिल सकते हैं।

'पुणे' नाम के प्रति विशेष मोह के कारण और मराठी नाम के उच्चारण की सुरक्षा के प्रति आग्रह के कारण रेलवे स्टेशन पर एवं डाक-व्यवस्था में इस नाम को मूल रूप मे लिखने का प्रयत्न हो रहा है। इस समय पूना को पुणे लिखने का प्रयत्न जारी है। अंग्रेजी मे भी Poona के स्थान पर Pune लिखा जा रहा है। इस तरह का प्रयत्न एक ही नाम के लिए क्यों? सब नामों के लिए होना चाहिए। केवल लिपि में परिवर्तन से क्या होगा? मुख्य बात उच्चारण की है। ऐसे लोग जो मराठी और हिन्दी दोनों भाषाएँ जानते हैं और जिनके लिए दोनों ही भाषाओं में ठीक-ठीक उच्चारण करना संभव है, वे भी मराठी में 'पुणे' कहते हैं और हिन्दी मे 'पूना' कहते है। महाराष्ट्र से बाहर रहने वालों की बात तो अलग है। यह बात तो तब है जब मराठी-हिन्दी की लिपि एक है, शब्द-समूह तथा ध्वनि-समूह में पारिवारिक सम्बन्ध है। हिन्दी-मराठी एक ही परिवार की भाषाएँ हैं। मराठी नामों का उच्चारण तेलुगु में और तेलुगु नामों का उच्चारण मराठी में कैसे होता है, इस बात का अध्ययन होना चाहिए। इसी तरह और-और भाषाओं की प्रकृति का एवं उनकी विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है। नाम जब भी रखा जाता है, वह सुविधा तथा रागात्मक सम्बन्ध के कारण रखा जाता है। नाम के साथ सबको मोह होता है। हमारा नाम कोई गलत लिखे और गलत ढंग से उच्चारित करे या बिगाड़कर बोले तो हमें बुरा लगता है। नाम का आदर होना चाहिए, इसके लिए प्रयत्न होना चाहिए। यह तभी संभव है जब हम ध्वनिगत रूपों और उनके ठीक-ठीक उच्चारणों की प्रवृत्तियों से परिचित हों। इस मामले में कठिनाई यह है कि भौगोलिक अन्तर के कारण उच्चारण-सुरक्षा कठिन है, यह कठिनाई स्वयं एक भाषा के अन्तर्गत भी मिल सकती है, तो जहाँ भाषा-भेद हैं, वहाँ तो इसमे कठिनाई होगी ही। यदि बंगलाभाषी मूर्द्धन्य 'ण्' का उच्चारण नहीं कर सकता या हिन्दीभाषी मूर्द्धन्य 'ळ्' का उच्चारण नहीं कर सकता, तो उसे विवश नहीं करना चाहिए। भाषा-भेद की प्रवृत्तियों को पहचानने में व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ इसीलिए उपयोगी है। आप चाहें या न चाहें, आपको दूसरी भाषाओं की व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का उपयोग करना पड़ता है। आखिर नाम जो है। नाम के बिना परिचय नहीं और परिचय के अभाव में व्यवहार कैसे किया जा सकता है?

रीडर, हिन्दी विभाग,
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय,
औरंगाबाद

यारी साहब का हिन्दी कलाम

स्वामी वाहिद काज़मी

यारी साहब का पूरा नाम यार मुहम्मद बताया गया है। आप दिल्ली के बावरी सम्प्रदाय के एक प्रमुख और संत कवि हो गये हैं। इस पंथ के प्रचार-प्रसार में आपका बहुत कुछ सहयोग व सद्प्रयास सक्रिय रहा है। आप एक सम्पन्न व प्रतिष्ठित मुसलमान परिवार में उत्पन्न हुए थे। आपके पूर्वजों का सम्बन्ध दिल्ली के किसी शाही घराने से होना भी बताया गया है। पहले आप किसी सूफी फिरके के अनुयायी थे, परन्तु बाद को बावरी साहब के शिष्य बीरू साहब के सम्पर्क में आने से कुछ ऐसे प्रभावित हुए कि वह फिरका छोड़कर उनके पंथ में सम्मिलित हो गये। यद्यपि आपकी वाणी से तो इस बात की कही पुष्टि होती नहीं मिलती कि आप विधिवत् बीरू साहब के शिष्य हुए थे अथवा नहीं। किन्तु इस संत-सम्प्रदाय में आपका बड़ा ऊँचा व प्रमुख स्थान रहा है। आपका जीवन अधिकतर अपने पीरोमुर्शिद बीरू साहब की सेवा में ही व्यतीत हुआ और उनके मरणोपरांत आपको ही उनका कार्यभार सम्हालना पड़ा। उन्हीं के स्थान पर रहकर आपने पंथ का प्रचार किया और वहीं अर्थात् दिल्ली में आपने भी देहावसान किया। दिल्ली-स्थित आपके मजार पर आपकी गद्दी अब तक प्रतिष्ठित चली आती है।

आपके जन्म-स्थान, जन्म एवं मृत्यु की ठीक-ठीक जानकारी तो प्राप्त नहीं होती। किन्तु जिस संत-परम्परा में आप थे, उसकी गुरुशिष्य-श्रृङ्खला के आधार पर अनुमान किया गया है कि आपका जीवन-काल विक्रम की अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में ज्ञात होता है। आपका शिष्य-वर्ग भी काफी विस्तृत था। परन्तु उसमें से आपके पाँच शिष्यों के नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। वे हैं सूफी शाह, हस्त मुहम्मद, शेखनशाह, केशवदास और बुल्ला साहब। केशवदास और बुल्लाशाह दोनों ही सन्त कवि हुए हैं और उनके भी अन्य शिष्य सन्त-कवियों की यह श्रृङ्खला काफी आगे तक चलती रही है जिसमें भीखा साहब और उनके शिष्य पलटूदास जी जैसे बुद्धत्व को प्राप्त संतजन और कवि हुए हैं।

'सूफी काव्य-संग्रह' के सम्पादक ने कदाचित् बहैसियत सूफ़ी कवि के आपको भी अपनी पुस्तक में सम्मिलित कर लिया है। किन्तु हमारी दृष्टि में आप केवल सूफी कवि नहीं थे और भले ही आप एक पंथ में सम्मिलित रहे हों, किन्तु फिर भी आपको अपनी वाणी के आधार पर एक ऐसा महापुरुष ही ठहराया जा सकता है, जैसे अन्यान्य निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत आनेवाले संत या पुरानी जड़ परिपाटी से विद्रोह उपजाने वाले क्रांतिकारी सन्त, जैसे—कबीर, बाजिद, रज्जब आदि हैं। हम अपने शब्दों में आपको पंथमुक्त संत कहना अधिक उचित समझते हैं। हमारे इस विचार की पुष्टि इस बात से भी हो सकती है कि यद्यपि आप बावरी सम्प्रदाय की नींव सुदृढ़ करने वालों में एक प्रमुख संत पुरुष थे, किन्तु आपने अलग से अपना कोई पंथ या समाज नहीं चलाया। जैसा कि आपके पश्चात् उसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत रहने वाले भीखा साहब, जगजीवन साहब और पलटू साहब आदि के नामों से पंथ कायम हुए और आगे तक चलकर अब तक चले आ रहे हैं। 'सूफी काव्य-संग्रह' में इस संत-परम्परा के प्रवर्तक का नाम बावरी साहब के बजाए बावरी साहिबा

दिया गया है। यदि यह छापे की त्रुटि नहीं है तो इसका कुछ भी औचित्य व आधार समझ म नही जाता और न पुस्तक के सम्पादक ने कुछ स्पष्ट किया है।

यारी साहब की हिन्दी रचनाओं की भाषा अन्य संत कवियों की भाँति यद्यपि अन्य भाषाओ के कतिपय मिश्रित शब्दों तथा संतवाणी की अपनी विशिष्ट शैली लिए हुए ही मिलती है, तथापि इनकी वाणी में क्लिष्टता अथवा कड़ापन न होकर सरलता एवं सुगमता का तत्त्व अधिक मिलता है और एक सुखद आश्चर्य यह है कि उनके यहाँ अरबी-फारसी शब्दों की प्रचुरता भी नहीं पाई जाती, जबकि इसी परम्परा के अन्य कवियों के यहाँ भाषा-सम्बन्धी यह बात दृष्टिगोचर नही होती है। वाक्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रयुक्त न करने आदि की विशेषताओं से ऐसा प्रतीत होता है कि आप पढ़े-लिखे व्यक्ति थे। शायद यही कारण रहा कि अपने समय मे आपका एक प्रमुख स्थान और विशेष प्रभाव रहा और इसलिए आप पर्याप्त लोकप्रिय भी हो सके।

जिस प्रकार आपके व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध कम ही जानकारी प्राप्त होती है, उसी प्रकार आपकी रचनाएँ भी अधिक संख्या मे उपलब्ध नही है। अनुमान किया जा सकता है कि उनकी अच्छी खासी संख्या रही होगी जो निश्चित ही काल की गोद में समा गई। बहुत थोडी-सी रचनाएँ ही आपकी प्राप्त हुई हैं, किन्तु जितना भी है, वे संत-वाणी का श्रेष्ठ नमूना प्रस्तुत करने वाली उत्तम रचनाएँ हैं।

योग, तत्त्वदर्शन एवं साधना में आपकी गति प्रचण्ड व प्रखर रही। आप शब्दमार्गी थे और एक सिद्ध पुरुष भी, जिसका प्रमाण स्वयं आपकी वाणी से मिलता है। अन्यान्य संत कवियो की भाँति आपने अपनी वाणी द्वारा पुरानी धर्म-परम्पराओं का खंडन नहीं किया, न ही कर्मकाण्ड आदि का निषेध किया, न ही नारी आदि की निंदा की और न ही तथाकथित साधु-संन्यासियों के बाह्याडम्बरों पर व्यंग्य-बाण चलाये हैं, बल्कि इन समस्त बातों से अलग रहकर आप सीधी-सादी कविता के रूप में अपने उपदेश देते रहे हैं। आपका मार्ग कौन-सा था और अपने इष्ट की प्राप्ति का साधन आपकी दृष्टि में क्या था, इस बात का उत्तर आपके इस एक पद से भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है—

या विध भजन करो मन लाइ।
निरमल नाम लखो बिन लोचन सेत फटिक रोसनाइ॥
सीप की सुरति आकाश बसत, जिस चित चकोर चंदाई।
कुंभक नीर उलटि भरै जैसे, सागर बूँद समाई॥
जैसे मृग की रीति परसपर लोह कंचन तैव जाइ।
मन गगरी पर बात सखिन संग, कुंभ कला नट लाइ॥
तत्त-तिलक, छापा मन मुद्रा, अजपा जाप लिट पाइ।
भँवर गुफा ब्रह्मांड मेखला जोग, जुगति बन आइ॥
बाबी उलटि सर्प को खाई ससि में मीन नहाई।
'यारीदास' सोई गुरू मेरा, जिन यह जुगत बताई॥

इस चराचर जगत् में सर्वत्र एक ही परमेश्वर की सत्ता क्रियाशील है। लेकिन रूप एव आकार की भिन्नता के कारण मानव-दृष्टि उसमें भेद पैदा कर लेती है जो सही नहीं है। इसी तथ्य की ओर आपने इस पद में संकेत करते हुए कहा है

४

देखु विचारि हिये अपने नर देह धरों सो कहा बिगरो है।
मट्टी के खेल खिलौना बनो इक, भाजन नाम अनंत धरो है।।
नेक प्रतीति हिये नहिं आवत, मर्म भुलो नर अवर करो है।
भूषन ताहि गवांहि के देखु, 'यारी' कंचन ऐन को ऐन धरो है।।

व्यर्थ के इसी दृष्टि-भ्रम के कारण व्यक्तियों ने अपना-अपना, पृथक्-पृथक् इष्ट समझ लिया और जिसने अपनी समझ से जैसा भी समझा, वह उसी बात को पकड़ कर अज्ञानता के अंधकार में भटक गया। इस रहस्य को आपने अपने इस कवित्त में जिस प्रकार से उपदेशित किया है, वह पठनीय है—

आधरें को हाथी हरिहाथ जाको, जैसो आयो,
बूझो जिन जैसों तिन तैसोई बतायो है।
टकटोरी दिन रैन हिये हू के फूटे नैन,
आधरें को आरसी में कहाँ दरसायो है।।
मूल की खबर नाहिं जासों यह मुलुक भयो,
वाहि की बिसारि भौंदू डोर उरझाओ है।
आपनो सरूप आप रूप माहिं देखो नाहिं,
कहे 'यारी' आंधरे ने हाथी कैसो पायो है।।

यारी साहब ने दो प्रकार के अलिफनामा भी लिखे हैं, अर्थात् एक तो वह जिसमें अरबी वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर लेकर उस पर एक चौपाई की रचना की है। इस प्रकार अक्षर-क्रम से कुल बत्तीस चौपाइयाँ हैं। इसका नमूना प्रारम्भिक अक्षरों के आधार पर रची इन चौपाइयों में देखा जा सकता है—

अलिफ एक अविनासी देव। अनिगत अपरम्पारीह मेव।।
ताहि धरो धरि ध्यान हुजूर। सो सब ठौर रहा भर पूर।।
बे-बिन जिभ्या सुमिरन करे। उनमुनि सो मन की धुनि धरे।।
पूरण ब्रह्म जहँ तहँ आप। ताहि जाप को कीजै जाप।।

दूसरे प्रकार का अलिफनामा वह है जिसमें चौपाई की चारों पंक्तियाँ अरबी वर्णमाला का एक-एक अक्षर अपनाकर कही हैं, अर्थात् एक ही पूरी चौपाई मे अरबी के चार अक्षर ले लिये है। उदाहरणार्थ—

अलिफ-एक हरिनाम विचार। बे भजु बिसतारन संसार।।
ते-त्रिभुवन सब घर मे राजा। से-साबित जे पत में साजा।।
जीम-जगतपति हिरदै राखहु। हे-हलीम है गुरु हरि भावहु।।
खे-ख्याल छोड़हू सब ही भूते। दाल-दयाल सुमरि हिये अनूठे।।

इन रचनाओं के अतिरिक्त आपके झूलने, पद आदि नामों से अनेक फुटकर पद भी प्राप्त होते हैं। यहाँ प्रस्तुत शब्दों के तालमेल से रुनझुन-सा समा बाँधने वाला पद कितना सरस और उत्तम बन पड़ा है—

झिलमिल-झिलमिल बरखै नूरा। नूर जहूर सदा भर पूरा।।
रुनझुन-रुनझुन अनहद बाजे। भँवर गुंजार गगन चढ़ि गाजे।।
रिमझिम-रिमझिम बरखै मोती। भयो प्रकाश निरन्तर जोती।।
निरमल-निरमल निरमल-नामा। कह यारी तह किये बिसरामा।।

आपके एक दो पद ऐसे भी पाये गये है जिनमे सामान्यत प्रचलित साधारण उर्दू शब्दों को अपनाकर उनसे अपने कथन की सुन्दरता बढ़ाने का एक सफल प्रयास किया गया है। एक उदाहरण लें—

हम तो एक हुबाब हैं रे साकिन, बहर के बीच सदा ।
दरयाव के बिच दर्याव के मोज हैं, बाहर नाहीं गैर खुदा ।।
उठने में हुबाब हैं देखो मिटने में, मुतलक है सौदा ।
हुबाब तो ऐन दरियाव यारी, वोहि नाम धरो है बुदबुदा ।।

अंत मे इनकी वाणी का कुछ और रसास्वादन कराने हेतु कुछ सरस शैली के दोहे भी प्रस्तुत किये जाते हैं—

बाजत अनहद बाँसुरी, तिरबेनी के तीर ।
राग छतीसों हो रहे, गरजत गगन गंभीर ।।
नैनन आगे देखिये, तेजपुंज जगदीश ।
बाहर-भीतर रमि रह्यो, तो धरि राखो शीस ।।
धरति अकाश के बाहरी, यारी पियत दीदार ।
सेत छत्र तहँ जगमगे, सेत फटिक उजियार ।।
आतम नारि सुहागनी, सुन्दर आपु सवाँरि ।
पिय मिलने को उठि चली, चौमुख दियना बारि ।।

यहाँ यह निवेदन उल्लेखनीय है कि यारी साहब की उपरिवर्णित अत्यधिक प्रभावक शैली मे रची हुई सुन्दर कविताओ का एक सकलन अनेक वर्षों पूर्व प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस से 'रत्नावली' के नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित भी हुआ था जिसमें उनके छियासी के करीब पद, कवित्त आदि और दस के लगभग दोहे भी दिये गये थे। इससे अधिक संख्या में इनकी रचनाएँ अन्यत्र कही प्राप्त नहीं होती और संगृहीत रचनाएँ भी उक्त प्रकाशक के अनुसार 'वह भी बड़ी खोज से थोड़ी-थोड़ी करके दिल्ली, गाजीपुर और बलिया के जिलों से मिली' थीं। अब उक्त संकलन प्राप्य है अथवा नहीं, इस बात की कुछ जानकारी नही है।

२ E/८७, एन० आई० टी०
फरीदाबाद—१२१ ००१

□

डॉ० राममूर्त्ति त्रिपाठी

मानव-स्तर पर व्यक्त चेतना अपरिमेय संभावनाओं का आगार है, पर कुबुद्धि और सुबुद्धि का साचिव्य पाकर उनकी दिशा अधोमुखी भी हो सकती है और ऊर्ध्वमुखी भी। पहली दिशा जिस अशोभन स्तर तक ले जाती है, हिंस्र से हिंस्र पशु भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता और दूसरी दिशा जिस शोभन स्तर तक ले जाती है, देवता भी उसकी बराबरी में कहीं नहीं ठहर सकता। प्रेमचन्द मनुष्य की ऊर्ध्वमुखी संभावनाओं में विश्वास रखते हैं। उनकी दृष्टि में मानवता चेतना की उस विशेषता में है जो समष्टिहित में व्यष्टिहित की समझ पैदा करती है। प्रेमचन्द व्यष्टिहित के विरोधी नहीं है, विरोधी हैं समष्टिहित के विरुद्ध पड़ने वाले व्यष्टिहित के। वे परिवार के परिवेश मे ही उन बीजों का आधान मानते हैं जहाँ व्यक्ति प्रेम, उत्सर्ग, सहिष्णुता और समष्टिहित में कर्तव्य-भावना, स्वाभाविक प्रेरणा का पाठ पढ़ता है। प्रेमचन्द उन लोगों का विरोध करते हैं जो मानते हैं कि व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना मनुष्य में कर्म की प्रेरणा कहाँ से आयेगी ? विद्या, कला और विज्ञान की उन्नति कैसे होगी ? उनकी दृष्टि मे समष्टि-कल्पना के उदित होते ही स्वार्थचेतना संस्कृत हो जाती है। उनका तर्क है कि क्या तुलसी ने राय ली—प्रगति की सम्भावना से मानस लिखने की प्रेरणा ली थी ? समष्टिहित मे उन्हें स्वान्तः सुख का अनुभव हुआ था और वही प्रेरणा का स्रोत बना था। यही मानव-चेतना की ऊर्ध्वमुखी संभावना है—मानवता की दीप्ति है। यही रेखा मनुष्य की पहचान कराती है। इसी की प्रतिष्ठा उनका लक्ष्य है। जहाँ यह होगी, वहाँ उत्पीड़न की नहीं, समष्टिहित की भावना होगी। प्रेमचन्द धरती से अमानवीय उत्पीड़न के निःशेष कर देने में ही समाज की निजात मानते हैं—व्यक्ति की मुक्ति का स्वप्न देखते हैं। वे चाहते हैं कि इस धरती पर गरीबी-अमीरी का भेद मिट जाय, सबल दुर्बल का खून चूसना बन्द कर दे, सबको आत्मविकास का समान अवसर हो, आर्थिक विषमता दूर हो, भेदभाव निःशेष हो जाय, लोग परस्पर प्रेम की भूमि पर प्रतिष्ठित हों, हिंसा स्वयम् निःशेष हो जायगी। जहाँ प्रेम है, जिंदगी की चहक है—वहीं ईश्वर है, वहीं स्वर्ग है, वहीं मुक्ति है, वहीं मानवता की ऊर्ध्वमुखी संभावना चरितार्थ है।

अनुध्यात स्वप्न को इसी धरा पर आकार देने के लिए अपेक्षित संघर्ष की उन्होंने अप्रतिम तैयारी की थी। वे समझते थे कि संभावना को विकसित करने के लिए स्वतंत्रता चाहिए और समष्टि मे व्यक्ति की स्वतंत्रता कहीं अराजक न हो जाय—टकराने न लगे—इसलिए शासन चाहिए, नियम चाहिए, उसका पालन चाहिए और चाहिए न पालन करने पर दंड का विधान। इस दिशा में धर्म, समाज और राज्य तीनों ने नियम बनाए—पर तीनों उद्दिष्ट पथ से हटे हुए थे, स्वस्थ परम्परा या निरन्तरता की जगह रूढ़ियों और स्वार्थ-साधना की भावना से ये प्रचंड रूप में ग्रस्त थे। उन्हें तीनों से लड़ना था। विदेशी 'सत्ता' की रोटी खाकर इसी 'सत्ता' से लड़ने में पूरी चेतना का सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप में ठीक-ठीक उपयोग नहीं हो पाता था—फलतः असहयोग-आन्दोलन में शरीक होकर 'सत्ता' से सम्बन्ध तोड़ लिया—नौकरी छोड़ दी—स्वराज्य आन्दोलन से पूर्णतः जुड़ गए। वाइसराय को संबोधित करके लिखे गए गांधी के उस पत्र में उन्हें अपने हृदय की आवाज सुनाई पड़ी जिसमें उन्होंने कहा था : "हम पद के लिए नहीं, अधिकार के लिए स्वराज्य नहीं चाहते,

हम स्वराज्य चाहते हैं—उन गूंगे-बेजबान आदमियों के लिए जो दिन-दिन दरिद्र होते जा रहे है।" इसके पूर्व वे 'धर्म' की रूढ़ियो से लडने के लिए 'परलोक', 'ईश्वर' तथा 'प्रारब्धवाद' से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके थे। 'मंगलसूत्र' का सन्दर्भ है—"इन दिनों वह वह यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार में कुव्यवस्था क्यों है? कर्म और संस्कार लेकर वह कहीं न पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यो है? क्यों एक आदमी जिन्दगी भर बड़ी से बड़ी मेहनत करके भी (बुधिया की भाँति अपनी समस्त संभावनाओ के साथ निःशेष हो जाता है) भूखों मरता है और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है या घोर आत्म?" यदि वह करुणा वरुणालय है तो उसकी लीला ऐसी दुःखद क्यों? उन्हें समाज की रूढ़ियों से भी लड़ना था—अतः 'विधवा-विवाह' कर लिया सुधारवादी संस्था आर्यसमाज के प्रभाव में। पूंजीवाद की अमानवीय संभावनाओ से जूझना था—इसीलिए अलवर रियासत के नरेश की प्रार्थना ठुकरा दी और लात मार दिया सिनेमा-लक्ष्य-विरोधी दिशा में ले जाने वाली—आत्मा की आवाज दबाने वाला कमाई को। उनका विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया कि ईश्वर हो या न हो, पर समाज में व्याप्त विषमता और अमानवीय उत्पीड़न में उसका कोई हाथ नहीं है—यह सब हमारी कुबुद्धि और उसकी उपजाई दुर्व्यवस्था का परिणाम है—हमें इनसे समाज को मुक्ति दिलाने के लिए लड़ना है—क्योंकि अंततः स्थायी आत्महित भी उसी मे है। 'महाजनी सभ्यता' मे उन्होंने इस सभ्यता को निरावरण कर नंगा कर दिया है और स्वीकार कर लिया कि समाज दो भागों मे बँट गया है।

इस प्रकार तथाकथित क्रमागत तीनों प्रकार के शासनों की रूढ़ियों से आजीवन लडने की तैयारी की। एक बिन्दु तो ऐसा भी आ गया जो उनके मूलरूप को औंधा कर गया। 'धन' और 'कुप्रथाओ' का विरोध करते-करते धनी और कुप्रथावादियो तक के विरुद्ध हो गए। बात यहाँ तक बढ़ गई कि अपने भीतर के उस देवता को भी फटकार गये जो मनुष्य के बीच उन्हें 'देव' बनाए रहता था। झोक में वे कह गए—"यहाँ देवता बनने की जरूरत नहीं है। देवताओं ने ही भाग्य, ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्यों के बीच मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा—उनके पजो का शिकार बनना देवतापन नही—जड़ता है।" उनकी दृष्टि में आर्थिक आधार पर खड़ी हुई इस व्यवस्था में सबको आत्मविकास का समान अवसर कहाँ है? "पूंजीपतियों से यह आशा करना कि ये किसानों की दीन-दशा का लाभ उठाना छोड़ देंगे—कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है। इस खूँखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हमें स्वयम् सशस्त्र होना पड़ेगा।" इस तरह इन बाधक तत्त्वो से संघर्ष करने की पूरी मनःस्थिति में वे निरन्तर सक्रिय रहे।

उनकी 'स्वराज्य' सम्बन्धी जो धारणा थी, उसमें ये सभी बाधक थे। फलतः इन सबके प्रति उन्होने अपनी नीति बनाई थी। उनके लिए 'स्वराज्य' का अर्थ है—इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन—जिससे समाज में न केवल अमानवीय उत्पीड़न बन्द हो जाय, अपितु व्यक्ति और समाज में निहित मानवीय सम्भावनाओं के पूर्ण विकास का समान अवसर हो। अंग्रेजी अमल-कारी से मुक्ति—विदेशी दासता से मुक्ति तो उसकी पहली सीढ़ी है। स्वराज्य आंदोलन से अनुध्यात शोभनता—अपने सुनहरे स्वप्न को पाने की सम्भावना करने वाले प्रेमचन्द डोमीनियन स्टेट्स का विरोध करते थे और पूर्ण स्वराज्य के नारे को मान्यता देते थे। उनकी दृष्टि में डोमीनियन स्टेट्स का स्वराज्य एक तो निरवधि किस्तों में अधिकार देने की बात करता है, दूसरे गोलमेज कान्फ्रेस का छलावा देता है, तीसरे उस तंत्र को बने रहने का अवसर देता है जो शोषण का यथास्थितिवाद

है। उनका ख्याल था कि पूर्ण स्वराज्य गरीबों की आवाज है और डोमीनियन स्टेट्स गरीबों की कमाई पर मोटे होने वालों की। उन्हें लगता था कि अभी तो अंग्रेजी पराधीनता से सम्पूर्ण मुक्ति की बात सोचने वाले भी कम हैं—उसके आगे की समाज-रचना की बात तो अभी दूर है। सम्पूर्ण मुक्ति से उनका आशय था—भौतिक और मानसिक परतन्त्रता से मुक्ति। ब्रिटिश सत्ता का शासन देश से तो हट ही जाय, ब्रिटिश संस्कृति या सभ्यता के घटक तत्वों—अंग्रेजी भाषा और वेशभूषा आदि के प्रति समर्पण-भावना—का भी भारतीय मानस से उच्छेद हो जाय। मुझे तो लगता है कि 'रंगभूमि' का सूरदास 'जमीन' के लिए नहीं, 'अपनी जमीन' के लिए संघर्ष करता है। अपनी जमीन ही चली जायगी—तो विकास किसका होगा ? वह मरते-मरते भी भौतिक रूप से तो अपनी जमीन को आक्रांत होते देखता है, किन्तु मर कर भी अपनी नैतिक भूमि के बचे रहने का एहसास लोगों में भर जाता है और समग्रता मे मुक्ति आंदोलन को सक्रिय रखने की प्रेरणा दे जाता है।

उनका यह भी विचार है कि हम अभी 'डेमोक्रेसी' के योग्य नहीं हैं। जिन देशों में यह पद्धति चल रही है, वहाँ अब भी अधिकार-शोषक व्यवस्था बनी है। हमारी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था ही इतनी दूषित है कि हम चाहे जैसे चुनें, सत्ता शोषकों की ही मुट्ठी मे चली जाती है···आदर्श व्यवस्था वह है जहाँ सबके अधिकार बराबर हों, जहाँ यह ऊँच-नीच का घृणित भेद उठ जाय। उनकी कृतियों के डाकू पात्र अपनी सफाई देते हुए कहते हैं कि वे ही डाका नही मार रहे हैं—सारा संसार प्रस्थान-भेद से एक ही गंतव्य की ओर जा रहा है—सब तो वही कर रहे हैं—चाहे सेठ हों या अमले, वकील हो या डाक्टर, आदि।

प्रेमचंद, इसमें कोई संदेश नहीं कि, 'सुधारवाद' से आगे बढ़कर 'गांधीवाद' की ओर मुड़ते हैं और उनके द्वारा दिए गए तमाम कार्यक्रमों से राजनीति के व्यावहारिक स्तर पर जुड़ते हैं। अपनी आत्मा की आवाज के अनुरूप उन्हें वहाँ बहुत कुछ मिलता है। गांधीवाद सत्य की साधना का विज्ञान है। वैसे गांधी ने किसी वाद की स्थापना नही की, वे तो सत्य तक पहुँचने के लिए निरन्तर प्रयोग करते रहे। इसीलिए उनकी आत्मकथा 'सत्य का प्रयोग' है। एक ही तत्व साध्य की दृष्टि से 'सत्य' और साधन की दृष्टि से 'अहिंसा' कहा जाता है। उनका आग्रह था कि अहिंसा के द्वारा सत्य को पाना चाहिए। सत्याग्रही सत्याग्रह के द्वारा अपने प्रतिपक्षी में नैतिक संघर्ष पैदा करता है और उसकी अधर्मवृत्तियों को कमजोर कर देता है। अहिंसा अपने भावात्मक रूप में 'प्रेम' का ही नामांतर है। इससे प्रतिपक्षी का हृदय परिवर्तित हो जाता है—दबाकर किया गया परिवर्तन समय पाकर विद्रोह भी कर सकता है। हृदय-परिवर्तन के गांधीवादी सिद्धांत में प्रेमचंद की दृढ़ आस्था थी। 'रगभूमि' गांधीवाद का बाइबिल माना जाता है। मैंने ऊपर कहा है कि प्रेमचंद को मानव की ऊर्ध्वगामी संभावनाओं मे विश्वास है—अतः वे पाप से घृणा करके भी गांधीजी की भाँति पापी से घृणा नहीं करते। 'सूरदास' की सबसे बड़ी जीवनी यही थी कि वह अपने शत्रुओं का भी उपकार करता था। हाँ, सतीत्व की रक्षा हिंसा से भी हो तो गांधी की भाँति प्रेमचंद उसके पक्षधर थे। इन्होंने वर्ग-भेद की समस्या जमींदारों एवम् कृषकों (प्रेमाश्रम) तथा मिल-मालिकों और मजदूरों (गोदान) के बीच उठाकर भी उसका समाधान वर्ग-संघर्ष के द्वारा नहीं, हृदय-परिवर्तन के द्वारा ही दिया है। कहीं संघर्ष हुआ भी है, तो समझौते और समन्वय के लिए। प्रेमचंद जी ने गांधीजी के ट्रस्टीशिप में भी विश्वास व्यक्त किया है और 'प्रेमाश्रम' के मायाशंकर से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कराया है। 'रंगभूमि' में राजा महेन्द्रकुमार की पत्नी इन्दु अपनी रियासत के प्रबन्ध के लिए एक ट्रस्ट बनाने का निश्चय करती हैं। 'प्रेमाश्रम' में सहकारिता सिद्धान्त का भी अस्तित्व दिखाया गया है। उन्होंने असहयोग आन्दोलन के विभिन्न रूप अपने पात्रों से सम्पन्न कराए हैं। औद्योगिकी-

करण एवम् उत्पादन के साधनों के विकेन्द्रीकरण में भी उनका विश्वास 'रंगभूमि' में व्यक्त हुआ है। कहाँ तक कहा जाय—स्वावलम्बन का सिद्धान्त, ग्रामोद्योग का प्रचार, चर्खे को आत्मशुद्धि का साधन, स्वदेशी आंदोलन, नमक आंदोलन, हाउसिंग स्कीम, कौंसिल बहिष्कार, नारीमान, अस्पृश्यता-निवारण, साम्प्रदायिक वैमनस्य, मद्य-निषेध, मांसभक्षण-निषेध, आदि तमाम बाते हैं जो उन्हें गांधी-निर्दिष्ट विचारधारा के समीप ले जाती हैं और उनमें आस्था व्यक्त कराती हैं। इतना सब होते हुए भी एकान्ततः यह नही कहा जा सकता कि प्रेमचंद की राजनैतिक विचारधारा अविकल गांधीवादी है। प्रेमचंद स्वयं कहते है—"मैं गांधीवादी नहीं हूँ, केवल गांधीजी के चेंज आँफ हार्ट मे विश्वास करता हूँ।" इतना ही नहीं, कहीं-कहीं वे गांधीवाद की मान्यताओं से असहमति भी व्यक्त करते हैं—वहीं अतिक्रमण भी करते हैं। और सर्जक 'वाद' की सीमा में यदि बंधा, तो वह आवृत्त होने लगता है—अतः होना भी नहीं चाहिए उसे 'वादी'। दूसरे, प्रेमचंद संवेदनशील सर्जक हैं—बदलते युग और वातावरण के उभरते हुए विचारों से प्रभावित होते हैं। गांधी जी पवित्र का साधन और साध्यपरक सिद्धांत अध्यात्म की भूमि पर खड़े व्यक्ति साधक के लिये तो अपने विश्वास और श्रद्धा के अनुरूप फलप्रद हो सकता है, परन्तु समाज के स्तर पर उस मानवतावादी ऐहिक साधक के लिये अंततः ग्राह्य नही हो सकता जिसे 'सर्वात्म और अनात्म' का द्वंद्व ग्रस्त किये हुए है। गांधीजी आत्मवाद पर गहरी आस्था रखकर आत्मा की आवाज पर निर्णय लेते हैं और प्रेमचंद समाज की कुव्यवस्था में उसे कहीं नहीं देखते। वे इसे मनुष्य की कुबुद्धि की उपज मानते हैं और सुबुद्धि से ठीक रखने में विश्वास करते हैं। गांधीजी किसी बड़ा शक्ति के आह्वान पर अपना अभियान चलाता चाहते हैं, प्रेमचंद अपने मानवीय तथा ऐहिक चिंतन के दायरे में चलते हैं—इसलिए दोनों का मेल संभव नहीं है। गांधीजी का पंथ 'कश्चिक धारा' का पंथ है और प्रेमचंद बेचैन हैं और यथासभव शीघ्र समाधान चाहते हैं। आत्मा और उसकी लोकमंगलोन्मुखता मे गहन आस्था रखने वाले फलतः आत्मपीड़ा के रास्ते परपीड़ा का शमन चाहने वाले गांधी से प्रेमचद की एकान्ततः एकरूपता असंभव है। गांधीजी किसी भी स्थिति में अन्य समाधान सम्भव न होने पर हिंसा का रास्ता नहीं पकड़ते, प्रेमचंद उग्र हो जाते हैं और अन्यायी के प्रति देवतापन दिखाना जड़ता समझते हैं। न तो गांधी का प्रस्थान-बिंदु प्रेमचंद का प्रस्थान-बिंदु है और न ही गंतव्य बिंदु—मध्य में लोकमंगल की भूमिका पर दोनो मिलते हैं, या दोनों के विचार मिलते हैं, या उतनी दूर तक उन्हें गांधी अनुकूल लगते हैं। वैसे व्यक्ति रूप में वे फिर भी गांधीजी की स्तुति करते हैं —"महात्मा जी सोशलिज्म से भी आगे बढ़े हुए हैं, कम्युनिज्म से भी। वह अपरिग्रहवादी हैं।" यह उद्‌गार सन् १९३३ का है। यह उनके सस्कार और विचार का अंतराल है। 'कांग्रेस और सोशलिज्म' पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—"महात्मा जी महात्मा हैं और जवाहरलाल जी महात्मा नही, हम आप जैसे मनुष्य हैं।"

कांग्रेस का बहुत बड़ा बहुमत अभी तक महात्मा गांधी के साथ हृदय-परिवर्तन का समर्थक है, रक्तमय क्रांति का नहीं।

यह तो स्पष्ट है कि अपने विचारक रूप के एक दायरे में वे गांधीवादी थे—स्वराज्य आंदोलन से जुड़े रहने के कारण कांग्रेसी थे—कांग्रेस से उनका सम्बन्ध था। सन् १९२६ में उत्तर प्रदेश की कांग्रेस कमेटी का झुकाव समाजवादी सिद्धांतों की ओर हो गया था। धीरे-धीरे कांग्रेस पार्टी मे ही समाजवादी विचारधारा के लोगों का प्रवेश होने लगा और १९३१ मे कांग्रेस के भीतर ही एक समाजवादी पार्टी उभर आई। १९३३ मे विधिवत् उसकी स्थापना हो गई और उसने अपने अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किए। इस नए संगठन से कांग्रेस को एक नई शक्ति मिली और देश ने एक नया मोड़ लिया गांधी जी इससे असंतुष्ट हो गए और कांग्रेस से अपने को अलग कर लिया यहीं से

वामपंथी विचारधारा का प्रभाव कांग्रेस में बढ़ने लगा और दक्षिणपंथी गांधीवादी विचारधारा गिरती गई। इस पर आंशिक रूप से मार्क्सवाद का भी प्रभाव था। वैसे तो प्रेमचंद रूसी राज्य-क्रांति के बाद से ही साम्यवादी बोलशेविज्म के प्रति काफी आकृष्ट हो गए थे, पर सीमाएँ उन्हें खुलकर उधर जाने नहीं देती थी—अन्यथा वे प्रेमशंकर को अमरीका से आया हुआ न मानकर रूस से आया मानते। किन्तु जब कांग्रेस में ही उनकी बढ़ती हुई अधीरता और उग्रता के अनुरूप समाज-वादी पार्टी आ गई, तब वे उसके साथ हो लिए। १९३४ मे इसीलिए 'जागरण' को समाजवादियों को सौप दिया। विविध प्रसंग में उन्होंने स्वीकार किया—"भारत जैसे देश में जहाँ आबादी का बड़ा हिस्सा गरीबों का है जिनमें पढ़े-अनपढ़े सब तरह के मजूर है; सोशलिज्म के सिवा उनका आदर्श हो ही क्या सकता है ? अगर आज कांग्रेस पार्टी का रेफरेंडम हो, तो ख्याल है बहुमत सोशलिज्म का होगा— पर उसके एक ही दो कदम पीछे कम्युनिज्म भी नजर आयगा।"भारतीय डेमोक्रेटिक सोश-लिज्म एकदलीय तंत्र नहीं है – जबकि रूसी सोशलिज्म एकदलीय है। इसी प्रकार वह गांधीवाद से भी भिन्न है। गांधीजी कहते हैं–"समाजवादी और मुझमें यह बड़ा भारी भेद है। उनका सिद्धान्त यह है कि पहले सारी दुनियाँ को अपने ख्याल का बना लें और फिर सब लोग वह करें। एक-एक के आचरण करने की कोई बात उनकी योजना में नहीं है। अहिंसा का मार्ग यह नहीं है—उसका प्रारम्भ व्यक्तिगत आचार से होता है।"

प्रेमचंद जी की गांधी जी के 'हृदय-परिवर्तन' से आस्था नहीं उठी, आस्था उन लोगों से उठी जो महात्मा गांधी की तरह महात्मा नहीं, मनुष्य थे। उन्होंने साफ-साफ कहा है—"अगर महात्मा गांधी की भाँति सभी कांग्रेस मैन या कम से कम उसके नेता ही सच्चे सत्याग्रही होते और मन में बिना हिंसा या प्रतिकार का भाव आये, शत्रु से प्रेम करते हुए उसकी नीति का विरोध कर सकते, तो उसकी अवश्य विजय होती, क्योंकि गवर्नमेण्ट के अधिकारियों पर उनकी तपस्या का असर पड़ता और आत्महीन गवर्नमेण्ट में भी कहीं न कही से चेतना उत्पन्न हो जाती, पर कांग्रेस मैन मनुष्य हैं, तपस्वी नहीं और उनकी अहिंसा अपनी असमर्थता के ज्ञान से पैदा हुई है—इसलिए उसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है।"

"अब तो फैसला सम्पूर्णतः भौतिक क्षेत्र में होगा। अगर हम कोई ऐसी व्यवस्था निकाल सके जिससे नौकरशाही को ठेस लगे, तो हमारी विजय है, अन्यथा रस्सा खींचने वालों की भाँति जहाँ हारने वाला लक्ष्य से दूर होता जाता है—हम भी लक्ष्य से दूर होते जायेंगे।"

१९३३ मे प्रेमचन्द यह भी कहते हैं कि समाजवाद पश्चिम में अपने कार्यक्रम और दृष्टिकोण दोनों ही में विध्वंसात्मक है। पश्चिम में समाजवाद की प्रगति देखकर ही यह नतीजा निकालना ठीक नहीं। क्या यह जरूरी है कि योरोप के समाजवाद ने जिस नीति को अपनाया, उसे भारत भी अपनाए ? योरोप में जैसी परिस्थिति है, वैसी भारत मे नहीं है। यहाँ ता वेदान्त के एकात्मवाद ने पहले ही से समाजवाद के लिए मैदान साफ कर दिया—हमें उस एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है। जब सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का निवास है, तो छोटे-बडे, अमीर-गरीब का भेद क्यों ? फिर उसी वर्ष ३३ में विरुद्ध बोलते हुए भी नजर आते हैं—"वेदान्त ने एकात्मवाद का प्रचार करके एक-दूसरे ही मार्ग से इस लक्ष्य पर पहुँचने की चेष्टा की। उसने समझा कि समाज के मनोभाव को बदल देने से ही यह प्रश्न आप ही आप हल हो जायगा, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने कारण का निश्चय किये बिना ही कार्य का निर्णय कर लिया जिसका परिणाम असफलता के सिवा क्या हो सकता था। हजरत ईसा, महात्मा बुद्ध आदि सभी प्रवर्त्तकों ने मान-सिक और आध्यात्मिक संस्कार से समाज का संगठन बदलना चाहा। हम यह नहीं कहते कि उनका रास्ता गलत था। नहीं, शायद वही रास्ता ठीक था, लेकिन उसकी असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसने अर्थ को नगण्य समझा। अन्तर्राष्ट्रीयता, एकात्मवाद या समता तीनों मूलतः एक ही है। उनकी प्राप्ति के दो मार्ग हैं—एक आध्यात्मिक, दूसरा भौतिक। आध्यात्मिक मार्ग की परीक्षा हमने खूब कर ली। जब तक संपत्ति पर से व्यक्तिवाद का अन्त न होगा, संसार को शान्ति नहीं मिलेगी।

इस प्रकार प्रेमचन्द ने रचनाओं के माध्यम से या साक्षात् जितना जो कुछ कहा, सोचा और विचारा है, उससे उनके विचारों पर गतिशीलता का स्पष्ट आभास मिलता है। इन अभिव्यक्तियों

में उनके संस्कार और बुद्धि का संघर्ष अन्त तक लक्षित होता है। उनका संस्कार अभीष्ट 'समता' की स्थापना के लिए 'हृदय-परिवर्तन' के आध्यात्मिक और व्यक्तिवादी समाधान का तहेदिल से खण्डन करने में हिचकता था और मानता था कि यह रास्ता गलत नहीं है, पर उसके लिए जिस आध्यात्मिक बल की अपेक्षा है—वह गांधीजी को छोड़कर और है किसमें ? कितने लोग हैं जो सामने खड़ी साम्राज्यवादी ताकत के मानस को यह एहसास दिला सकें कि सत्याग्रही उससे प्रेम करता है और उसकी दुर्नीतियों का विरोध करता है। विदेशी ताकत आध्यात्मिक बल के अभाव में उसे असमर्थ अहिंसा समझती है—फलतः न वह प्रभावित होती है और न उस अस्त्र का कोई प्रभाव हो सकता है। अर्थात्, हृदय-परिवर्तन हो सकता है। या तो इस अस्त्र का प्रयोग आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति कर सकता है या सर्वात्मना समर्पित समष्टि कर सकती है जो बुद्धिगत स्वाभाविक विषमता के कारण संभव नहीं है। स्वयम् उनके भक्त नेहरू ही विचारों में विभक्त थे और समाजवादी विचारधारा की ओर उन्मुख थे—मार्क्सवाद से प्रभावित समाजवादी समाधान का इस्तेमाल करना चाहते थे। इसीलिए उनके निर्देशन में चलने वाली कांग्रेसी ताकत ने जब समाजवादी समाधान का नारा दिया, तब गांधी ने अपना सम्बन्ध कांग्रेस से तोड़ लिया। अन्ततः उन्हें भौतिक समाधान का ही रास्ता पकड़ना पड़ा। उन्होंने देखा कि सृष्टि में सुदूर परम्परा से चलती चली आ रही आध्यात्मिक पद्धतियों से देश की विषमता नहीं गई—हो सकता है कि इससे व्यष्टि का कल्याण हुआ हो, पर समष्टि का कल्याण नहीं हुआ। विचारधारा वास्तव में उतनी दोषी नहीं है जितना उसका वाहक मनुष्य का स्वभाव—निम्नगामी स्वभाव दोषी है। कौन-सी ऐसी आध्यात्मिक विचारधारा है जो 'आसक्ति' या व्यक्तिवादी परिग्रह का निषेध नहीं करती और दुनियाँ की ऐसी कौन-सी विचारधारा है जो 'आसक्ति' या सम्पत्ति के प्रति व्यक्तिगत राग का समर्थन करती है और फिर भी विषमता का विरोध करती है—पर इससे मानवता का हुआ क्या ? आध्यात्मिक विचारधारा हो या साम्यवादी विचारधारा हो—इस बिन्दु पर दोनों सहमत हैं कि 'समता' होनी चाहिए और इसका मूल रोग है—सम्पत्ति के प्रति व्यक्तिगत राग। समस्या कार्यान्वियन के माध्यम का है और माध्यम हैं तीन—रक्तक्रांति से व्यक्ति के सम्पत्तिवाद को 'आसक्ति' को, दबा देना या समाप्त कर देना, दूसरा एक तरह का विचार फैलाकर सबको एक विचार का बना लेना और फिर उसे कार्यान्वित करना, या तीसरा व्यक्तिशः जितना सम्भव हो, सुधरते जाना। एकदलीय शासन दबाता है और विषमता-विरोधी व्यवस्था कायम करता है। दबाने से सम्भव है कि वह कभी स्वभावतः विरोध करे। सभी दलों को विचार-स्वातंत्र्य का मौलिक अधिकार देकर यह आशा करना कि सभी एक विचार के हो जायेंगे—दुराशा ही है। यही स्थिति 'हृदय-परिवर्तन' की पद्धति की भी है। प्रेमचन्द जी कहते हैं कि जिस प्रकार तुलसीदास जी की मानस-निर्माण में प्रवृत्ति हुई थी, उसी प्रकार समष्टिहित की भावना से चित्त संस्कृत हो जाता है और व्यक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति के अर्जन में व्यक्तिगत राग जैसे प्रेरणा देता है, वैसे ही समष्टिगत राग भी प्रेरक हो सकता है। बात तो बहुत ही उत्तम है, पर प्रकृति मनुष्य को जितना जैसा रागांध पैदा करती है, पर वे सभी तुलसीदास बन जायँ तो क्या बात है ? तुलसीदास बन जाने के बाद कौन-सी समस्या है ? सारी समस्या तो उस तरह बनने की है। अहिंसा समर्थ की शक्ति है, असमर्थ की नहीं और यह सामर्थ्य आध्यात्म-बल है। हिंसा असमर्थ लोगों का भौतिक बल है—हम सब अधिकांश इसी भूमि के हैं—समष्टि के स्तर पर यही होता आया है—प्रेमचंद आध्यात्मिक बल के अभाव में इसी दिशा की बात सोचते हैं और महाजनी सभ्यता को निःशेष करने वाली बोलशेविक पद्धति की ओर मुड़ते हैं। लेकिन जैसे अध्यात्मवादी आचार-विचार तथा आस्था की तह तक जाने में उनकी बुद्धि असमर्थ रह जाती है, वैसे ही यथार्थवाद की तह में पहुँच हृदय से सर्वात्मना अनुमोदन करने में भी वे असमर्थ हैं। इस तरह न वे पूर्णतः गांधीवादी है और न पूर्णतः साम्यवादी। उनका गांधीवाद है 'चेंज ऑफ हार्ट' तक और साम्यवाद 'शोषण की समाप्ति' तक। संस्कार उनके लिए परम्परागत है, अतः 'हिंसा' का मुक्त समर्थन नहीं है और बुद्धि अन्य उपायों को अव्यावहारिक समझकर 'हिंसा' के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं देखती। बीच का रास्ता 'समाजवादी' है जो एकदलीय शासन में विश्वास नहीं रखकर सर्वदलीय स्वातन्त्र्य का पक्षधर है। रास्ता वैचारिक क्रांति का पकड़ना है। नेहरू जी शक्तिसम्पन्न समूह के हृदय-परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते थे। वे इसे व्यक्तिगत ही मानते थे और वह भी कभी-

कभी। उन्होने भी हृदय परिवर्तनवाद से हटकर समाजवादी समाधान को महत्त्व दिया। प्रेमचन्द की विचारधारा इसी क इद गिद चक्कर मार रही थी।

यह सही है कि गांधी का मार्ग व्यक्ति-साध्य है, समष्टि अथवा शासन द्वारा उसकी व्यावहारिकता सम्भव नहीं है। यह भी सही है कि उनका मार्ग देवताओं का है और प्रेमचन्द मनुष्य हैं, जवाहरलाल मनुष्य हैं—पर इससे क्या यह निष्कर्ष निकाला जाय कि आत्मवाद पर आधारित 'हृदय-परिवर्तन' का आदर्श निरर्थक, निराधार, असंगत और अग्राह्य है ? पूंजीपतियों के विषय में यह कहना कि उनसे शोषितों के रक्षण और संवर्धन की प्रत्याशा खाल की कुत्ते से रखवाली करने की प्रत्याशा है– मनुष्यता से विश्वास का उठ जाना नहीं है ? मनुष्य कुत्ते से भी बदतर है, पर कुत्ते से ऊपर उठने की भी संभावना है। क्या इस संभावना को शत-प्रतिशत निःशेष मान लिया जाय ? क्या प्रेमचंद का यही पक्ष है ?

मैं यह नहीं मानता कि संसार जब तक है, तब तक कोई ऐसी भी स्थिति आ सकती है जब केवल अच्छाई ही अच्छाई हो –बुराई हो ही नहीं। विश्व का चिन्तन और अपना अनुभव बताता है कि संसार सत् और असत् के ताने-बाने से बना हुआ है। यहाँ एकान्ततः 'सत्' या 'एकान्ततः 'असत्' का अस्तित्व संसार के रहते असंभव है—इसीलिए यह मानना कि केवल करुणा और प्रेम से ही संसार चल जायगा अथवा एक ऐसी स्थिति आ जायगी जब सारी समष्टि अपरिग्रही हो जायगी और तृप्त भी, कहीं किसी तरह का संघर्ष न होगा, राज्य की आवश्यकता न होगी, शासन निष्प्रयोजन होकर निःशेष हो जायगा सही नहीं है। महर्षि अरविन्द का 'अतिमानव'-परक सिद्धांत सही भी हो, तो भी हम 'मानव के संदर्भ' की बात कह रहे हैं—यह ध्यातव्य है। यहाँ कुछ भी निरपेक्ष नहीं है—संसार द्वंद्वमय है। यहाँ काँटे भी हैं और फूल भी हैं, सुख भी है, दुःख भी है—हास भी है, रुदन भी है; करुणा भी है, क्रोध भी है। प्रकृति ने हमारे अंतस् में दोनों भाव दिए हैं—फलतः उन दोनों की सार्थकता है, उन दोनों की उपयोगिता है—दोनों का विधान प्रकृति ने लोकमंगल के लिए किया है। अतः टालस्टाय या गांधी का एकांगी सिद्धान्त व्यक्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी समष्टि की दृष्टि से अव्यवहार्य है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी यह बात सर्वथा अस्वीकार्य है कि हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त गलत है—ऐसा मानना 'मनुष्यता' पर से विश्वास का उठ जाना है। कुत्ता और मनुष्य एक नहीं है। जो लोग गांधीजी के इस सिद्धान्त को सर्वथा गलत मानते हैं—वैज्ञानिक विकासवाद भी उनका साथ किस तरह दे सकता है ? विकास की इस महायात्रा में मानव-स्तर पर विकसित चेतना की लोकमांगलिक संभावनाएँ किस प्रकार अमान्य हो सकती हैं ?

प्रेमचन्द यह मानते हैं कि सौन्दर्य सामंजस्य में है और साहित्य इसी सामंजस्य का प्रकाशन करता है। प्रेमचन्द ने कहा है कि चिड़ियों का चहचहाना, नदियों का कलकल निनाद, प्रातःकालीन प्राची पटल की अरुणप्रभा—ये सब हमें इसीलिए सुन्दर लगते हैं कि इनमें एक हारमनी है—एक सामंजस्य है। हमारा निर्माण में भी अनेक तत्त्वों के सामंजस्य में निहित है। अतः जहाँ सामंजस्य या आनुरूप्य लक्षित होता है, वहाँ सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। सामंजस्य-विरोधी तत्त्वों के समन्वय में ही लक्षित होता है—अतः विरोधी तत्त्व करुणा के साथ क्रोध का भी उपयोग सामंजस्य की भूमिका पर किया जाय तो अपेक्षित लोकमांगलिक सौन्दर्य शतमुख प्रस्फुटित होगा। हाँ, विरोधी भावों में अविरोध या सामंजस्य को उजागर करने में व्यापक रागतत्त्व का अस्तित्व होना चाहिए। यह 'स्नेह' ही है जो परस्पर-विरोधी अग्नि और वर्तिका के विरोध को शांत कर लोकमांगलिक प्रकाश-विकीर्णन का माध्यम बना देता है। वैसे ही व्यापक रागतत्त्व का विधान तो आवश्यक है, पर उसके वक्षस् पर विरोधी भावों का भी विधान व्यवहार की दृष्टि से समुचित है। गांधीजी की हिंसा और टालस्टायपक्षी क्रिश्चियन हिंसा मे अन्तर भी है। गांधीजी ने कश्मीर पर हुए आक्रमण का उत्तर हिंसात्मक प्रत्याक्रमण से देने में अपनी सहमति दी थी। वास्तव में मारना या न मारना हिंसा का वास्तविक स्वरूप नहीं है; वास्तविक स्वरूप है– अनासक्तिपूर्वक लोकमंगलोपयोगी कार्य का सम्पादन। अनासक्ति ही अहिंसा है और आसक्ति हिंसा। मानवता को क्लेश या उसका शोषण 'आसक्ति' के कारण होता है। यदि मानव की क्रिया लोकमंगल में व्यष्टिमंगल को डुबाकर कार्य

सम्पादन करे, तो वास्तविक अहिंसा है। यह अहिंसा अपने विध्यात्मक रूप में व्यापक प्रेम ही है। अतः 'आसक्ति' को हटाना मुख्य है—यही 'हृदय-परिवर्तन' है। आत्यंतिक रूप मे क्लेश का समुच्छेद इसी से सम्भव है। इसलिए यह कहना कि गांधीजी पूंजीपति वर्ग के हितों के प्रच्छन्न रक्षक और बूर्जुवा वर्गीय चिन्तन के प्रतिनिधि थे, कृषकों और मजदूरों के विरोधी थे—विचारणीय है। यह सही है कि कांग्रेस के अन्तर्गत या उससे बाहर जब वे कृषकों या मजदूरों के हिंसक संगठन को देखते थे, तो उसका विरोध करते थे और उससे अपने को पृथक् कर लेते थे। इसका यह मतलब नहीं कि वे संगठन के विरोधी थे, न ही हिंसक संगठन के विरोधी थे। हिंसा को वे पशुबल मानते थे। अहिंसा उनकी दृष्टि में सर्वथा अपराजेय आत्मबल था। लोकमंगल या राष्ट्रमंगल के लिए की जाने वाली हिंसा अहिंसा है, क्योंकि वहाँ प्रेरक वैयक्तिक अनासक्ति है जो अहिंसा की अंतरात्मा है। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि फिर तो रक्त-क्रांति मे विश्वास रखने वाले मार्क्सवादियो का वही सिद्धान्त अहिंसा सिद्धान्त हुआ जिसमें—कहा जाता है कि यह उद्देश्य की सात्त्विकता है जो साधन की सात्त्विकता निर्धारित करती है। साधन साध्य-निरपेक्ष होकर पवित्र या अपवित्र नहीं होता। नहीं, दोनो में अंतर है—पहला आत्मवाद में आस्था रखकर सबमें एकता देखता है और साथ ही मनुष्यता मे भी विश्वास रखता है, जबकि दूसरा न आत्मवाद में विश्वास रखता है और न ही मनुष्यता मे। उसकी सारी आस्था समाज के एक विशेष प्रकार की शोषणहीन व्यवस्था में है—सर्वहारा वर्ग के हाथ मे सत्ता दिलाकर एकदलीय तंत्र के द्वारा उत्पादन और वितरण के एकाधिकार को हाथ में ले लेने में है—व्यक्ति-संपत्तिवाद के हिंसक क्रांति पर आधारित समुच्छेद में है, विरोधी स्वर के दबा देने में है। उनका दृढ विश्वास है कि पूंजीपति वर्ग का हृदय किसी भी स्तर पर किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित हो ही नहीं सकता। अतः राष्ट्र के कल्याण के लिए उचित-अनुचित सब कुछ किया जा सकता है और चूंकि कल्याण राष्ट्र का है, अतः साधन के अनुचित होने का प्रश्न ही नही उठता।

गांधीजी मानवीय सम्भावना पर विश्वास रखते है, अतः लोकमंगल-विरोधी तत्वों को राह पर लाने के लिए नैतिक-वैचारिक प्रक्रिया अपनाने का संदेश देते हैं। आत्मबल से हीन समष्टि या शासन हिंसा का मार्ग अनिवार्यता की स्थिति में या परिस्थिति-विशेष में अपना सकता है—पर तदर्थ एकमात्र हिंसक क्रांति का ही विकल्प है—वे यह नहीं स्वीकार करते। हिंसा से पूंजीपति शोषकों को संरक्षण देना और ट्रस्टीशिप का लुभावना सिद्धान्त बताना अप्रत्यक्ष रूप से पहले शोषण और बाद में दया दिखाने का नाटक है—क्यों न ऐसी प्रक्रिया अपनाई जाय कि राष्ट्र में अमीर और गरीब का भेद ही समाप्त हो जाय ? यह तर्क भी दिया जाता है। तर्क सही लगता है, पर यह भेद क्या अमीरों की एकसाथ हत्या करके ही मिटाया जा सकता है और कोई रास्ता संभव ही नही है ? तमाम रियासतों का विलयन हुआ—क्या वह रक्तक्रांति के माध्यम से हुआ ? क्या ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भारत को रक्तक्रांति के भय से छोड़ा या रक्तक्रांति से छोड़ा ? लोकमत से सब संभव है यदि एक व्यापक वैचारिक क्रांति से धीरे-धीरे विरोधी लोकमत और माहौल बन जाय और राष्ट्र का बड़ी जनशक्ति एक तरफ हो जाय—तो क्या यह भेद समाप्त नहीं हो सकता ? एक बड़ी जनशक्ति के चाहने पर क्या नही हो सकता ? क्यो आज विश्व की शक्तियाँ अपनी मेजारिटी (बहुमत) चाहती हैं ? हिंसक अस्त्रो की वर्तमान प्रगति इतनी है कि उसके बल पर अमीर-गरीब का भेद तो समाप्त नहीं होगा—हाँ, यह हो सकता है कि कोई पृथिवी पर रह ही न जाय। फलतः इस भेद-समाप्ति का मार्ग वैचारिक क्रांति का ही होना चाहिए और उसका समर्थन देने वाली एक बृहद् जनशक्ति होनी चाहिए। वैसे गांधीजी तो व्यक्ति के ही स्तर से मानवहित की दिशा में अग्रसर होने के पक्षधर हैं जो समाज और शासन के स्तर पर एक ऐसी तपस्या है जिसके लिए हर व्यक्ति और समूचे शासनतंत्र से गांधी होने की अपेक्षा करती है और यह एक अव्यावहारिक स्वप्न है। इसीलिए गांधी व्यक्ति के प्रति आस्थावान् होते हुए भी वे मध्यमार्ग के पक्षधर ही रहे थे।

कोठी रोड
उज्जैन

प्रथम कथा-युग

□

श्री बटरोही

"एक बूढा मनुष्य जिसकी कमर बुढ़ापे से झुक गई कुबड़े की भांति हाट में चला जा रहा था एक मसखरे ने पूछा बड़े मियां का ढूंढते हो बूढ़े ने जवाब दिया बेटा मेरी जवानी खो गई है उसी को ढूंढता हूँ मसखरे ने कहा कि बड़े मियां झूठ क्यों बोलते हो यों क्यों नही कहते कि कबर के लिये जमीन ढूंढ़ता हूँ।'[1]

× × ×

' किसी महफिल में एक काली कलूटी रंडी नाच रही थी जब नाच चुकी, किसी ने पूछा बीवी आपका इसमेशरीफ क्या है बीबी ने उत्तर दिया कि जनाब बन्दी को मिसरी कहते हैं फिर मियां ने कहा किस बेवकूफ ने आपका नाम मिसरी रख दिया तुम तो शीरा हो बीबी ने हंसकर उत्तर दिया कि खैर साहब आपकी हम शीरा ही सही।"[2]

× × ×

"सिर पर लाल-लाल या काला-काला सरपोश उस पर दुम मुँह में एक जलता हुआ सरपोश उस पर फलीता हाथ में कुबड़ी साथ में कुत्ता बदन में जाकट पैरों में तोबड़ा कालों से नफरत गोरों से उलफत मुँह मे सुअर गड्डाम पाँचों में नाम गुडमार्निंग बजाय सलाम अपने मतलब से काम नई रोशनी की पहचान इस सब का अंजाम।"[3]

× × ×

हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी और हिन्दी कहानी की आरम्भ तिथि को लेकर लम्बे समय से विवाद चलता रहा है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' को शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' की छाया माना है। कहानी के कतिपय शोधार्थियों ने, जिनमें डॉ० लाल भी सम्मिलित है, 'ग्यारह वर्ष का समय' (रामचन्द्र शुक्ल) को प्रथम मौलिक कहानी माना है, यद्यपि अन्य अनेक ने उसे कहानी के मूलभूत स्वरूप से काफी दूर माना है। इधर प्रकाशित कुछ ग्रंथों में हिन्दी कहानी की मौलिक विकास-यात्रा 'उसने कहा था' से मानी गई है।[4] हिन्दी कहानी-विषयक यह विवाद यों तो विशेष अर्थ नहीं रखता, किन्तु विधागत अध्ययन की दृष्टि से कोई-न-कोई बिन्दु तो निश्चित करना ही होगा। इस बात का महत्त्व इसलिये भी है कि हिन्दी में 'कहानी' से सम्बद्ध कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं जिन्हें एकसाथ कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता रहा। इनमें से एक शब्द 'कथा' है। क्या 'कथा' शब्द 'कहानी' का पर्याय है? हिन्दी की अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ 'कहानी' के लिये 'कथा' शब्द का प्रयोग करती हैं। 'कथा' शब्द, किसी रचना में निहित कौतूहलपूर्ण घटनाक्रम को भी कहा जाता है। रचना के मूल भाव को भी 'कथा' कहा जाता है (जैसे यह पूछना कि फलाँ फिल्म/उपन्यास/नाटक की कथा क्या है?) स्कूलों, कालेजों में बहुधा 'कथा' को 'कथानक' का पर्याय मानकर उत्तर प्रस्तुत किया जाता है और इस सबके अतिरिक्त घटनाक्रम को (निस्सन्देह सोद्देश्य वितरण को) 'कथा' कहा ही जाता है (जैसे सत्यनारायण की कथा, सन्तोषी माता की कथा आदि)। इधर लघु-कथा नामक विधा (?) को स्थापित करने की होड़ दिखाई दे रही है। इस विवाद में पड़ना यहाँ पर असंगत है, किन्तु किसी भी विधा पर बात करने से पहले यह आवश्यक है कि उस विधा का तात्त्विक स्वरूप निश्चित कर लिया जाय। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि हिन्दी के एक भी समीक्षक/आलोचक ने कहानी या कि गद्य की किसी भी

विधा के विधागत स्वरूप को निश्चित करने की कोशिश नहीं की है। आधुनिक आलोचकों में डॉ० नामवर सिंह ने अपने एक साक्षात्कार में यह बात अवश्य उठाई है, किन्तु उन्होंने भी अपनी अब तक प्रकाशित पुस्तकों में कहानी की मूलभूत शर्तें (शास्त्रीय शब्दावली में तत्व) वही माने हैं जो किसी भी रचना के होते हैं। दरअसल, गद्य की विविध विधाओं के उन्मेष के बाद भी साहित्यशास्त्रियों का मुख्य ध्यान कविता की ओर था—कारण स्पष्ट थे—कविता आरम्भ से ही हिन्दी साहित्य की केन्द्रीय विधा रही है, इसलिये बहुत लम्बे समय तक गद्य की किसी भी विधा को साहित्यिक स्वीकृति नहीं मिल सकी। निबन्ध को विचार-विश्लेषण-प्रधान विधा होने के कारण तथा नाटक को विधा के रूप में विरासत में मिली संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि के कारण मान्यता मिल गई, किन्तु उपन्यास-कहानी को वह मान्यता अब तक नहीं मिल सकी जो कि उसे मिलनी चाहिये।[४] ऐसे 'भीम-स्वरूप' दिग्गज आज भी बड़ी मात्रा में हैं जो कहानी का मूल तत्त्व रस मानते हैं और हडसन का भरत के सन्दर्भ में अतीतोन्मुख रोचक मूल्यांकन भी करते दिखाई देते है। यथा, कथानक और क्या, रस का परिपाक ही तो है—आरम्भावस्था, प्रयत्नावस्था, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। (डॉ० नगेन्द्र जैसे लोग इसे थोड़ा और आगे बढ़ा देते हैं—रस न कहिये, अनुभूति कह लीजिये।) उसी तरह पात्रों के वर्गीकरण भी उनके पास मौजूद हैं—धीरोदात्त, धीरललित आदि और कथानक तथा पात्रों को जब विभाव-अनुभाव, आश्रय-आलम्बन सिद्ध किया जा सकता है तो कथोपकथन, वातावरण, भाषा-शैली आदि को व्यभिचारी, संचारी भाव तो आसानी से सिद्ध किया ही जा सकता है। (इस प्रकार भरत के सूत्र-मात्र से कहानी की समीक्षा की जा सकती है।) कहानी के शास्त्रीय पक्ष से सम्बद्ध इस उदासीनता का एक प्रमाण यही है कि हडसन के द्वारा प्रयुक्त शब्द 'करेक्टराइजेशन' हिन्दी में न जाने कितने वर्षों से गलत अर्थों में चरित्र-चित्रण के रूप में चल रहा है—यह जानते और बार-बार लिखते हुए कि कहानीकार एक रचनाकार है जो चित्रण नहीं करता, पात्रों की सृष्टि करता है, वह सृष्टि में विद्यमान पात्रों जैसे ही चरित्रों को जन्म देता है। लेकिन निश्चय ही वह अपनी रचनाओं के पात्रों का पिता है—मात्र मित्र नहीं। संक्षेप मे 'करेक्टराइजेशन' 'चरित्रीकरण' या 'चरित्र-सृष्टि' है—'चरित्र-चित्रण' नहीं। बहरहाल, यह एक पृथक् विषय है।

राजेन्द्र यादव के इस कथन में कि 'मैं कहानी को आदि विधा मानता हूँ'—संशोधन की आवश्यकता है। कहानी आदि विधा नहीं है, वह विधा के रूप में लगभग सम्पूर्ण विश्व में गद्य के आविर्भाव के बाद प्रकाश में आई है। सम्भवत: उक्त कथन में राजेन्द्र यादव का आशय 'कथा' से है क्योंकि, जैसा कि संकेत दिया जा चुका है, कथा प्रत्येक रचना में विद्यमान होती है, मगर एक विधा के रूप में नहीं, वरन् विधा के एक अनिवार्य उपकरण के रूप में। विधा रचना का एक स्वायत्त स्वरूप है और एक स्वायत्त स्वरूप को किसी दूसरे स्वायत्त स्वरूप के साथ मिलाकर उनकी स्वायत्तता को बनाये नहीं रखा जा सकता। इस सन्दर्भ में कथाकार डी० एच० लारेन्स ने उपन्यास का हवाला देते हुए बड़ी अच्छी बात कही है : "आप हर अन्य विधा को धोखा दे सकते हैं। कविता धर्म-विषयक होने पर भी कविता ही रहेगी। 'हैमलेट' ड्रामा ही हो सकता है। यदि उस पर उपन्यास लिखा जाय तो वह आधा हास्यास्पद और आधा संदेहास्पद लगेगा—दोस्तोएवस्की के 'ईडियट' की तरह। कविता या नाटक में आप नीचे की जमीन को कुछ ज्यादा ही अच्छी तरह साफ कर देते हैं और मनुष्य के सतही विचारों को कुछ अधिक ही स्वतन्त्रता मिल जाती है। उपन्यास में हमेशा ही एक काली टॉम बिल्ली होती है जो सामयिक मूल्य-रूपी श्वेत कपोत को, यदि वह सतर्क न हो—दबोचने के लिये तैयार रहती है। फिसलने के लिये एक केले का छिलका भी पड़ा होता है और पास ही शौचागार भी।"[६]

कथा का एक रूप तो वह है जो सभी विधाओं में विद्यमान होता है, चाहे महाकाव्य हो या नाटक, उपन्यास हो या निबन्ध अथवा कहानी हो या संस्मरण, रिपोर्ताज, डायरी, आत्मकथा आदि।

कथा की रचना में अन्तर्निहित इस स्वरूप को विधा के रूप में स्थापित करके कहानी का पर्याय मानना निश्चय ही असंगत होगा। कुछ समय से 'कथा-साहित्य' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'फिक्शन' के पर्याय रूप में किया जाने लगा जिसमें दो विधाएँ उपन्यास और कहानी का समावेश किया जाता है। यह विभाजन मेरी दृष्टि में उपयुक्त है क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कहानी, उपन्यास के अधिक निकट है। अतः उपन्यास-कहानी की एक कक्षा के रूप में 'कथा-साहित्य' शब्द-युग्म का प्रयोग किया जा सकता है। इस रूप में साहित्य के वंशवृक्ष को समझना भी आवश्यक है क्योंकि विधा की स्वायत्तता को समझे बिना बहुधा अनेक विधाओं का घालमेल प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। ज्ञान या वाङ्मय से कालान्तर में उत्पन्न साहित्य के वंशवृक्ष को इस रूप में समझा जा सकता है—
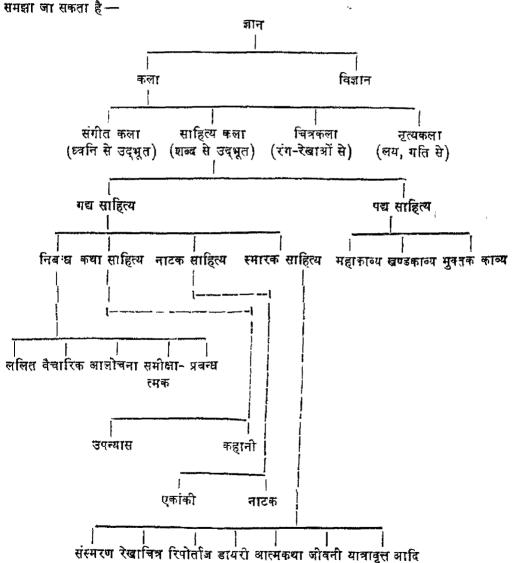
उक्त वंशवृक्ष को कथा-तत्त्व की दृष्टि से देखें तो कला के प्रत्येक रूप में कथा विद्यमान होती है: संगीत, चित्रकला और नृत्यकला में भी। अतः, कथा-जैसे व्यापक शब्द को, जो रचना-मात्र में अन्तर्निहित तत्त्व है, एक विधा के रूप में स्थापित किया जाना उपयुक्त नहीं होगा।

× × ×

प्रेमचन्द-पूर्व कहानी के संदर्भ में उक्त विवरण कुछ हद तक अतिरिक्त लग सकता है, किन्तु हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी को लेकर जो विवाद प्रस्तुत किया जाता है, उसे उक्त प्रकार के विधागत स्वायत्तता के स्वरूप को समझकर आसानी से विश्लेषित किया जा सकता है।

हिन्दी की प्रथम कहानी की दावेदार के रूप में जिन कहानियों का उल्लेख किया जाता है, वे हैं—'रानी केतकी की कहानी' (इंशा अल्ला खाँ), 'देवरानी जेठानी की कहानी' (पं० गौरीदत्त), 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' (अपूर्ण) (भारतेन्दु), 'राजा भोज का सपना' (शिवप्रसाद सितारे-हिन्द), 'इन्दुमती' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'टोकरी भर मिट्टी' (माधवराव सप्रे), 'ग्यारह वर्ष का समय' (रामचन्द्र शुक्ल), 'दुलाईवाली' (बंग महिला) और अन्य अनेक कहानियों के बाद 'उसने कहा था' (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी)। प्रथम कथा-युग के अन्तर्गत कुछ चुनी हुई कहानियों का उल्लेख करना किंचित् अटपटा लग सकता है क्योंकि उक्त सूची में इस युग की प्रथम रचना से लेकर अन्तिम रचना तक का उल्लेख किया गया है। रचनाओं का यह उल्लेख अब तक विभिन्न पुस्तकों में उल्लिखित प्रथम मौलिक कहानी-विषयक विवाद के अन्तर्गत उद्धृत कहानियों के आधार पर किया गया है। पहले ही इस बात का उल्लेख कर चुका हूँ कि कथा और कहानी में हमें अन्तर करना होगा। बहुधा कौतूहलपूर्ण घटनाक्रम को कहानी मान लिया जाता है। इसलिये जब भी इस प्रकार की कोई रचना किसी समीक्षक अथवा साहित्यिक इतिहासकार को मिली है, उसे उसने कहानी घोषित करते हुए प्रथम हिन्दी कहानी का दर्जा प्रदान करने की कोशिश की। यदि इस प्रकार के कौतूहलपूर्ण घटना-विवरण को हम कहानी मानने लगें तो 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित 'गप्पाष्टकों' को (जिन्हें लेख के आरम्भ में उद्धृत किया गया है) हमें कहानी मानना होगा। 'हिन्दी प्रदीप' तथा उसकी अन्य समकालीन पत्रिकाओं में इस प्रकार के 'गप्पाष्टक' बड़ी मात्रा प्रकाशित हुए हैं। इन्हें कहानी मानने के पीछे एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि इन दिनों भी 'लघुकथा' के नाम पर छोटी-छोटी कौतूहलपूर्ण घटनाक्रम-प्रधान रचनायें लिखी जाती हैं। 'गप्पाष्टक' प्रायः उसी प्रकार की रचनायें हैं, किन्तु कहानी का जो अपना विशिष्ट विधागत स्वरूप है—उसके साथ ऐसी रचनाओं का दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है। इतना कहा जा सकता है कि इन रचनाओं में कथा-तत्त्व विद्यमान है और कहानी विधा की पीठिका के रूप में इन रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार की रचनाओं का सम्यक् विकास भी हिन्दी गद्य-साहित्य मे नहीं दिखाई देता, अतः स्वतन्त्र विधा के रूप में इनका उल्लेख करना उचित नहीं होगा। अपनी पुस्तक 'कहानी : रचना-प्रक्रिया और स्वरूप'[७] में मैंने ऐसी रचनाओं के लिये 'आख्यानात्मक गद्य' शब्द का प्रयोग किया है जो मुझे आज भी उचित लगता है।

इंशा अल्ला खाँ की कृति 'रानी केतकी की कहानी' से लेकर 'देवरानी जेठानी की कहानी' तथा 'टोकरी भर मिट्टी' तक की रचनाओं को 'आख्यानात्मक गद्य' के अन्तर्गत ही उल्लिखित करना उचित होगा। 'रानी केतकी की कहानी' में घटनात्मक विवरण मुख्य है तथा वह मानव-अनुभव की किसी संवेदनात्मक इकाई की अभिव्यक्ति नहीं है। उसमें रोचकता है, कौतूहलपूर्ण घटनात्मक विवरण भी है, किन्तु यही दो बातें प्रस्तुत करना उसका उद्देश्य भी है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' (प्रकाशन वर्ष १८६८) को सम्पादित करते हुए डॉ० गोपाल राय[८] ने उसे हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास सिद्ध करने की चेष्टा की है। वास्तविकता यह है कि यह कृति उपन्यास या कहानी विधाओं के अन्तर्गत नहीं ली जा सकती है। डॉ० गोपाल राय का यह कथन उचित है कि इसमें पहली बार निम्न मध्य वर्ग की पारिवारिक स्थितियाँ चित्रित हुई हैं, किन्तु कथा का चुनाव ही

मात्र कहानी या कि उपन्यास को विधागत मान्यता देने के लिय पर्याप्त नहीं है इस कृति में निम्न मध्यवर्गीय परिवार के देवरानी-जेठानी, सास-बहू के बीच होने वाले वार्तालाप को एक ही साँस में आद्यन्त प्रस्तुत किया गया है जो रोचक और स्वाभाविक अवश्य लगता है, लेकिन कोई सार्थक प्रस्तुति-सा नहीं लगता ! एक उदाहरण देखिये—

"···और देवरानी को सुना-सुना चर्खा कातती जाती ताने मेहने और बोली छोली मारती जाती कि ले पीसे कोई और खावे कोई ऐसी लुगाई भी होती होगी और पीसना नहीं जानती होगी यों कहो मेहनत नहीं होती देवरानी चुपकी सुना करती कभी कुछ न कहती एक दिन उसने इतना कहा था कि जेठानी जी तुम्हारा कैसा स्वभाव है बाहर की लुगाइयो के सामने तो बोली ठोली की बात मत किया करो इसमें घर की बदनामी है······"[८]

'गप्पाष्टकों' और आख्यानात्मक गद्यों की परम्परा के बाद कहानी विधा के रूप मे सम्यक् और सटीक प्रस्तुतीकरण 'इन्दुमती' है जिसे अधिकांश विद्वानों ने हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी माना भी है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' में 'इन्दुमती' पर शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' का प्रभाव माना है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक लेखक की रचना में अनचाहे दूसरे लेखक की रचना का प्रभाव दिखाई देता है, दो लेखक बिना एक-दूसरे से प्रभावित हुए भी एक-जैसी अभिव्यक्ति प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं।

किन्तु यदि समानता है भी तो 'इन्दुमती' के कथ्य, उसके रचना-विन्यास आदि की दृष्टि से 'कहानी' विधा के अन्तर्गत उसे सहज ही लिया जा सकता है। विधा के रूप में 'ग्यारह वर्ष का समय' (पं० रामचन्द्र शुक्ल) कहीं ज्यादा कमजोर रचना है जिसे डॉ० लाल ने प्रथम मौलिक कहानी माना है। 'इन्दुमती' की समस्या यों प्रेम है, किन्तु कई बार लिखी गई इस समस्या का कथा-संगठन, चरित्र-सृष्टि और मानव-अनुभव की संवेदनात्मक इकाई का प्रस्तुतीकरण उसे कहानी के विधागत ढाँचे के काफी निकट ले आता है। निश्चय ही, आज की विकसित कहानी के आलोक मे देखने पर इस कहानी में अनेक कमियाँ दर्शायी जा सकती हैं। और सम्भवतः इस प्रकार 'उसने कहा था' से पूर्व की किसी भी कहानी का इस सन्दर्भ में उल्लेख नहीं किया जा सकता। मगर साहित्य के विकास-क्रम का अध्ययन करते हुए, आरम्भ में ही प्रत्येक दृष्टि से प्रौढ़ रचना की अपेक्षा करना उचित न होगा।

आरम्भ में हिन्दी कहानी के प्रथम युग का आरम्भ, इस प्रकार १९०० ई० से माना जाना चाहिये और प्रेमचन्द के आगमन तक इसकी सीमा। संयोग से प्रेमचन्द के आगमन से ठीक एक वर्ष पूर्व १९१५ ई० में हिन्दी की अत्यन्त प्रौढ़ एवं बहुचर्चित कहानी 'उसने कहा था' का प्रकाशन हुआ। अतः १९०० से १९१५ ई० तक का कहानी साहित्य 'प्रथम कथा-युग' के अन्तर्गत माना जाना चाहिये।

यह पूछा जा सकता है कि इस युग को 'प्रथम कहानी-युग' की अपेक्षा 'कथा-युग' नाम से क्यों पुकारें ? इस बात का उल्लेख कर चुका हूँ कि 'कथा-साहित्य' शब्द अब अंग्रेजी के 'फिक्शन' शब्द के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होने लगा है जिसके अन्तर्गत उपन्यास और कहानी, दोनों विधाओं को लिया जाता है। प्रेमचन्द से पूर्व गद्य साहित्य में दो ही विधाओं का सम्यक् विकास हुआ— निबन्ध और उपन्यास। कहानियाँ बहुत कम लिखी गईं और अधिकांशतः कहानीकार मूलतः या तो उपन्यासकार थे या फिर निबन्धकार। (अपवादस्वरूप कुछ कवि भी थे।) इस युग में उपन्यास और कहानी विधाओं का एकसाथ विकास भी हुआ। उपन्यास मुख्य था और कहानी

गौण। कोई भी लेखक स्वतन्त्र रूप से कहानीकार के रूप में नही दिखाई देता। कई कहानियाँ ऐसी मिलती हैं जिनमें उपन्यास का सफल कथानक चुना गया है और कई उपन्यासों में कहानी का-सा रचना-विन्यास भी दिखाई देता है। कहानीकारों में गुलेरी, वृन्दावनलाल वर्मा, सत्यदेव, गिरिजादत्त वाजपेयी आदि अनेक कहानीकार है जिन्होंने उपन्यास का फलक कहानियों में प्रस्तुत किया है तथा दूसरी ओर रामजीदास वैश्य (दिल का काँटा, धोखे की टट्टी), लालजी सिंह गहरवार आदि ने उपन्यासों में भी कहानी का-सा संक्षिप्त फलक चुना है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी कहानी के आरम्भिक विकास पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "बँगला में गल्प नाम से काफी पहले से कहानियाँ लिखी जा रही थी। ये कहानियाँ जीवन के बड़े मार्मिक तथा भावाभिव्यंजक खण्ड-चित्रो के रूप में होती थीं।"[१०] हिन्दी कहानी के उद्‌भव के पीछे निश्चय ही अन्य भारतीय भाषाओं, विशेषकर बँगला मे लिखी जा रही कहानियाँ तो थी ही, अन्य अनेक कारण भी थे जिनमें छोटी-छोटी सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण, नवीन सांस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप समाज की बहुमुखी समस्याओं के साथ जुड़ाव आदि। निश्चय ही इन प्रयासो ने एक निश्चित दिशा तो इस युग की समाप्ति के बाद ही प्राप्त किया, किन्तु हिन्दी कहानी के सम्यक् अध्ययन की दृष्टि से 'प्रथम कथा-युग' की कहानियों के उल्लेख से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता।

'इन्दुमती' के बाद केशवप्रसाद सिंह की कहानी 'आपत्तियों का पर्वत', गिरिजादत्त बाजपेयी की 'पति का पवित्र प्रेम', केशवप्रसाद सिंह की 'चन्द्रलोक की यात्रा'[११], कार्तिकप्रसाद खत्री की 'दामोदर राव की आत्मकहानी'[१२], पं० जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी की 'रत्नावली नाटक'[१३] तथा लाला पार्वतीनन्दन की 'प्रेम का फुआरा'[१४] प्रकाशित हुई जो मौलिक कहानियाँ नही हैं—प्रान्तीय तथा विदेशी भाषाओ की कथाकृतियों की छायाएँ है।

'इन्दुमती' कहानी की नायिका इन्दुमती अपने बूढ़े पिता के साथ जंगल में रहती है। अपने बूढे पिता के अतिरिक्त उसने किसी पुरुष को नहीं देखा है। एक दिन अजयगढ़ का राजकुमार चन्द्रशेखर भूला-भटका जंगल में पहुँचता है और सोयी हुई इन्दुमती जागने के बाद नव-यौवन से युक्त राजकुमार को देखकर देखती ही रह जाती है। यही स्थिति इन्दुमती को देखकर राजकुमार की भी हो जाती है। दोनों एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। इन्दुमती का बूढा पिता दोनों की परीक्षा लेता है और संतुष्ट होकर उनका विवाह कर देता है। डॉ० लाल के अनुसार 'टेम्पेस्ट' की मीराण्डा भी एक सघन वन में प्रोस्पेरों के साथ रहती है और प्रोस्पेरों भी मीराण्डा की इसी प्रकार परीक्षा लेता है।

कालक्रम की दृष्टि से दूसरी मौलिक कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय'[१५] मानी जाती है। यह सीधी-सादी कहानी है जिसमे मात्र कथा कह देने का आग्रह दिखाई देता है। दो मित्र टहलते-टहलते एक उजड़े हुए गाँव के खण्डहर में पहुँचते है। वहाँ संयोग से वे एक स्त्री को देखते हैं और उसका पीछा करके उसका परिचय प्राप्त करते हैं। स्त्री अपनी कहानी कहती है। वह काशी की रहने वाली है। ग्यारह वर्ष पूर्व उसकी शादी उसी खण्डहर वाले गाँव में हुई थी। दैव-संयोग से भयानक बाढ़ में गाँव बह गया और लड़की अपने पिता के घर काशी में रहने लगी। घर में उसे बहुत कष्ट सहना पड़ता था जिसके फलस्वरूप वह पति को ढूँढते हुए यहाँ तक पहुँची है। अन्त में पता चलता है कि स्त्री से बातें पूछने वाला व्यक्ति ही उसका पति है। इसकी पुष्टि पुरुष के हाथ मे स्थित तिल करता है।

यह कहानी पहले पुरुष के मुँह से कहलवायी गई है और बाद में स्त्री के मुँह से इसी

विकास-क्रम में एक अन्य कहानी पैंतालिस वर्ष के एक पण्डित तथा बीस वर्ष की उसकी पण्डिताइन के दाम्पत्य-जीवन की कहानी है, 'पण्डित और पण्डिताइन'[१६], जिसे लिखा है पं० गिरिजादत्त बाजपेयी ने। यह कहानी आदर्शात्मक उद्देश्य की पुष्टि करती हुई पति-पत्नी की पारिवारिक स्थितियों पर प्रकाश डालती है। कहानी मनोरंजक है तथा चरित्रों का अन्तर्द्वन्द्व बड़े सराहनीय ढंग से अंकित किया गया है।

इसी क्रम से अनूदित, छाया तथा प्रभावों को लेकर लिखी गई कहानियों में है – यशोदानन्द अखौरी की 'इत्यादि की आत्मकहानी'[१७] तथा 'पेट की आत्मकहानी'[१८]। दोनों कहानियाँ व्यंग्यपूर्ण है तथा हास्य-चित्र शैली के अच्छे उदाहरण कही जा सकती हैं। इस दौरान काफी बडी मात्रा में पत्र-पत्रिकाओं में (विशेषकर 'सरस्वती' मे) इस प्रकार की कहानियाँ प्रकाशित हुईं जिन्होंने कहानी-विषयक तत्कालीन जनरुचि को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन कहानियों में लाला पार्वतीनन्दन की 'मेरी चम्पा'[१९] तथा 'नरक गुलजार'[२०], पं० सूर्यनारायण कृत 'चन्द्रहास का अद्भुत आख्यान'[२१], चाँदनी कृत 'प्रोषित पतिका'[२२], लाला पार्वतीनन्दन कृत 'एक के दो-दो'[२३], बंग महिला कृत 'कुम्भ की छोटी बहू'[२४] तथा 'दान-प्रतिदान'[२५], पं० वेंकटेशनारायण कृत 'एक अशरफी की आत्म-कहानी'[२६], चतुर्वेदी कृत 'भूल-भुलैया'[२७], लाला पार्वतीनन्दन कृत 'पुनर्जन्म'[२८] तथा भट्टाचार्य कृत 'राजपूतनी'[२९] मुख्य है। 'भूल-भुलैया' नामक कहानी मे भावात्मक रूप से शेक्सपियर के नाटक 'कामेडी ऑफ एरर्स' का स्पष्ट प्रभाव है। 'राजपूतनी' बंगला पत्र 'प्रणाली' में प्रकाशित सुधीन्द्रनाथ ठाकुर के एक लेख के अनुवाद के आधार पर लिखी गई तथा 'दान-प्रतिदान' रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक कहानी का अनुवाद है।

बंग महिला की कहानी 'कुम्भ की छोटी बहू' उनकी माँ श्रीमती नीरदवासिनी घोष रचित एक गल्प का अनुवाद है, किन्तु इस कहानी की संवेदना इतनी प्रखर है कि समकालीन पाठकों द्वारा इसे अत्यन्त सराहा गया। कहानी की मूल समस्या हिन्दी प्रदेश की ही समस्या है। मिर्जापुर का एक हिन्दू परिवार प्रयाग के कुम्भ मेले को देखने जाता है। वहाँ की अपार भीड में सब लोग खो जाते हैं, छोटी बहू का इकलौता लड़का दबकर मर जाता है तथा स्त्रियों के गहने आदि भी चोरी हो जाते है। इस छोटी-सी मगर अन्तरंग समस्या को लेकर कहानी का विकास होता है और बडे स्वाभाविक ढंग से कहानी आगे बढ़ती है। कहानी तीन हिस्सों में विभक्त है--पहले भाग मे परिवार का सामूहिक चित्रण, दूसरे में छोटी बहू के आने का वर्णन, तीसरे भाग में कुम्भ के मेले का वर्णन तथा कहानी की समाप्ति है। कथोपकथन भी बड़े स्वाभाविक हैं। बहुतो से मेले की तैयारी करते समय गाँव की एक औरत कहती है—" का हो बहू ! का सलाह होत बाय। प्रयाग जी नहाये चलत बा। हे माई हमहू के लिवाय चला।"

'सरस्वती' के प्रकाशन के सातवे वर्ष में कुल छह कहानियाँ प्रकाशित हुईं[३०] जिनमें उदयनारायण बाजपेयी कृत 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी', लक्ष्मीधर बाजपेयी की 'तीक्ष्ण बुद्धि', श्रीमती बंग महिला कृत 'पक्का गठिबन्धन' तथा 'दुलाई वाली', पं० गगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'सच्चाई का शिखिर' मुख्य हैं।

इस कहानियों में 'दुलाई वाली'[३१] ऐतिहासिक महत्त्व की कहानी है जिसे हिन्दी की तीसरी मौलिक कहानी के रूप में बहुधा उल्लिखित किया जाता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार यह कहानी हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है।[३२] बंग महिला के उक्त अनुवाद 'कुम्भ की छोटी बहू'

की भाँति यह कहानी भी एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है। यो कहानी का आरम्भ जिस प्रकार होता है तथा जिस ढग से उसका निर्वाह किया गया है वह प्रथम कथा-युग की कहानियो के सन्दर्भ मे अपनी विशेष अर्थवत्ता रखता है।

इलाहाबाद के वंशीधर अपनी ससुराल बनारस से दुल्हन विदाकर मुगलराय जंक्शन से होते हुए आ रहे है। मुगलसराय जंक्शन से उनके मित्र नवलकिशोर भी अपनी पत्नी को लेकर मिलने वाले थे, लेकिन वहाँ से कोई न मिला, बल्कि गाडी में उन्हे एक रोती हुई दुल्हन मिली। सहानुभूति और करुणावश वंशीधर जी उसे संरक्षण में लिये इलाहाबाद स्टेशन से उतरे। वहाँ उन्हे एक दुलाई वाली बुढ़िया मिली। उसी की देख-रेख में सबको छोडकर वंशीधर जी स्टेशन को इस लावारिस दुल्हन के बारे मे सूचना देने गये और जब लौटकर आये तो वहाँ सब लापता थे—उनकी दुल्हन भी। वंशीधर जी परेशान होकर ज्यों ही आगे बढे, उन्होने दुलाई वाली बुढिया को देखा और पूछने पर दुलाई वाली अपना घूँघट खोलकर हँस पडी और वंशीधर ने देखा कि वह नवलकिशोर ही था।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इस कहानी का अध्ययन हिन्दी कहानी की शिल्प-विधि के विकास के लिये महत्त्वपूर्ण माना है।[३३] निश्चय ही, उस युग की अपनी साहित्यिक सीमाओ के बावजूद इस कहानी की कई उपलब्धियाँ हैं। यथार्थ जीवन का चित्रण इस युग की कहानियो मे बहुत कम दिखाई देता है। भाषा का सहज-स्वाभाविक रूप और आंचलिक रंग इसकी एक और विशेषता है।

उक्त तीन कहानियाँ—'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली' हिन्दी की प्रारम्भिक मौलिक कहानियाँ हैं और तीनों अलग-अलग पहलुओं से अपना विशेष महत्त्व रखती है। 'इन्दुमती' की स्वप्नमयता और रूमानी वातावरण, 'ग्यारह वर्ष का समय' की आत्मकथ्यात्मक प्रवृत्ति तथा कहानी के विवरण प्रस्तुत करने का आग्रह एवं 'दुलाई वाली' की सहजता तथा स्वाभाविकता अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। यदि तीनों कहानियों का, प्रथम कथा-युग की प्रवृत्ति के आधार पर मूल्यांकन किया जाय तो कहा जा सकता है कि इन्होंने हिन्दी की आरम्भिक कहानी-परम्परा को क्रमशः संवेदना, भाषा और शिल्प दिया। एक अन्य बहुचर्चित, महत्त्वपूर्ण कहानी विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की 'रक्षाबन्धन' भी इसी अवधि में (१९११ ई० की 'सरस्वती' मे) प्रकाशित हुई।

सन् १९०८ से लेकर १९१४ ई० तक जो प्रमुख कहानियाँ 'सरस्वती' के माध्यम से प्रकाश मे आई, उनमे मुख्य है—सत्यदेव कृत 'कीर्ति कालिमा'[३४], मधु मंगल कृत 'भूत ही कोठरी'[३५], श्रीलाल शालिग्राम कृत 'एक ज्योतिषी की आत्मकथा'[३६], श्रीमती बंग महिला की 'दलिया'[३७], कुन्दनलाल शाह की 'प्रत्युपकार का एक अद्भुत उदाहरण'[३८], वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखीबन्द भाई'[३९], पं० शिवनारायण शुक्ल की 'सात सुनार'[४०], वृन्दावन वर्मा की 'तातार और एक वीर राजपूत'[४१] आदि।

'सरस्वती' के उपरान्त सन् १९०९ में बनारस से 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ हुआ जिसमे कई कहानियाँ प्रकाशित हुई। हिन्दी की कोई बहुचर्चित कहानी १९१४ तक इस पत्रिका के माध्यम से प्रकाश मे नही आ सकी, किन्तु दो मौलिक कहानीकार इस बीच 'इन्दु' के माध्यम से प्रकाश मे आये—जयशंकर प्रसाद और विश्वम्भरनाथ जिज्जा।

विश्वम्भरनाथ जिज्जा की पहली कहानी 'विदीर्ण हृदय'[४२] 'इन्दु' मे ही प्रकाशित हुई।

प्रसाद की प्रारम्भिक कहानियो मे ग्राम[४३] चन्दा[४४], गुलाम[४५] तथा चित्तौड उद्धार[४६] इस बीच प्रकाशित हुई। सरस्वती और इन्दु के अतिरिक्त अन्य पत्रिकाओ मे प्रकाशित उल्लेखनीय कहानियो मे चन्द्रधर शर्मा गुलरी की सुखमय जीवन[४७] का उल्लेख भी यहाँ पर किया जाना चाहिए।

'सरस्वती' के ही अक्टूबर १९१५ के अंक में हिन्दी की ऐतिहासिक महत्त्व की कहानी प्रकाशित हुई—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था'। यह एक ऐसी कहानी है जो हिन्दी कहानी के क्षेत्र में स्पष्ट युगबोध को रेखांकित करती है। भाषा, शिल्प, वातावरण, कथ्य का चुनाव, कथानक-विन्यास तथा मानव-अनुभव की सटीक अभिव्यक्ति, सभी इस कहानी में अत्यन्त प्रौढ़ रूप में मिलते हैं। यह एक विचित्र तथ्य है कि अगले कई वर्षों तक इतनी सशक्त कृति हिन्दी कहानी के क्षेत्र में नही लिखी गई।

गुलेरी जी की एक अन्य कहानी 'बुद्धू का काँटा' के सम्बन्ध में निश्चित तिथि तो नहीं मिलती, किन्तु सम्पादक शक्तिधर गुलेरी का अनुमान है कि यह कहानी १९११ से १९१५ ई० के बीच प्रकाशित हो चुकी होगी।

स्मरणीय है कि प्रेमचन्द की पहली हिन्दी कहानी 'पंच परमेश्वर' 'सरस्वती' में १९१६ ई० मे प्रकाशित हुई।

प्रथम कथा-युग में कहानीकार के रूप मे सर्वाधिक क्षमता-सम्पन्न व्यक्तित्व गुलेरी जी का ही उभरता है जिन्होंने केवल तीन कहानियाँ लिखकर हिन्दी कहानी संसार को अमर कृतियाँ दी। इन तीनों कहानियों की पृष्ठभूमि सामाजिक है तथा तीनों कहानियों की संवेदना प्रेम और कर्तव्य के बीच के अन्तर्द्वन्द्व से सम्बद्ध है। 'सुखमय जीवन' में इसका रूप अपरिपक्व है तथा प्रेम के केवल बाह्य रूप का इसमें चित्रण है। इस कारण इसमें कर्तव्य का जन्म तो होता है, किन्तु सिर्फ इतना ही है। 'बुद्धू का कांटा' के कथानक में प्रेम अव्यक्त तथा असाधारण ढंग से पलता है। प्रेम तथा स्त्री-सम्पर्क की दिशा में नायक हीनग्रन्थि से पीड़ित है, फलतः नायिका की ओर से पहल की जाती है। यही कारण है कि इसमें 'सुखमय जीवन' के विपरीत कर्तव्य पहले है और प्रेम बाद मे। 'उसने कहा था' प्रेम और कर्तव्य - दोनों की चरम संवेदना का अद्भुत सम्मिश्रण है। संकेतो और स्मृतियो के आधार पर कहानी के वर्ण्य-विषय के अतिरिक्त एक सूक्ष्म कथानक तथा वातावरण की सृष्टि कहानी मे होती है।

हिन्दी के लिये यह बड़े गर्व की बात है कि इतनी सशक्त कहानी, जिसे विश्व की श्रेष्ठ कहानियों के समकक्ष रखा जा सकता है—प्रथम कथा-युग में ही लिखी गई है।

निस्संदेह कहानी की इस परम्परा का सम्यक् एवं समृद्ध विकास आगे चलकर प्रेमचन्द-युग में हुआ।

सदर्भ-संकेत

१. हिन्दी प्रदीप (मासिक) प्रयाग, सितम्बर, १८७८, पृ० ३६ में प्रकाशित 'गप्पाष्टक'। २. हिन्दी प्रदीप (मासिक) प्रयाग, अप्रैल, १८७८, पृ० ४२ में प्रकशित, 'गप्पाष्टक'। ३. हिन्दी (मासिक) अक्टूबर, १८८०, पृ० ८ में प्रकाशित 'गप्पाष्टक'। ४. राजेन्द्र यादव : कहानी : स्वरूप और संवेदना, कथायात्रा : अक्षर प्रकाशन। गार्डन चार्ल्स रोडरमल, हिन्दी कहानी : अलगाव का दर्शन (अक्षर)। ५. राजेन्द्र यादव ने अपनी पुस्तक 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' में लिखा है, "मैं

कहानी को आदि विधा मानता हूँ वह गद्य मे लिखी गई हो या पद्य मे या इससे भी पहल संकेतो में पद्य या गाता के माध्यम से स्वय उनका रस ग्रहण करते हुए भी इस सबके पाछे नेपथ्य म चलने वाली कहानी ही प्रमुख रही है।''......पृष्ठ ८। ६. 'द नॉबेल', फीनिक्स-२, हाइनेमैन, लन्दन, १६६८, पृ० ४१७-१८। ७. प्रथम संस्करण १६७२, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली। ८. सम्पादित संस्करण १६६६, पटना। ६. देवरानी जेठानी की कहानी, संपा० गोपालराय, पृ० १६। १०. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०१। ११. सरस्वती भाग १, सं० ८, पृ० २२७। १२. वही, भाग १, सं० ८, पृ० २६३। १३. वही, भाग २, सं० १। १४. वही, भाग २, सं० ५, पृ० १६६। १५. सरस्वती, सितम्बर, १६०३ के अंक में प्रकाशित। १६. सरस्वती, सितम्बर, १६०३ के अंक में पृ० १३६। १७ सरस्वती, जून, १६०४, पृ० ५-६। १८. सरस्वती, सितम्बर, १६०४। १६. सरस्वती, अप्रैल, १६०५, पृ० १३२। २०. सरस्वती, दिसम्बर, १६०५। २१. सरस्वती, भाग ७, सं० ३, पृ० १०४। २२. सरस्वती, भाग ७, सं० ५, पृ० १७४। २३. सरस्वती, भाग-७ सं० ६, पृ० २६५। २४. सरस्वती, भाग-७, सं० ७, पृ० ३४२। २५. सरस्वती, भाग-७, संख्या ४, पृ० १३५। २६. सरस्वती, भाग-७, सं० १०, पृ० ३८८। २७. सरस्वती, भाग-७, सं० १, पृ० ३१। २८. सरस्वती, भाग-७, सं० १, पृ० ५६। २६. सरस्वती, भाग-७, सं० ५, पृ० १५२। ३०. सरस्वती, १६०७, सं० १, पृ० १ से १२ तक। ३१. सरस्वती, १६०७, भाग ८, सं० ५। ३२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ३४०। ३३. हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास, पृ० ६३। ३४. सरस्वती, १६०८ सं० १, पृ० १ से १२ तक में प्रकाशित। ३५. वही। ३६. सरस्वती, १६०६ सं० १, पृष्ठ १ से १२ तक में प्रकाशित। ३७. वही। ३८. वही। ३६, वही। ४०. वही। ४१. वही। ४२. इन्दु, कला ६, किरण-१, पृ० ४४। ४३. वही, कला-२, किरण-१, पृ० ६१। ४४. वही, कला २, किरण ३, पृ० ८२। ४५. वही, कला ५, किरण १. पृ० ४। ४६, वही, कला ६, किरण १, पृ० १६७। ४७. भारतमित्र, १६११।

रीडर, हिन्दी विभाग
कुमाऊँ विश्वविद्यालय
नैनीताल
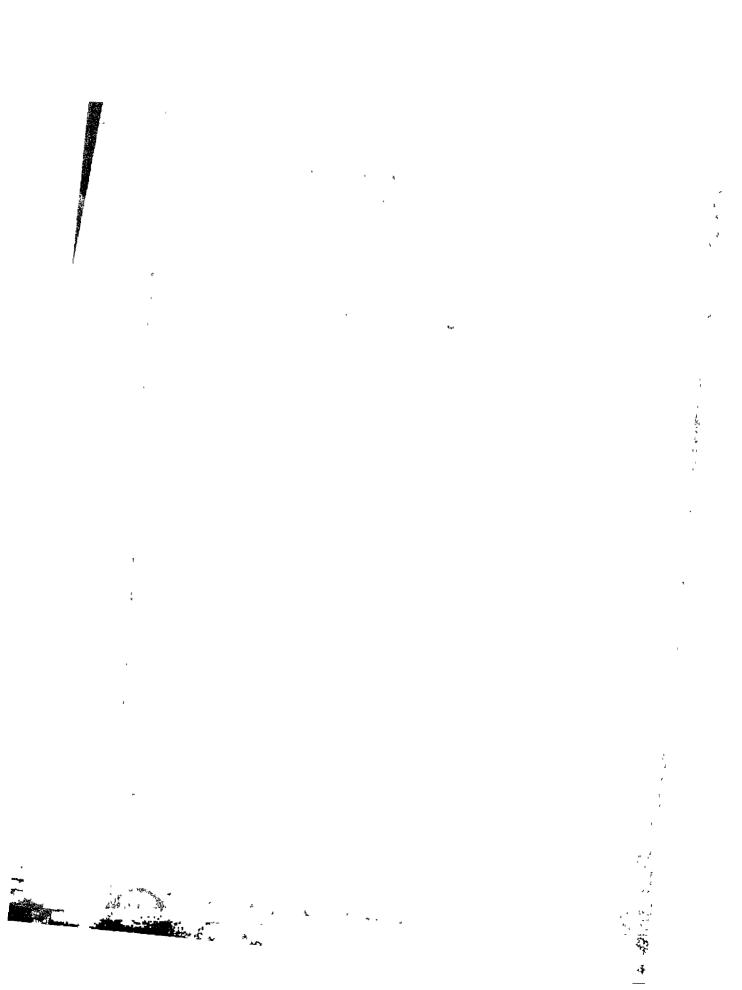
इन्दुस्तानी

ासिक शोध पत्रिका]

जुलाई-सितम्बर

सन् १९८२ ई०

प्रधान सम्पादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

सहायक सम्पादक

डॉ० रामजी पाण्डेय

[वार्षिक , २०

अनुक्रमणिका

श्रीरामचन्द्रोदय काव्य —समीक्षात्मक विश्लेषण

डॉ० आत्माराम शर्मा 'अरुण'

अयोध्या के तत्कालीन राजपुस्तकालयाध्यक्ष पं० रामनाथ ज्योतिषी ने अपनी पचासवीं वर्षगाँठ के अवसर पर श्रीरामचन्द्रोदय काव्य को रचा घोषित किया है। ज्योतिषी जी का जन्म सन् १८७४ ई० में हुआ था। उनकी उक्त घोषणा के अनुसार श्रीरामचन्द्रोदय काव्य की रचना सन् १९२४ ई० में अयोध्या में हुई थी।

माधुरी, १६ अप्रैल, १९२६ मे ज्योतिषीजी की 'लेखनी उत्कर्ष' शीर्षक कविता छपी है। इसकी पादटिप्पणी में सम्पादकीय टिप्पणी से यह स्पष्ट होता है कि यह कविता श्रीरामचन्द्रोदय काव्य की है जो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।[1] पश्चात् १७ जून, १९२६ की माधुरी में रामनाथ ज्योतिषी का 'संपादन की प्राचीनता' शीर्षक लेख मिलता है।[2] इस लेख में ज्योतिषी ने इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि कवि अथवा लेखक को अपनी रचना का सम्पादन किसी अन्य अधिकारी विद्वान् से कराना चाहिए। उन्होंने अपनी रचना श्रीरामचन्द्रोदय काव्य का सम्पादन भी किसी अन्य विद्वान् से कराया था। प्रश्न यह उठता है कि ज्योतिषी जी को सम्पादन-विषयक उक्त लेख प्रकाशित कराने की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई ? उनकी रचना का अन्य विद्वान् से सम्पादन हुआ जान किसी ने उसकी आलोचना की होगी। उसके प्रत्युत्तर में ही ज्योतिषी जी को उस लेख को प्रकाशित कराना पड़ा होगा।

माधुरी के ८ फरवरी, १९२७ के अंक में ज्योतिषी जी की 'भारत की सभाएँ' शीर्षक कविता छपी है।[3] 'धर्मसमाज' उनकी एक पृथक् स्वतन्त्र रचना बताई जाती है।[4] उसी का अंश 'भारत की सभाएँ' कविता है जो बाद मे किंचित् पाठान्तर के साथ श्रीरामचन्द्रोदय काव्य की ग्यारहवीं कला के प्रारंभ में आलोच्य काव्य में सम्मिलित कर ली गई।[5] ज्योतिषी जी ने रचना में सशोधन-परिवर्तन करने के सम्बन्ध में अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'अपने ग्रन्थ को ग्रन्थकार स्वयं जितनी बार विचारपूर्वक देखता है, उतनी बार कुछ-न-कुछ परिवर्तन करता है।' कविता के सबंध में तो निम्नलिखित प्राचीन श्लोक द्रष्टव्य है—

कविता रस माधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कविः ।
भवान्याः भृकुटिभंगं भवो वेत्ति न भूधरः ॥

अर्थात्, कविता के रस की मधुरता दूसरा कवि जानता है, उसका निर्माता नहीं। जैसे पार्वती की भृकुटि का विलास उनके पतिदेव श्री शंकरजी ही जानते है, उनके पिता भूधर (हिमवान्) नहीं।[6] माधुरी मे १९२७ ई० में प्रकाशित कविता को श्रीरामचन्द्रोदय काव्य मे सम्मिलित किए जाने से स्पष्ट ही है कि १९२४ ई० में इसके रचे जाने के बाद भी इसमे परिवर्तन किया जाता रहा।

श्रीरामचन्द्रोदय काव्य की उत्कृष्टता के कारण इस काव्य पर सन् १९३७ में दो हजार रुपये का तृतीय देव पुरस्कार पं० रामनाथ ज्योतिषी को मिला था। ओरछा-नरेश वीरसिंह देव ने इसी आशय का एक प्रमाणपत्र भी ज्योतिषी जी को दिया था। आश्चर्य है कि १ मार्च, १९३७ को दिया गया यह प्रमाणपत्र जुलाई, १९३६ में हिन्दी मन्दिर, प्रयाग से प्रकाशित श्रीरामचन्द्रोदय काव्य के प्रथम संस्करण में कैसे मुद्रित हो गया। यही नहीं, काव्य के प्रथम संस्करण में रामनाथ ज्योतिषी के फोटो के नीचे 'तृतीय देव पुरस्कार विजेता, कविवर पं० श्री रामनाथ ज्योतिषी, विद्याभूषण' लिखा है। जुलाई, १९३६ में जब यह काव्य प्रथम बार मुद्रित हुआ था, उस समय तो ज्योतिषी जी 'तृतीय देव पुरस्कार विजेता' थे ही नहीं। फिर यह सब कुछ कैसे संभव हो गया ? विचार-सापेक्ष है।

श्रीरामचन्द्रोदय काव्य मे रामायण के केवल बाल कांड का ही कथानक गृहीत हुआ है। इसकी सातवी कला में श्रीराम-सीता के विवाहोपरांत बारात के वापस अयोध्या में लौट आने का वर्णन है। आठवीं कला मे श्रीराम-सीता की अष्टयाम चर्या का पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है। नवी कला में षट्ऋतु-वर्णन मध्ययुगीन शैली पर किया गया है। दसवी से पन्द्रहवी कला मे वर्णित विषय श्रीराम की कथा से बिल्कुल भी संबद्ध नहीं है। ज्योतिषी जी की रचनाओं में उपदेशशतक, धर्मसमाज, नीतिमंजूषा तथा भवरोग-प्रभंजनी भी बताई जाती है।[७] आलोच्य काव्य की दसवी कला में उपदेशशतक, ग्यारहवी और बारहवीं कला में धर्मसमाज, तेरहवीं और चौदहवी कलाओ मे 'नीतिमंजूषा' तथा पन्द्रहवी कला मे 'भवरोग-प्रभंजनी' रचनाएँ वर्णित हुई हैं। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रोदय काव्य एक अकेली रचना न होकर विधवा-बत्तीसी,[८] उपदेशशतक, धर्मसमाज, नीतिमंजूषा, भवरोग-प्रभंजनी तथा श्रीरामचन्द्रोदय काव्य का संयुक्त रूप है। आश्चर्य हैं कि अभी तक इस ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया।

माधुरी में ज्योतिषीजी की 'अवधेश बनरा' शीर्षक कविता इस प्रकार छपी है—

पीरी-पीरी पाग मौर झालर झमकदार,
तरल तर्‌यौना मैं दिठौना वितन्यौ है आज।
घेरदार जामा पर्‌यौ पट्टुका घुमेरदार,
कोरदार पीरो पट कोट मैं तन्यौ है आज ।।
'जोतिसी' जगी है अंग-अंगन मैं ओज भरो,
देखि देखि आनंद को सिन्धु उफन्यौ है आज।
गजरा गरे मैं कौर कजरा मरोरदार,
अवध नरेस बेस बनरा बन्यौ है आज ।।[९]

श्रीरामचन्द्रोदय काव्य में यह छंद किंचित् पाठान्तर-भेद से इस प्रकार गृहीत हुआ है—

जरकसी पाग मौर झालर झमकदार,
तरल तर्‌योना मैं डिठौना छवि छायौ है।
घेरदार जामा पर्‌यौ पट्टुका घुमेरदार,
कोरदार पीरो पट चटक सुहायौ है ।।
'जोति-सी' जगी है अंग-अंगन में ओज भरी,
आज मिथिला मैं बड़ो कहर मचायौ है।
गजरा गरे मैं कौर कजरा मरोरदार
बनरा अनोखो री विदेह घर आयौ है ।।[१०]

ऐसा प्रतीत होता है कि 'अवधेश बनरा' का वर्णन मूलतः दो छन्दों में रहा होगा। दोनों को मिलाकर ज्योतिषी ने एक छन्द बनाया और उसे श्रीरामचन्द्रोदय काव्य में सम्मिलित कर लिया। सन् १९२४ में रचे गए आलोच्य काव्य में सन् १९२७ तक भी संशोधन-परिवर्तन होता रहा, यह स्पष्ट ही है।

अवध प्रदेश के 'बनोपवन' की ज्योतिषी जी द्वारा प्रस्तुत झाँकी भी देखिए—

बनोपवन

बिच-बिच कुंड अनेक, 'जोतिसी' जटित बिराजैं।
भाँति-भाँति के कमल, प्रफुल्लित सोभा साजैं॥
बरन-बरन बर बेलि, बिटप नाना बिधि सोहैं।
सुरभित पवन झकोर, बीथिकन मैं मन मोहैं॥
बहुरंग बिहंग समाज मृग, आदि जीव जहँ तहँ सघन।
इमि उपवन अवध अनेक तहँ, प्रचुर प्रमोद-प्रमोद बन॥[११]

उक्त छप्पय छन्द का प्रथम चरण विचारणीय है। 'बिच-बिच कुंड अनेक' से लगता है कि इससे पूर्व का वर्णन काव्य से हटा दिया गया। कुंड किस-किस के मध्य विराजमान हैं? इसका उत्तर जिन पंक्तियों में मूलतः रहा था, वे तो आलोच्य काव्य से निकाल ही दी गईं। इसी कारण अपूर्णता की झलक मिल रही है। दूसरे, "जोतिसी जटित बिराजै" पर भी जरा विचार कीजिये। कुंड किससे जटित हैं? जोतिसी से? कितना भद्दा और बेतुका प्रयोग है। रत्न-जटित, मनिजटित, प्रवालजटित, जवाहिरजटित आदि प्रयोग तो पढ़े-सुने भी हैं, पर यह 'जोतिसी-जटित' पहली बार इसी प्रसंग में देखने को मिला। यहाँ 'जवाहिरजटित' जैसा ही कोई प्रयोग मूलतः रहा होगा। पूर्वप्रयुक्त शब्द को हटाकर रामनाथ ज्योतिषी ने अपनी उपनाम छाप 'जोतिसी' का प्रयत्नतः प्रयोग यहाँ किया है।

पूर्व-प्रयुक्त मूल शब्द को हटाकर अपनी 'जोतिसी' नाम छाप लगाने में पं० रामनाथ ज्योतिषी बड़े ही सिद्धहस्त हैं। इस संदर्भ में एक और उदाहरण देख लीजिये—

प्रथम घुमेरि बेरि घर को मिलैए, फेरि,
प्रेम के पुरी को अच्छी भाँति अपनाइए।
प्रांत जनता तैं सत्य सहज सनेह करि,
देस की दसा पै चोखी चरचा चलाइए॥
पीछे एक मंडल मैं मंडल को हेरि, फेरि,
'जोतिसी' कथा को जथाक्रम तैं सुनाइए।
अंत मैं सभा को जोरि 'जोतिसी' प्रबंधन के,
फेरि नेम बंधन के बंधन बनाइए॥[१२]

उक्त कवित्त में 'जोतिसी' नाम छाप दो बार आई है। ऐसा क्यों हुआ? पूर्व-प्रयुक्त शब्द को हटाकर नाम छाप लगाई गई है। यही छंद माधुरी, ८ फरवरी, १९२७ में निम्नवत् छपा है—

प्रथम घुमेरि बेरि घर को मिलैए, फेरि,
प्रेम के पुरी को आछी भाँति अपनाइए।
नीके प्रांत जनता तैं सहज सनेह करि,
देस की दसा पै चोखी चरचा चलाइए॥

पीछे एक मडल मैं मडल को हेरि, फेरि,
जाति की कथा को जथाक्रम तैं सुनाइए ।
अंत मैं सभा को जोरि 'जोतिसी' प्रबंधन के,
फेरि नेम बंधन के बंधन बनाइए ॥[११]

तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि कवित्त के तृतीय चरण में आंशिक परिवर्तन करने के साथ छठे चरण में 'जाति की' को हटाकर 'जोतिसी' नाम छाप का प्रयोग किया गया है। इसका कारण कदाचित् यही रहा है कि 'भारत की सभाएँ'[१४] शीर्षक कविता को श्रीरामचन्द्रोदय काव्य मे 'दशरथ की सभा'[१५] के रूप में सम्मिलित कर लिया गया है। 'जाति की' के पूर्ववत् प्रयोग से वस्तुस्थिति अप्रासंगिक तो बन ही जाती, साथ ही वस्तुस्थिति के संदिग्ध भी बन जाने की आशंका थी। दूसरी नाम छाप 'जोतिसी प्रबंधन के' भी विचारणीय है। किसके प्रबंध-सम्बन्धी नियम बनाने की बात कही गई है ?

अंत में सभा को जोरि 'जोतिसी' प्रबंधन के,
फेरि नेम बंधन के बंधन बनाइए ॥

नियम तो 'समाज' अथवा 'धरम' सम्बन्धी प्रबन्ध हेतु बनाए जा सकते हैं। 'जोतिसी प्रबंध' सम्बन्धी कहने में यहाँ क्या औचित्य दिखाई देता है ? ऐसा क्यों हुआ ? अनुसंधेय है।

पूर्वोक्त तुलनात्मक विवेचन से स्वतः ही सिद्ध होता है कि कवि रामनाथ ज्योतिषी ने 'श्रीरामचन्द्रोदय काव्य' में पूर्वप्रयुक्त शब्दों को हटाकर अपनी 'जोतिसी' नाम छाप का प्रयत्नतः प्रयोग किया है। एक ही छंद में 'जोतिसी' नाम छाप के दो बार प्रयोग की ओर भी संकेत किया जा चुका है। आलोच्य काव्य में और भी कई छंद ऐसे हैं जिनमें 'जोतिसी' नाम छाप दो-दो बार लगी है। यहाँ ऐसे छंद प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) जटन को जूट उत, मुकुट विराजे इतै,
उत भाल चंद, इत चंदन ललाम है ।
मुंडन की माल उतै, इत मनि माल मंजु,
इतै तिरसूल, बान इत अभिराम है ॥
'जोतिसी' बघंबर उतै है, इत पीत पट,
गौरि उत राजै, इत सीय छबि-धाम हैं ।
राम के सनेही उतै, इतै सिव नेही सदा,
'जोतिसी' हमारे जान एकै सिव राम हैं ॥[१६]

(२) 'जोतिसी' अमंद चंद आनन बिलोकै सासु,
चकित चकोरी-सी सनेह सरसायो है ।
देइबे को नेग हित हेरि हारी हौसनि सौं,
तीनों लोक बदन समान नहि पायो है ॥
बैठी है ठगी-सी सबै रानी सकुचानी मौन,
'जोतिसी' विचार तौं लौं एक ठहरायौ है ।
कौशिला अनूप सुत केकई कनक भौन,
लखन सुमित्रा दै कैं मोद उर छायो है ॥ —श्रीराम०, पृ० १७८ ।

(३) 'जोतिसी' मराल आए सीखन सुमंद चाल,
पेखि पद पंकज को पंकज स[illegible]यौ है ।

त्रिवली तरग सौं सरोवर तरगैं सेत
नैन मृग मैन रूप खंजन बनायौ है ।
नख तें सिखा लौं जोति 'जोतिसी' मिलाइबे कौ,
प्रकृति सरूप सारी सेत सरसायौ है ॥ —श्रीराम०, पृ० १८३ ।

(४) बीते जनम अनंत 'जोतिसी' अंत न पाए ।
रचना चित्र विचित्र, आजु लगि देखत आए ॥
दृढ़ बन्धन बहु तोरि, मोरि मुख जिय ले भागे ।
खोलत ही खन द्वार, पाहरू सँग सब लागे ॥
कछु बीच न पायो 'जोतिसी' विपति संदेसन कहन को ।
पर जो कछु कहिए नाथ अब, यह सिर आगे सहन को ॥—श्रीराम०, पृ० २१२ ।

उक्त छंदों में उपनाम छाप का प्रयोग दो-दो बार क्यों किया गया है ? यह तो स्वत: ही संदिग्ध स्थिति का निर्माण करता है ।

'जोतिसी' उपनाम छाप का बड़ा व्यापक प्रयोग श्रीरामचन्द्रोदय काव्य में किया गया है । यह प्रयोग सर्वत्र कृत्रिमता लिये हुए ही है । कथित नाम छाप का स्वाभाविक प्रयोग इस काव्य में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता । इस संदर्भ में पुष्टि हेतु कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

(१) अंग उमंगाती गातीं सोहिलो बजातीं किती,
केती मदमाती लोल 'जोतिसी' लजातीं ना ॥ —श्रीराम०, पृ० ३१ ।

यह 'लोल' किसका विशेषण बनकर आया है ? चंचलता आँखों का विशेष गुण है । दूसरे, लज्जा भी आँखों का ही भूषण है । आम बोलचाल की भाषा में भी 'तुम्हारी आँखों में कुछ लाज-शर्म है या नहीं' प्रयोग खूब व्यवहार में आता है । अत: यहाँ मूल पाठ कदाचित्—

केती मद माती लोल आँखिनि लजाती ना ॥
अथवा
केती मद माती लोल नैननि लजाती ना ॥

ही रहा होगा । 'लोल जोतिसी लजाती ना' बड़ा भद्दा और बेतुका प्रयोग है ।

(२) नट इंद्र जाल, नृप नीति जुत, सांग 'जोतिसो' मुद मढ्यौ ॥
इमि विद्या चारु चतुर्दस हु, अल्पकाल राघव पढ्यौ ॥
—श्रीराम०, पृ० ३६ ।

सांग (स+अंग) का अर्थ है अंगों सहित । राघव ने अंगों सहित किस विद्या का अध्ययन किया ? उसका नाम हटाकर 'जोतिसो' उपनाम छाप फिट की गई साफ झलकती है ।

(३) अरुन अधर मानों बिंब को साज साजै ।
दसनि हँसनि तापै 'जोतिसी' राजि राजैं ॥ —श्रीराम०, पृ० ४७ ।

'राजि' का अर्थ है ढेर अथवा समूह । हँसने पर होठ खुलते हैं और दाँत दिखाई देते हैं । उन पर किसकी 'राजि' विराज रही है ? निस्संदेह पूर्वप्रयुक्त शब्द को हटाकर ही यहाँ भी 'जोतिसी' नाम छाप लगाई गई है ।

(४) बिच बिच कुंड अनेक 'जोतिसी' जटित विराजैं ।
भाँति-भाँति के कमल, प्रफुल्लित सोभा साजैं ॥ —श्रीराम०, पृ० १३८ ।

कुंड किससे जटित हैं ? जोतिसी से ? कैसा भद्दा अनुपयुक्त और कृत्रिम प्रयोग है ।

(५) आगे चली 'जोतिसी' लली जू मंद-मंद गति ।
पाछे रघुचंद भौरु भाँवरि भराई मैं ॥ —श्रीराम०, पृ० १५८ ।

'जोतिसी लली' नहीं, जनक लली पाठ शुद्ध और उपयुक्त है। 'जोतिसी लली' का एक प्रयोग और देखिये—

कैंधौं चंद्र आनन बिलोकन के हेतु, कैंधौं ।
'जोतिसी' लली की सील सोभा सरसाती है ॥ —श्रीराम०, पृ० ७२ ।

सीता के लिए 'जनक लली', 'विदेह लली' के स्वाभाविक प्रयोग भी देखिए—

(क) तनित लतान चित्र विटप वितातन मैं,
जनक लली को देखि नाचत कलापी है ॥ —श्रीराम०, पृ० १०१ ।

(ख) कैंधौं निज लोगन की लाख अभिलाख पुजी,
जनक लली को किधौं भूरि दुख छूट्यौ है ॥ —श्रीराम०, पृ० १२१ ।

(ग) बारिहौ हौ जो बिदेह लली तो भली यहि देह न तोहि बिसारिहौ ॥
—श्रीराम०, पृ० १११ ।

अतः यह स्पष्ट ही है कि जनक अथवा विदेह को हटाकर इनके स्थान पर बलपूर्वक 'जोतिसी' आ धमके। परिणामस्वरूप 'जनक लली' 'जोतिसी लली' बनकर रह गई।

(६) मंगलमय सुंदर समय, कीन्हें अवध प्रवेस ।
आरा राज दुआर मैं, लै 'जोतिसी' निदेस ॥ —श्रीराम०, पृ० १७५ ।

रघुकुल के कुलगुरु ब्रह्मर्षि वशिष्ठ थे। उन्ही के आदेश और परामर्श पर ही रघुवंशी राजा कार्य करते थे। वशिष्ठजी के लिए 'मुनिनाथ' का प्रयोग भी हुआ है। निम्न सोरठा छंद मे इस रहस्य का वास्तविक रूप द्रष्टव्य है—

नृप नृप-नीति निधान, संस्कार सब सामयिक ।
कीन्हे विविध विधान, लै आयसु मुनिनाथ कर ॥ —श्रीराम, पृ० ३४ ।

स्पष्ट ही है कि उक्त पाठ भी 'लै मुनिनाथ निदेस' ही रहा था। जोतिसी तो आदत से मजबूर हैं। यहाँ वशिष्ठजी के स्थान पर आ ही विराजे। पहले 'जनक' का स्थान भी उनके द्वारा ले लिए जाने का उल्लेख हो चुका है।

(७) तिय वियोग पावस निरखि, धीर 'जोतिसी' जात ।
ज्यों-ज्यों उर चपला कढ़ति, त्यों-त्यों घन घहरात ॥ —श्रीराम०, पृ० १८९ ।

धैर्य और धीरज तो जा सकते हैं, पर धीर कैसे चला जाएगा ? यहाँ 'धीरज सबको जात' जैसा पाठ रहा होगा। दोहा तो मात्रिक छंद है और 'सबको' में है चार मात्राएँ। यदि इसके स्थान पर पाँच मात्राओं वाले 'जोतिसी' आ जाएँ तो एक मात्रा बढ़ जाएगी। 'धीरज' का 'धीर' कर देने पर बढ़ी हुई मात्रा कम हो जाएगी। बलपूर्वक जोतिसी नाम छाप का प्रयोग करने में रामनाथ ज्योतिसी ने पिंगल के नियमानुसार छंद को दूषित नहीं होने दिया।

(८) नवल बसंत अंक अंकुरित लोनी लता,
फूलन के भार डार 'जोतिसी' सुहाई है। —श्रीराम०, पृ० १७ ।

फूलों के भार से तो डाल नीचे की ओर को झुकती है। इसका शुद्ध और स्वाभाविक पाठ मूलतः यों रहा होगा—

फूलन के भार डार अवनि झुकाई है

अवनि के स्थान पर आ बैठे 'जोतिसी' तो फिर उन्हें झुकाई के स्थान पर सुहाई पाठ कर देना पड़ा क्योंकि 'जोतिसी झुकाई है' पाठ से भेद शीघ्र ही खुल जाने की आशंका थी।

(९) भौंर भीर भारी जगे 'जोतिसी' उज्यारी उत
स्वामिनी हमारी बेगि आवन चहति है ॥ —श्रीराम०, पृ० ८१।

वाटिका में सीताजी आने ही वाली हैं। उनकी 'आनन-उज्यारी' के कारण वहाँ भौंरों की भीड़ जमा हो गई है। आनन को कमल समझकर भौंरों का आना तो स्वाभाविक ही है। कविवर दासजी की निम्न पंक्तियाँ भी इस प्रसंग में प्रमाण हैं—

आनन है अरविंद न फूले, भूले
अलिगन कहाँ मडरात हों।

इस दृष्टि से 'जोतिसी उज्यारी' के स्थान पर 'आनन उज्यारी' पाठ शुद्ध भी है और उपयुक्त भी।

(१०) मकर 'जोतिसी' नेम ते सबै प्रयाग नहात।
सपने से दिन जात इत, उत पातक विनसात ॥ —श्रीराम०, पृ० १८६।

माघ के महीने में सूर्य मकर राशि पर रहता है। इसी कारण माघ को मकर महीना भी कहा जाता है। इस महीने में गंगा, यमुना आदि नदियों में स्नान करना पुण्य माना जाता है। पटियाला से कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी वृन्दावन आकर यमुना में स्नान करने की इच्छा से अपने आश्रयदाता महाराजा नरेन्द्र सिंह से अनुमति माँगते हुए निवेदन करते हैं—

गोकुल को जाइबे की यमुना नहाइबे की,
तीनि ताप तपनि बुझाइबे की बारी है।
वृन्दावन लेखिबे की गिरिराज देखिबे की,
जनम सफल करि लेखिबे की पारी है॥
मकर महीना का महातम्य मुनि गायो,
आगम में सेखर पुराननि निहारी है।
हिंद की पनाही नर नाही श्री नरेन्द्र सिंह,
अरजी हमारी जो पै मरजी तुम्हारी है॥

अतः शुद्ध और स्वाभाविक पाठ मूलतः इस प्रकार रहा होगा—

मकर महीना नेम ते, सबै प्रयाग नहात।

यहाँ महीना में भी पाँच मात्राएँ हैं और ज्योतिसी में भी। परिवर्तन सरलता से हो गया।

श्रीरामचन्द्रोदय काव्य में 'जोतिसी' उपनाम छाप का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। इस विवेचन से यह स्वतः और स्पष्टतः सिद्ध है कि रामनाथ ज्योतिषी ने पूर्व-प्रयुक्त मूल शब्दों को हटाकर अपनी 'जोतिसी' उपनाम छाप श्रीरामचन्द्रोदय काव्य में प्रयत्नतः लगाई है। ऐसा क्यों किया गया? यदि श्रीरामचन्द्रोदय काव्य ज्योतिषीजी कृत वास्तव में मूल रचना होती तो ऐसा न होता। दूसरे की रचना में अपने नाम की मोहर लगाकर उसे रामनाथ ज्योतिषी ने डकार लिया है। अतः रामनाथ ज्योतिषी को श्रीरामचन्द्रोदय काव्य का रचयिता नहीं माना जा सकता। समग्र काण्ड का गंभीर अध्ययन करने के बाद हम श्री रामनाथ ज्योतिषी का परिचय निम्नवत् प्रस्तुत करना उपयुक्त समझते हैं—

दोहा

कृत्रिम नाम छाप लगाइ, साधि-साधि निज हाथ ।
राम काव्य की तस्करी, करैं कवि रामनाथ ॥१॥

कवित्त

भैरम पुर वासी कवि रामनाथ जोतिसी,
संग जगदम्बा राज औध सुखदाई है ।
पुस्तक अध्यक्ष पद पर हो के सुशोभित,
निष्ठा, उदारता जलधि संग निभाई है ॥
लब्ध 'प्रतिष्ठित, विद्याभूषण उपाधियुत,
धरम, समाज, राज कीरति सुहाई है ।
रामकथा काव्य मे ही, अवधपुरी के बीच,
बरबस नाम छाप 'जोतिसी' लगाई है ॥२॥
हड़पनहार, नही प्रणेता राम काव्य के,
देव पुरस्कार विजय रूप सु-धारे है ।
धीरज को छोड़ पुनि धीर को नसावैं लागे,
प्रसिद्ध हुए प्राचीन काव्य के सहारे हैं ॥
समीक्षक 'अरुण' वस्तुस्थिति करुण गुनि,
तथ्यों को विगत कई वर्षों से सँभारे हैं ।
नाम छाप रक्षक है, भक्षक विशेषण के,
ऐसे रामनाथ कवि जोतिसी हमारे हैं ॥३॥

संदर्भ-संकेत

१. माधुरी, १८ अप्रैल, १९२६, पृ० २८८। २. माधुरी, १७ जून, १९२६, पृ० ६६४-६५। ३. माधुरी, ८ फरवरी, १९२७, पृ० ८५। ४. आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' : दिवंगत हिन्दी सेवी, पृ० ४७०। ५. श्रीरामचन्द्रोदय काव्य, ग्यारहवीं कला, पृ० २१४-१५। ६. माधुरी, १७ जून, १९२६, पृ० ६६४। ७. आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' : दिवंगत हिन्दी सेवी, पृ० ४७०। ८. 'विधवा बत्तीसी' ज्योतिषीजी की ३२ छंदों की प्रकाशित काव्यकृति है। इसका एक कवित्त श्रीरामचन्द्रोदय काव्य के पृ० २० पर द्रष्टव्य है—लेखक। ९. माधुरी, ६ जुलाई, १९२७, पृ० ७५५। १०. श्रीरामचन्द्रोदय काव्य, पृ० १५५। ११. वही, पृ० १३९-४०। १२. श्रीरामचन्द्रोदय काव्य, पृ० २१४-१५। १३. माधुरी, ८ फरवरी, १९२७, पृ० ८५। १४. माधुरी, ८ फरवरी, १९२७, पृ० ८५। १५. श्रीरामचन्द्रोदय काव्य, पृ० २१४। १६. श्रीरामचन्द्रोदय काव्य, छठी कला, पृ० १३४।

५५९/१७, अरुण शोध सदन
विजय पार्क, मौजपुर
दिल्ली—११००५३

मौलाना दाऊद-कृत 'चंदायन' में लोक-संस्कृति

डॉ० इक़बाल अहमद

संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध दूध और पानी, धरती और धूलि तथा आकाश और नक्षत्र की तरह अटूट और अविभाज्य है। एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों के लक्ष्य एक हैं, परिणति एक है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, सहायक हैं।

'सम्' उपसर्ग के साथ संस्कृति की 'कृ' धातु लगाने से 'संस्कृति' शब्द की रचना हुई है जिसका अर्थ है परिष्कार, संस्कार और परिमार्जन। संस्कृति चिन्तन और सर्जन की सहायक साधना है जो मानव को एक ओर व्यक्तित्व प्रदान करती है और दूसरी ओर उसके जीवन को सुन्दर, सुखी और उपयोगी बनाने की चेष्टा करती है।

'लोक' शब्द संस्कृत की 'लोक् दर्शने' धातु से बना है। इसमें 'घ' प्रत्यय लगने से 'लोक' शब्द निष्पन्न हुआ। इस धातु का अर्थ है 'देखना'।

महाभारत में सनात्सुजात ने धृतराष्ट्र से एक सूत्र में लोकजीवन के प्रतिज्ञानी या लोक-विधानवेत्ता मुनि के दृष्टिकोण का उल्लेख किया है—

'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः'।

इसका अर्थ है जो लोकों का प्रत्यक्ष दर्शन करता है, लोकजीवन में प्रविष्ट होकर स्वयं उसे अपने मानस-चक्षु से देखता है, वही व्यक्ति उसे पूरी तरह समझता-बूझता है।

साहित्य और लोकतत्त्व एक ही जीवन-रथ के दो चक्र कहे जा सकते है। दोनों के सन्तुलित विवेक से ही जीवन की व्याख्या की जा सकती है। भारतीय साहित्य और संस्कृति के विषय में यह शत-प्रतिशत सत्य है—

'लोके वेदे च'

वास्तव में, यही भारतीय जीवन का प्रतिष्ठा-सूत्र है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है—"लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नही है। ये लोग नगर मे परिष्कृत रुचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।"[1] लोकसाहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो० शंकरलाल यादव का मत है— "लोक का अर्थ है विराट् जनसमुदाय। यह किसी राष्ट्र की समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पुस्तकें नहीं है। यह नगरों, उपनगरों (कस्बों) एवं ग्रामों में फैली वह जनसमष्टि

है जो अभिजात संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना एवं अहंकार से शून्य है और जो परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहती है।"[२] वास्तव में लोकसंस्कृति के अन्तर्गत जीवन के सभी सामाजिक, आध्यात्मिक और भौतिक मूल्य आ जाते हैं और यह प्राचीन कथारूपों एवं भावो की आवृत्ति करती रहती है।

सूफी कवियों ने हिन्दू-जीवन के निकट रहकर और उससे समरस होकर काव्य-रचना की है। यदि हम यह कहें कि उन्होंने हिन्दू-लोकजीवन का जैसा सफल चित्रण किया है, वैसा हिन्दी की किसी अन्य काव्यधारा में कदाचित् ही मिलेगा, तो सम्भवतः अत्युक्ति न होगी। उनके द्वारा हिन्दुओं की अभिजात संस्कृति और लोकसंस्कृति के सभी अंग अपने सहज स्वाभाविक रूप मे चित्रित हुए हैं। यहाँ पर हम केवल लोकसंस्कृति का उल्लेख करना चाहते हैं।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में 'चन्दायन' का सर्वप्रथम स्थान है। इस प्रसिद्ध रचना का स्रोत लोकपरम्परा में प्राप्त लोरिक की प्रेमकथा है। यह कथा लोरिकी, चनैनी और लोरिकायन आदि नामों से भी पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार में लोकप्रिय रही है और स्वयं इसको अहीरों की मंडली मे प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक सुन चुका है।

'चन्दायन' नामक प्रेमाख्यानक काव्य में तत्कालीन सांस्कृतिक, सामाजिक, परिवेशगत आस्थाओं और मान्यताओं का परिचय बड़ी मात्रा में मिलता है। इसमें लोरिक ग्रामीण संस्कृति का प्रतीक माना जा सकता है और चाँद नागरिक संस्कृति की।

लोकधर्म—लोक का जीवन धर्म की सुदृढ़ शिला पर स्थिर हुआ करता है। वास्तविकता तो यह है कि लोकजन धर्मभीरु ही नही हुआ करता, बल्कि वह धर्म की स्वीकृति के बिना कुछ नही करता। चन्दायन के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि इस प्रेमाख्यानक काव्य में धार्मिक विश्वासों का स्वरूप आरम्भ से ही दिखाई देता है—स्तुति, चाँद का जन्म, विवाह, चाँद का पितृ-गृह आगमन, गोबर-अभियान, गोबर-युद्ध, बावन युद्ध, कलिंग-युद्ध, सर्पदंश एवं सतीत्व-परीक्षा में धार्मिक विश्वास स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होते है। यदि हम चन्दायन को लोक-धर्म-विश्वास का कोश कहें तो सम्भवतः अत्युक्ति न होगी। कुछ हिन्दी आलोचक लोरिक-चाँद का परदेश भाग जाना, धर्मविरुद्ध मानते हैं, लेकिन लोकविश्वास के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन लोकधर्म के अनुसार अपहरण और वह भी नारी के इच्छानुकूल होने पर, लोकधर्म के अनुरूप ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपहरण लोकधर्मानुकूल ही है।

लोकजन धर्मभीरु होने के साथ-साथ भाग्य पर बहुत विश्वास करते है। यही इतना ही नही, प्रत्युत् लोकविश्वास के अनुसार ईश्वर और भाग्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं किया जा सकता। लोरिक की प्रथम पत्नी मैना, लोरिक के चाँद के साथ परदेश भाग जाने पर बिलखती है और सुरजन को लोरिक को वापस लाने के लिए भेजती है, लेकिन सभी कष्टों को वह भाग्य को दोष देकर सहन करती रहती है—

जिह सावन तुम्ह गवनें, सो मैना चख लाग।
सुरजन कहसु लोरकहँ, मांजर केर अभाग॥

चन्दायन का नायक लोरिक स्वयं भाग्यवादी है। वह चाँद के दुबारा सर्पदंश पर विलाप करते हुए भाग्य को ही कोसता है—

बाट माझ हसकाबसि किएसि बिरही मोहि जारि।
लहन मोर अस ही है चाँद बावन सोरि तुम्हारि॥

लोरिक यह भी कहता है कि हे ईश्वर ! मुझ पर विपत्ति पड़ी कि न तो मेरे पास धन है और न ही मेरी प्रिया—

विधि हुउ बाट परी करतारा।
न धनु भएउ न मीत पियारा॥

प्राय: देखा जाता है कि धार्मिक मनोवृत्ति के व्यक्ति उदार हुआ करते हैं। वह 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' की भावना में विश्वास करते हैं। चन्दायन में यह प्रवृत्ति मिलती है। मैना सुरजन के माध्यम से अपने पति लोरिक को संदेश भेजती है और कहती है— हे सुरजन ! मेरी ओर से चाँद से कहना - तुझे ऐसा नहीं करना चाहिए, तू मेरा स्वामी मुझे दक्षिणा के रूप में ही दे दे। मैंने एक वर्ष बिना स्वामी के ही बिता दिया ! भला अब तो चित्त में ईश्वर का डर कर—

यक बरिस मोर गा बिनु नाहा। दइ का डरु कीजइ चित्त माहा॥
तुम आदि तिरिया केर जाती। पिउ बिनु मरसि रइनि हिय फाटी॥

यही इतना नहीं, प्रत्युत मैना चाँद को पूर्णिमा का चाँद कहकर सम्बोधित करती है और उससे निवेदन करती है कि वह उसके स्वामी को अपने पाशों से मुक्त कर दे—

तू हर पूनेउ चाँद सपूनी, खटरितु कीनी सेज मोर सूनी।
कहु सुरजन अज चाँद न कीजइ, नाँह मोर मुहि दुख न दीजइ॥

लोरिक की माता खोलिन मैना को समझाते हुए कहती है कि तुम सुरजन के द्वारा ऐसा संदेश भेजो जिसमें लोरिक तुरन्त वापस आ जाये—

खोलिन आँचर आइ छुड़ावा।
कहिस संदेस जेहि पिउ आवा॥

सूफ़ी साधक मौलाना दाऊद को लोक में प्रचलित अन्ध-विश्वासों का भी अच्छा ज्ञान था। यही कारण है कि उन्होंने चन्दायन में स्थान-स्थान पर अन्ध-विश्वासों का उल्लेख किया है। लोक-जन का विश्वास ज्योतिष पर बहुत होता है और चन्दायन में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

राहु केतु धरि आठए दिसा सुरु भा आई।
सूक सउँह उतरापंथि लोगनि बाहेर मेलइ जाई॥

चन्दायन में इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि कोई भी शुभ कार्य ज्योतिषियों की ही सलाह पर किया जाता था। चाँद के जन्म तथा विवाह के अवसर पर ज्योतिषियों को बुलाया जाता है और उन्ही की सलाह पर अन्तिम निर्णय लिया जाता है। यहाँ तक कि युद्ध के समय भी ज्योतिषियों की ही राय पर यात्रा की जाती थी। यद्यपि लोरिक चाँद को भगाकर ले जाता है। फिर भी वह शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करता है—

सुरुज कहा मइ चाँद पलाउब।
सुकुर बाजु दइ पूरब चलाउब॥

सूर्य अर्थात् लोरिक ने कहा, मैं चाँद को पलायित करूँगा। शुक्र को वायु देकर मैं उसे पूर्व की ओर ले जाऊँगा।

लोकजन परम्परावादी भी होता है। वह रूढ़ियों और परम्पराओं का दास हुआ करता है। यदि किसी कारणवश, वह कोई लोकविरुद्ध आचरण कर भी बैठता है तो वह उस पर

बहुत पछतावा भी करता है। वह अपनी त्रुटियों को सुधारने का प्रयास भी करता है। चन्दायन मे इस प्रकार के कई स्थल हैं। उदाहरणार्थ—जब लोरिक चाँद को लेकर भाग जाता है और चाँद सर्पदंश के कारण मर जाती है तो वह बहुत पश्चात्ताप करता है और विलाप करके कहता है—

छाडेउ भाई बाप महतारी। तजेउँ बियाही मैना नारी॥
लोग कुटुम्ब घर बार बिसारेउँ। देस छाडि परदेस सिधारेउँ॥
गाउँ ठाउँ पोखर अँबराई। परिहरि निसरेउँ कवल उपाई॥
अरथ दरब कर लोभ न कीन्हेउँ। चाँद सनेह देसान्तर लीन्हेउँ॥ ...आदि

केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत् लोक-मानव परम्परा से चिपका होने के कारण पौराणिक परम्परा में पूर्णतः विश्वास करता है। सूफी साधकों के प्रेमाख्यानों मे इसकी बहुलता है। चन्दायन काव्य में भी इसके उदाहरण मिल जाते है। चन्दायन में इन्द्र, ब्रह्मा, राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान, अर्जुन, रावण, वासुकी, कृष्ण, विष्णु, मदन, काम, सुमेरु, लक्ष्मी, कबिलास आदि का उल्लेख है—

(१) सिरजसि धरती और अकासू, सिरजसि मेरु मन्दर कबिलासू।
(२) सरगि पन्हु वासिगु बहराइ।
(३) गई लछिमी फुनि हाथहि आवा।
(४) जउ हर सेइ नरायन धावइ।
(५) काम सकति धनि अस कै गही।
(६) इन्द्र सभा की आछरि आई।
(७) रामहि हनिवन्त भयउ संघाता।
(८) हनिवन्त सीता कह धरि मारी।
(९) किशन बरन कोइला जरि भये।
(१०) जनु अरजुन कहँ रावन कढ़ा।

लोक-समाज—चन्दायन का अध्ययन जब हम सामाजिक व्यवस्था को ध्यान में रखकर करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह कोई समाजशास्त्र की पुस्तक हो और मौलाना दाऊद समाजशास्त्र के पंडित है। चन्दायन की रचना चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुई है और कवि दाऊद ने चौदहवी शती में प्रचलित सामाजिक व्यवस्था का बड़ी सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया और उसे अपने काव्य चन्दायन में बड़े चातुर्य से अंकित किया है। पारिवारिक जीवन सन्तान-प्रेम, दाम्पत्य-जीवन, बहु-विवाह, सपत्नी-कलह, अल्पवय विवाह, नारी का समाज मे स्थान के साथ-साथ लोक-प्रचलित पर्वों और त्योहारों का वर्णन है।

जातिप्रथा—मौलाना दाऊद ने अपने ग्रन्थ में जातियों की चर्चा अनेक स्थलों पर की है। कही-कही उनके नाम है तो कहीं केवल उनकी संख्या मात्र दी है। इन जातियों के नाम इस प्रकार हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, अग्रवाल, वैश्य, ग्वाल, खण्डेलवाल, भाँट, माली, कलवार, कहार, कुम्हार, कायस्थ, गूजर, बनजारा, तेली, धोबी, कोयरी, नाऊ, भड़भूज, सुनार, लोहार, चमार, छरहटा, नट, थुइहार आदि। इन्होने कही-कहीं उपजातियों का भी उल्लेख किया है। जैसे—राजपूत—चौहान, पँवार और ब्राह्मण—तिवारी, रावत, जोशी आदि। मौलाना दाऊद ने इन शब्दो में जातियों की चर्चा की है—

बामन खतरी बसहि गुवारीं । गहरवार औ ।
बसहि तिवारी औ पचवानीं । धागर चूनी औ हजमानीं ।।
बसहि गंधाई औ बनजारा । जात सरावग और बनवारा ।।
सोनी बसहिं सुनार बिनानी । राउत लोग बिसाती आनी ।।
ठाकुर बहुत बसहि चौहाना । परजा पौनि गिनति को जानीं ।।
बहुत जात दरभर अथाह, खोरहिं होड न जाइ ।
तैंस वा देस गोबर, मानुस चलत भुलाइ ।।

चन्दायन में कवि ने सामाजिक सम्बन्धों की चर्चा विस्तार से की है । जिन पारिवारिक और सामाजिक शब्दों का प्रयोग मौलाना दाऊद ने किया है, लगभग वे सभी शब्द आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में प्रचलित है—ननद, प्रिय, माता-पिता, बन्धु, मीत (मित्र), सहेली, महतारो (माता), बाप (पिता), भतार (पति), दीदी, नाह (नाथ), पूत, बिटिया, जमाई (जामाता), कान्त (पति), नाती, भाई, ससुर, सास, सखी, वर, धाय, देवर, जेठ और जननि (माता) आदि । पूर्वी उत्तर प्रदेश मे 'दीदी' शब्द का प्रयोग बडी बहन और जेठानी दोनों के लिए आज भी होता है । लेकिन 'दीदी' शब्द माता के लिए नहीं होता है । चन्दायन में इसका प्रयोग भी मिलता है—

ननद बात सब सुन के, कही महरि सो जाइ ।
दीदी जाय मनावहु, चाँद रसलज खाइ ।।

रीति-रिवाज—चन्दायन में जिन रीति-रिवाजों का उल्लेख है, उनका लगभग वही रूप आज भी उस क्षेत्र-विशेष के लोक-समाज में दृष्टिगोचर होता है । कुछ रीति-रिवाजों का हम उल्लेख करते हैं जिनका प्रचलन चन्दायन के रचना के समय में था और आज भी किसी न किसी नाम से उनका प्रचलन लोक-समाज में मिलता है—

(अ) छठी—बच्चे के जन्म के छठे दिन छठी मनाई जाती है । छठी पुत्र और पुत्री दोनों की मनाई जाती है, मगर आजकल किसी क्षेत्र में छठी केवल पुत्र की ही मनाई जाती है । लेकिन मैंने पूर्वी उत्तर प्रदेश में देखा है कि यह दोनों के जन्म छठे दिन मनाई जाती है । चन्दायन ग्रन्थ में चाँद के जन्म के पाँच दिन समाप्त होते ही छठी का आयोजन किया गया—

पाँचो दिवस छठी भइ राती । निउता गोबर छतीसो जाती ।।
× × ×
बाभन सभा आइ जो बइठी । काढि पुरान रासिगुन दीठी ।।
छठी का आखर देखि लिलारा । अरु इहि सों जाइ जिवारा ।।

(ब) सुपारी देना—ब्राह्मण और नाई वर के पिता को सुपारी देते हैं । यह मांगलिक क्रिया आज भी प्रचलित है ।

(स) ज्योनार—विवाह अथवा विजय प्राप्ति के अवसर पर ज्योनार दी जाती है । इस प्रथा का चन्दायन के रचयिता ने उल्लेख विवाह के अवसर पर किया है —

भइ जेउनार फिर आये पाना । वेद मनहि बाँभन परधाना ।।

(द) जुहारू—सलाम अथवा प्रणाम को कहते हैं । ब्राह्मण और नाई जब कन्या के लिए वर-चयन को जाते है तो वे जुहार करके दूसरे पक्ष को प्रणाम करते हैं—

दीनि बिसारी मोतिन्ह हारू । कहहु महर सों मोर जुहारू ।।

(य) आरती—किसी मांगलिक कार्य के आरम्भ तथा अन्त में दीपक जलाकर थाल को विशेष रूप से चक्राकर घुमाकर पूजा करने को आरती कहते हैं। आज भी भारतीय लोक में इसका प्रचलन है। लोरिक की माता खोलिन, लोरिक जिस समय युद्ध के लिए प्रस्थान करता है, उस समय उसकी आरती उतारती है जिससे उसका पुत्र युद्ध में विजय प्राप्त कर सके।

(र) दहेज—विवाह के समय उपहार में दिया जाने वाला सामान या पैसा दहेज के नाम से जाना जाता है। यह प्रथा भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही प्रचलित है, किन्तु उसके रूप में परिवर्तन हुआ है। मौलाना दाऊद ने चन्दायन में चाँद के विवाह के समय महर सहदेव जो दहेज अपनी पुत्री के साथ भेजते हैं, उसका विस्तार से वर्णन हुआ है— चावल, आटा, खाँड, घी, नमक, तेल, मसाले, बीस गाँव, सेविकाएँ, पीनस, गाय, भैंस, हीरा, मोती आदि। मौलाना दाऊद की रचना चन्दायन में वर्णित दहेज इस प्रकार हैं—

गाँव बीस भल दायजि पाये। पीनस एक दरब भरि आये।।
घोर पचास आन कै ठाढे। टका लाख दूध तैं बाँधे।।
चेरी चेर सहस एक पावा। गाइ भैंस नहिं गिनत बलावा।।
कापर जात बरन को काहा। हीरा मोती लागि जिह आहा।।
सेज सौर कर नाउँ न जानौं। कहाँ सेज अस काहु बखानौं।।
चाउर, कनक, खाँड, घिउ, लोन, तेल, बिसवार।
लाद टाँड मुकरावा, बरदै भये असम्भार।।

इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में साज-सज्जा के सामान के साथ पुत्री को सेविकाएँ भी दी जाती थीं।

भोज्य पदार्थ—भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही दो प्रकार के भोजन का प्रचलन रहा है। ये हैं—सामिष भोजन और शाकाहारी भोजन। चन्दायन के रचयिता ने दोनों प्रकार के भोजनों का उल्लेख किया है—

सामिष भोजन—चन्दायन में कवि ने पशु-पक्षी के मांस के साथ-साथ मछली के पकवानों की चर्चा की है। चन्दायन में आगत पशु-पक्षियों गयंड में (गैंडा), गौन (बारहसिंगा), लोखरा (लोमड़ी), चीतर (चीतल), झाँख (साँभर), बकरा, मेढा, रोझ (नीलगाय), लेगुना (हिरण), उसर, तिलौरा, तीतर, लावा, बरुआ, सीतल, बगेरिया, कुकुस, भुनजारा, रयन टिटहीरी (टलटिट्टभ), बटेर, लावा, गुडरू, परवा (कबूतर), उसरतलोबा, बनकुकरा (वनमुर्गी), कूँज (कुलंग) आदि हैं।

निरामिष भोजन—अरुई, तरोई, कुम्हड़ा, कंकोल, जीवन्ती, सोई, मेथी, सौंफ, कडुए तेल (सरसों का तेल), परवल, पालक, चौलाई, जाजर, पापर (पापड़), चिचिंडा, भाँटा (बैगन), टोंडस, लौआ (लौकी), दूध, सिस्सा दही, गुझिया, भूँजी, डुबकी, बरा, मगरेरी, बरियई, राई पानी, कपसी, गुरेउ, करेला, कुन्दुरिया आदि का उल्लेख मौलाना दाऊद ने चन्दायन मे किया है तथा इन सब्जियों के बनाने की विधि भी लिखी है।[3]

मसाले—चन्दायन के रचयिता मौलाना दाऊद ने विविध मसालों के प्रयोगों की चर्चा की है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—नमक, बिसवार (गर्म मसाला), अजवायन, मिर्च, सौंफ, सोया, खटाई, अमचूर, इमली आदि। आठ रसों को डालकर महारस तैयार किया जाता है। आहार के रूप में तिलकुट तैयार किया जाता है—"खटरस होइ महारस तिलकुट किएउ अहारू"।

सामान्य खानपान की वस्तुएँ—गेहूँ, चावल, खांड, लपसी, दही, बड़ा, सोंठ, गुड़, घी, अचार, मथोरी आदि वस्तुओं का उल्लेख कवि ने किया है।

फल-फूल तथा मेवे—नारियल, सुपारी, छुहारा, लौंग, चिरौंजी, मैन (मैनफल), मजीठ, कुमकुम, तेजपात, नींबू, नारंगी, अनार, मुनक्का आदि का उल्लेख चन्दायन में मिलता है। कवि कहता है कि गोबर में सुगन्धियाँ तथा कुमकुम और तेजपात तो बड़ी मात्रा में मिलता है—

मोदक महकहँ कुमकुम चलावा।
पत्रज बंधी गिनत न आवा॥

मालिन की पुष्पों से भरी टोकरियों का उल्लेख भी मिलता है।

वस्त्र—तत्कालीन लोकजन में जिन वस्त्रों का प्रयोग होता था, उनका उल्लेख कवि ने किया है। हम इनको दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. पुरुषों के वस्त्र और २. स्त्रियों के वस्त्र।

१. चन्दायन में पुरुषों के वस्त्रों का उल्लेख कम हुआ है। इनमें धोती, पगड़ी, अँगरखा तथा जनेऊ का उल्लेख है।

२. चन्दायन में स्त्रियों के वस्त्रों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—सीरोदक सारी, फुंदिया, रांधी, सेंदुरिया सारी, ओगिया और चौकड़िया, झीनी मुंगिया रंग की ओढ़नी, छुन्दरी, कुसुम्भी, गुजराती साड़ी, डोरिया, चोली आदि।

आभूषण—चन्दायन में कवि ने आभूषण को अभरन कहा है जो आज भी लोक-प्रचलित शब्द है। इसमें स्त्रियों के आभूषणों का वर्णन हुआ है। इसमें चाँद के शृङ्गार-वर्णन तथा विथहर खंड चाँद के विविध आभूषणों की चर्चा की गई है। इनमें कर्णाभूषण, नासिकाभूषण, कण्ठाभूषण, कराभूषण, पादाभूषण आदि प्रमुख है। कुण्डल, खूंट, फुल्ली, नथ, हार, डोर, संकरी (लड़ी), अँगूठी, कंगन, चूड़ा (पाँव का आभूषण), पायल, अनवट (पैर के अँगूठे में पहना जाता है), बिछुआ (पैर की अँगुली में पहने जाते हैं)। बिछुआ केवल विवाहित स्त्रियाँ पहनती हैं। लोरिक चाँद के शृङ्गार की वस्तुओं को भी गुणी ही को देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोरिक चाँद का नया जीवन मानकर उसका सब शृङ्गार उतार देता है—

हिया सिरान जरत जो अहा। छुटि चाँद निसि गहनें गहा॥
लोरक होत जो आस पियासा। जियइ चाँद मन पूजी आसा॥
अभरन अनि के सभ लोरा। तरुवन हाँस औ सोने चूरा॥
हतपुर बोर औ कान कै पुरी। मूड मंग औ करै क चूरी॥
हाथ क करया सोवन नाथी। अँगूठी मानिक कै काठी॥
अनवट बिछुई पातर, लोर चाँद कर लीन्हि।
अरथ दरब औ खरग कटारा, आन गुनी कहँ दीन्हि॥

दैनिक उपयोग की वस्तु—अँगीठी, कोइला, रई मथानी, चूल्हि, कंडिया और रस्से जैसी वस्तुओं का वर्णन किया है। यह लोरिक पटरा और पढीना खरीदता है और साठ गुना बाँट कर बरहा तैयार करता है—

पाट पढीना लोर बिसाहा।
बरति सठि गुन कीत बराहा॥

इस प्रकार चन्दायन में दैनिक उपयोग की अनेक लोक-प्रचलित वस्तुओं का उल्लेख मिलता है।

मनोविनोद के उपकरण—मौलाना दाऊद ने चन्दायन में जिन मनोविनोद के उपकरणों की चर्चा की है, वे लगभग सभी चिर-काल से लोक में प्रचलित रही हैं। जादू का खेल[४], रामायण का पाठ[५], दीपावली उत्सव[६], नृत्य-गायन, पँवारा (पद्यपाठ)[७], राधा-रास, झूला झूलना[८], भित्तिचित्र, वेश्याओं द्वारा मनोरंजन, जुआ और मद्यपान जैसी वस्तुओं का उल्लेख चन्दायन में मिलता है।

लोक-प्रचलित नाप-तौल के शब्द— लोकजन अधिक शिक्षित नहीं होते। वह अपनी कृषि भूमि की गणना में बीसा, बीघा का प्रयोग करते हैं—

कउन बनिज मोहि आगे आवा।
लाभ न बिसवा मूर गँवावा॥

चन्दायन मे दूरी के माप के लिए कोस और योजन का उल्लेख मिलता है—

जाइ कोस दस ऊपरि भए।
बहुत भाँति बिरहई हुत दहे॥

लोकभाषा और लोकोक्तियाँ—चन्दायन एक ऐसा प्रेमाख्यानक काव्य है जिसमे आज की लोकभाषा और लोकोक्तियों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। कुछ विशिष्ट व्यक्तिवाचक शब्द, जो लोक-प्रचलित नाम हैं, उनके उदाहरण प्रस्तुत है—बिसपति, बावन, पूस, मैना, भादो, बाट, देवराज, जेठ, अगस्ति, चाँद, कातिग, भादों, सीउराज, सतराज, लोर, लोरिक, सहदेव, हमीर, हिरदै, मेहरि, महर, सिसिर, भुईराजु, फागुनि, चैति, गनपति आदि। इस प्रकार के शब्द लोक-संस्कृति के अभिन्न अंग होते हैं।

चन्दायन में सांस्कृतिक, सामाजिक, प्राकृतिक, मनोवैज्ञानिक लोकोक्तियों का प्रयोग बड़ी मात्रा में हुआ। इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) नेह सनेह जउ पुरत न होई।
कहाँ क पुरुख कहाँ कइ जोई॥

(२) सतहि तिरइ सायर महि नावा।
बिनु सत बूडइ थाह न पावा॥

(३) जाकर कोइ जरइ सो जानइ।
अनजरत कस काहु बखानइ॥

(४) गुन जो तोरि धरि नाउ चढ़ाई।
तेहि रे निगुनयहि को पतियाई॥

(५) पुरुखहि पानि आग का कहिए।
जइस परइ सिर तइसइ सहिए॥

(६) तिरियहि जरम टाँक बुधि होई।
तिन्ह के संग न लागइ कोई॥

(७) खाटहि पुख उठइ जउ आई।
रहई न परि सो मरइ उड़ाई॥

(८) रोस न जाइ होइ हरुवाई।
[illegible] बाव खाइ गुस्वाई

(९) पिरम आँच जेहि हियरे लागइ
नींद जाइ तपि तपि निसि जागइ ॥
(१०) अउ अस जानउँ पुरुख कइ जाती।
सेज न देखत एकउ राती ॥

इन लोकोक्तियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मौलाना दाऊद को लोक में प्रचलित कहावतों, मुहावरों और सूक्तियों का अच्छा ज्ञान था और उन्होंने इनका उपयुक्त स्थानों पर उपयोग भी किया है। ये लोकोक्तियाँ भी लोक-समाज में सुरक्षित हैं। भाषा, भाव तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी भाषा में लोक-संस्कृति का समावेश खूब हुआ है।

संदर्भ-संकेत

१. डॉ० कुन्दनलाल उप्रेति—लोक-साहित्य के प्रतिमान।
२. डॉ० यश गुलाटी—बृहत् साहित्यिक निबन्ध (लेख—लोकसाहित्य का अध्ययन), पृ० २१९।
३. अ—कुम्हड़ा भूजि साठि इक धरे।
ब—भाँटा टोडस सोधि तराये।
स—करुए तेल करेला तरे।
द—बिबसा परवर कुन्दुरी अहो। घिए तरोई अरुई गही ॥
य—जाजर पापर भूजि उचाये।
र कंकरेल जीवन्ती सौंफ औ सोई मेथि पकानि।
ब—चूका पालक औ चौलाइ।
४ हाट छरहटों पेसन होई। देखहि निसरि मनुस अउ जोई ॥
५. बरुआ राम रमाइनु कहहीं।
६. आवइ खेल जाहि दिवारी।
७. गावइ गोत अउ कहहिं पँवारा। नट नाचहिं अउ बाजहिं तारा ॥
८. रचे हिंडोला झूलहिं नारी। गावहिं ऊपर सब जोबन भारी ॥

रीडर, हिन्दी विभाग,
कालीकट विश्वविद्यालय

कवि दूलह-रचित एक अज्ञात ग्रंथ —'दूलह-विनोद' का प्राप्त पाठ

□

श्री अगरचंद नाहटा

प्राचीन हिन्दी साहित्य एक महासागर के समान है जिसका थाह पाना असंभव है। सन् १९०० से हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का काम प्रारम्भ हुआ था। तब से वह निरतर होता रहा है। नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा हिन्दी साहित्य की यह सबसे उल्लेखनीय व महान् सेवा हुई है। वैसे कुछ अन्य सस्थाओं ने भी यह काम किया है, पर वह नागरी-प्रचारिणी सभा के मुकाबले में नहीं-वत है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना की ओर से कुछ काम हुआ और उस संस्था की ओर से २-३ खोज-विवरण प्रकाशित हुए। इसी तरह राजस्थान हिन्दी विद्यापीठ (साहित्य संस्थान) उदयपुर की ओर से भी कुछ वर्ष राजस्थान के हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज का काम करवाया गया, उसके भी खोज-विवरण के ४ भाग प्रकाशित हुए जिनमें से २ तो मेरे ही संपादित हैं। मैंने अब तक जो कुछ काम प्राचीन हिन्दी-हस्तलिखित ग्रन्थों के खोज-विवरण का प्रकाशित हुआ था, उसमे एक नई बात जोड़ दी जिससे मुझे श्रम तो बहुत करना पड़ा, पर वे दो भाग (भाग २-४) अपने ढंग के एक ही बन पाये, क्योंकि दूसरे सब लोगों ने प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध ग्रन्थ की जो भी हिन्दी की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलीं, उन सबका विवरण दे दिया और प्रकाशित करवाया। पर मेरा तो यह प्रारम्भ से ही रुचि का विषय रहा, इसलिए ज्ञात ग्रन्थों की प्रतियों का विवरण प्रकाशित करके पुनरावृत्ति करना उचित नहीं समझा और केवल उन्हीं ग्रन्थों का विवरण छपवाया जो उस समय तक की खोज-रिपोर्टों में नहीं आये थे। दूसरा काम यह किया कि उन अज्ञात ग्रन्थों को भी विषयवार छाँट लिया और फिर एक-एक विषय की प्राप्त रचनाओं का अकरादि क्रम से विवरण तैयार करके प्रकाशित किया गया। अभी तक इस ढंग का कार्य न पहले हुआ, न उसके बाद हो।

हिन्दी भाषा का प्रचार प्रायः भारत-व्यापी रहा है। अतः अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में भी हिन्दी ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ सैकड़ो प्राप्त होती है। सन्तों और भक्तों के भजन अभी भी सभी प्रान्तों में गाये व पाये जाते हैं। संतों ने तो अनेक प्रान्तों मे घूमकर अपने सम्प्रदाय के प्रचार के साथ-साथ, हिन्दी के प्रचार को भी खूब आगे बढ़ाया। अतः पहले जो यह समझ लिया गया था कि हिन्दी ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ, हिन्दीभाषी-प्रदेशों में ही अधिकतया मिलेंगी, पर ज्यों-ज्यों खोज का काम विस्तार पाता गया, त्यों-त्यों अन्य प्रान्तों की भी हिन्दी साहित्य को जो महान् देन है, उसका विवरण प्रकाश मे आने के साथ-साथ हजारों हस्तलिखित प्रतियाँ अन्य प्रान्तों के संग्रहालयों में प्राप्त होती गईं। राजस्थान मे भी उस प्रांत की भाषा मरु या राजस्थानी के साथ-साथ, हिन्दी साहित्य का निर्माण भी बहुत बड़े परिमाण मे हो रहा है और अनेक ऐसे हस्तलिखित ग्रन्थ-भंडार हैं जिनमें सैकड़ों-हजारों ग्रन्थ हिन्दी के संगृहीत हैं। उनमें से कई तो प्रसिद्ध ग्रन्थों की प्राचीनतम प्रतियाँ मिलती हैं और बहुत से अज्ञात कवि और उनकी रचनाओं का भी विशाल संग्रह है

राजस्थान के कवियों के रचित हिन्दी ग्रन्थों की प्रतियाँ तो अधिक होना स्वाभाविक ही है। सैकड़ों अज्ञात-कवियों की हजारों रचनायें राजस्थान में प्राप्त हुई हैं। उनका कुछ परिचय डॉ० मोतीलाल मैनारिया के शोध-प्रबन्ध—'राजस्थान का पिंगल साहित्य' में प्रकाशित हो चुका है। बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में भी हिन्दी ग्रन्थों की सैकड़ों प्राचीन प्रतियाँ हैं। ऐसे जैन ज्ञान भंडारों में भी काफी हैं। उनमे से केवल अज्ञात-रचनाओं का ही विवरण मेरे द्वारा संपादित उपर्युक्त खोज विवरण के २ भागों में प्रकाशित किया गया है।

हस्तलिखित प्रतियों की खोज करने के साथ-साथ मैंने अधिक से अधिक प्रतियाँ अपने संग्रहालय के लिये इकट्ठी करने का भी प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप गत ५२ वर्षों मे छोटी-मोटी, पूर्ण-अपूर्ण मिलाकर करीब ७०००० हस्तलिखित प्रतियों का संग्रह, मैं अपने स्वर्गीय बडे भाई अभयराज जी नाहटा की स्मृति में स्थापित —'अभय जैन ग्रन्थालय' में अब तक कर सका हूँ। इनमे अनेक भाषाओं, अनेक विषयों व अनेक लिपियो के बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं जो अन्यत्र कहीं नही मिलते। उनमें हिन्दी के भी अलभ्य ग्रंथ हैं जिनमे से एक ग्रंथ का प्राप्त पाठ इस लेख मे प्रकाशित किया जा रहा है।

विक्रमीय १८वी शताब्दी के प्रारम्भ में कवि 'दूलह' एक उल्लेखनीय हिन्दी कवि हो गये हैं जिनके द्वारा रचित 'कविकुल-कंठाभरण' नामक अलंकार-सम्बन्धी काव्य काफी प्रसिद्ध है। इस काव्य का प्रथम संस्करण बाबू कवि जगन्नाथदास रत्नाकर ने सन् १८८८ में भारत-जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित करवाया था। ८३ वर्ष पूर्व प्रकाशित इस काव्य की प्रथमावृत्ति मेरे अभय जैन ग्रन्थालय में प्राप्त है जिसकी भूमिका में कविवर जगन्नाथदास रत्नाकर ने लिखा है, "हिन्दी भाषा के प्राचीन साहित्य-ग्रंथों के संग्रह करने में मेरी स्वाभाविक प्रीति रहती है और अनेक प्राचीन ग्रन्थ मैंने ढूंढ़-ढूंढ कर इकट्ठे भी किये हैं। उन ग्रंथों के प्रचारार्थ भी मैं यत्नवान् रहता हूँ। किन्तु हिन्दू जाति में अपनी भाषा से वैसी प्रति आजकल पाई नही जाती, इसी से लाचार हूँ। जो हो, इस ग्रंथ को छोटा समझ कर मैंने प्रकाशित किया है। यदि पाठकों की कुछ प्रीति देख पडेगी, तो क्रमशः मैं और-और ग्रंथो को भी छपवाऊँगा।

यह ग्रन्थ प्रसिद्ध भाषा-कवि-मुकुट श्री कालीदास कवि अन्तरवेद बनपुरा ग्रामवासी के पौत्र तथा कविन्द श्री उदयनाथ कवि के पुत्र श्री दूलह कवि का बनाया हुआ है। यह १८०४ संवत् के लगभग, संस्कृत चंद्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार १२० अलंकारों के संक्षेप से लक्ष्य-लक्षण रूप में बड़ी सरलता के साथ रचा गया था। भाषा के अलकार-विषयक ग्रन्थों में यह 'कविकुल-कण्ठाभरण' प्रामाणिक माना जाता है।

उपर्युक्त प्रकाशित संस्करण में कुल ८२ पद्य हैं जिनमे दोहा, कवित्त, सवैया, छन्द प्रधानतया है। इन छन्दों में भी प्रारम्भ में ७ और अन्त में ३ दोहे हैं। ११वाँ सवैया छन्द है, बाकी कवित्त है। ग्रन्थ के अन्त मे रचना-काल में रचना-स्थान का सूचक कोई पद्य नहीं है। पद्यों के बाद अन्त मे इतना ही लिखा है कि 'इतिश्री दूल्ह कविकृत कविकुल कण्ठाभरण अलंकार वर्णनं सुमाप्तम्।' अन्त में कवि रत्नाकार रचित एक दोहा है—

> कवि-कुल-कण्ठा-भरण को, निजमति के अनुसार।
> कवि रत्नाकर शोधिकै, जग में कियो प्रचार॥

और मुखपृष्ठ पर यह एक दोहा छपा है—

> जो यह कण्ठा-भरण को, कण्ठ करे सुख पाय।
> सभा मध्य सोभा लहे, अलंकृति ठहराय॥

उपर्युक्त संस्करण के बाद इस ग्रन्थ के और भी कई संस्करण निकले होंगे, पर वे मेरे संग्रह में नहीं हैं। वैसे इस ग्रन्थ का काफी प्रचार रहा है। 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' के प्रथम खंड के अनुसार इसकी ८ हस्तलिखित प्रतियाँ १९५५ तक खोज में मिल चुकी थीं। हमारे ग्रन्थालय और अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में भी इसकी प्रतियाँ प्राप्त हैं। खोज-विवरण के अनुसार इस ग्रन्थ का रचना-काल सन् १८०७ है। अभी तक कवि दूलह की यही एक रचना ज्ञात थी। पर हमारे ग्रन्थालय में कवि दूलह की दूसरी अज्ञात रचना—'दूलह-विनोद' का प्रथम पत्र प्राप्त हुआ है जिसकी पूरी प्रति अभी तक कहीं भी जानने में नहीं आई। इस प्रति के प्रारम्भ में "श्री शान्तिनाथ जी नमः" लिखा हुआ है, अतः यह किसी जैन मुनि या विद्वान् की लिखी हुई प्रति है। प्राप्त प्रथम पत्र में ११ दोहे और चार सवैया कुल १५ पद्य ही प्राप्त हुए है जिन्हें यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है जिससे इस ग्रन्थ की अन्य कोई पूरी प्रति कहीं भी मिल जाय तो इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विशेष विवरण प्रकाशित किया जा सकेगा। ग्रंथ के प्रारम्भ में "अथ दूलह विनोद लिख्यते" लिखा हुआ है। शाही सूजा और मुहमद का तथा शाही सुजान और साहिब आलम का कई पद्यों में उल्लेख है और कई पद्यों में कवि ने अपना नाम 'दूलह' दिया है।

श्री शांतिनाथ जी नमः। अथ 'दूलह विनोद' लिख्यते। दोहरा—

अलख अमूरति अगम गति, कहत न जीभ समाय।
अद्भुत अविगति जाह की, सो क्यों बरने जाहि ॥१॥
कहुँ नाहि अरु सब कहूँ, गुप्त प्रगट जग मांहि।
घट (घट) रह्यो समाय के, ज्यों जल में परिछांहि ॥२॥
गढि गढि तोरे फिर गढे, गढि तोरन समरथ।
भरि रीते रीते भरे, दुहूँ भाँति समरथ ॥३॥
सुर नर आपे आप घर, आपे घन बन ठाँउ।
आपे परगट होय के, धर्यो महम्मद नाँउ ॥४॥
आपु विधाता आप विधि, आपे गणपत्ति ईस।
आपे मोहन आपु हरि, आपु जगति जगदीश ॥५॥
आदि जन्म सब एक है, अरु फुनि अंतहु एक।
बोरें ते जग कहतु है, हिंदु तुरक विवेक ॥६॥
ढेरि अंखि लोग की, निरखत एक द्वै रास।
फुटी है जग आरसी, आते दरस पचास ॥७॥
जाहि विधाता कहतु है, ताकि छाया जानि।
साहिन साहि किरांन को, साहि सुजा सुलतांन ॥८॥
बदन जोति जिम चंद है, तेज ताप जिम भांन।
बहु नायक रस खांनि है, चातुर महा सुजान ॥९॥

यथा वरणनं सवैया ते ईसा।

मोहन रूप अनूप सिमुरत, भूप बलि विधि रूप सुधारो।
तेग बलि अरु त्याग बलि अरु, भाग्य बलि सिर ताज संवारो ॥
साहि सुजान बिहान को भांन, जिह्नां न जानत नैननि तारो।
साहिब आलम साहिन साहि, महम्मद साहि सुजा जगि प्यारो।

कान करहु चित हित धरहु सुनहु बात अनुकूल
दक्षनउंसठ धृष्ट है, च्यारो ए पति मूल ॥१०॥
सुनहु बात अनुकूल की, दुलह करत बखांनि।
प्रीति करे निज नारि सो, परनारिनि सो हांनि ॥११॥

कूल यथा—

कहुँ एक समै बिधि के करतै, दोउ रैन के बिचि बिछोह भई।
कवि दूलह दंपति के चितके, हित कि कछु बात न जात कही ॥
तलफे उ तवे बिलकि मुतवे तलफे विलफे निस बित गई।
फुनि भोर भये भहराय मिलि दोउ, जैसे मिले चकवा चकवी ॥

सवैया —

उट भये पल एक सखी तन की गति, ओर सों ओर भई।
मुरुकाइ झवांइ रहे हैं पिया, जिम जेठ सामे मुरझाइ जुई ॥
छिनके बिछुरे एह हाल भये, दिन द्वै बिछुरे कहा होय दई।
अनुकूल सुभाव सबै पिय से, पिय के जिय की बलिहार गई ॥

का। अथ दुछन लछन ॥

दूलह कहत बुझाय के दछिन शील सुभाव।
परिनारिनि को आप को, सौ राखो ढेव··· ॥

पत्र—१, नं० ७३७४

अभय जैन ग्रन्थालय,
बीकानेर

धनी धरमदास जी की बानी में विदेशी शब्द

कु० रमोला रूथ लाल

भारत में समय-समय पर अनेक जातियाँ आती रही हैं। चाहे उनका आगमन युद्ध की दृष्टि से हुआ हो, चाहे मैत्री भाव से, हिन्दी ने सदैव उनसे कुछ-न-कुछ ग्रहण ही किया है क्योंकि यह उसकी प्रकृति है। शिव व सुन्दर को समेटने की वृत्ति के कारण ही वह सदा से मुखर, सुबोध व सहज बनी हुई है। मध्ययुगीन राजनीतिक, सामाजिक ढाँचे ने साहित्य को भी अपने रंग में रँगने का प्रयास किया। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के पूर्वार्द्ध में 'ज्ञान' के माध्यम से ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग बताने वाले भक्त 'संत कवि' और उनकी शाखा 'संत-काव्यधारा' के नाम से प्रसिद्ध है। कबीर साहब इस ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रवर्तक हैं। उन्हीं के कदमों पर चलकर अनेक संत कवियों ने जन-मन में प्राण फूँकने का प्रयास किया। संत धरमदास इसी काव्यधारा के एक प्रमुख संत कवि और कबीर साहब के प्रिय शिष्यों में से थे।

संत धरमदासजी जाति से कसौंधन बनिये और बंधोगढ़ के एक बड़े महाजन थे। इसलिये इनके नाम के पूर्व 'धनी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। धनी धरमदासजी के जन्म व मृत्यु का ठीक-ठीक काल-निर्धारण करना कठिन कार्य है, किन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि उनकी आयु कबीर साहब से कम थी और उन्होंने कबीर साहब के लगभग पन्द्रह-बीस वर्ष बाद शरीर त्यागा था। इस तरह उनका जन्म-काल विक्रमी सम्वत् १४७५ से १५०० के बीच और मृत्यु का समय १६०० के आसपास समझना चाहिये, क्योंकि उन्होंने पूर्ण अवस्था प्राप्त कर शरीर त्यागा था। जीवन के आरम्भ में आप धर्मात्मा और भगवद्भक्त होते हुए भी पुराने धर्म-कर्म तथा मूर्ति-पूजन के समर्थक थे। पंडित पुजारियों को आपके यहाँ आश्रय प्राप्त था। काशी में कबीर साहब से हुई दो भेंटों से आपको 'निराकार' के सच्चे स्वरूप के दर्शन हुए और इसके बाद ही आप उनके शिष्य बन गये। सम्वत् १५७५ में कबीर साहब की मृत्यु के उपरांत आपको ही उनकी गद्दी और सभी ग्रन्थ मिले। 'अमर-सुख-निधान' तथा तुलसी साहब के 'घट-रामायन' में कबीर तथा धरमदासजी की भेंट का विस्तार से वर्णन मिलता है।

"फारसी, अरबी, तुर्की, अँग्रेजी तथा अन्य भाषाओं से जो शब्द हिन्दी में आये हैं, वे विदेशी कहलाते हैं।" हिन्दी व्याकरण (पृ० २५, कामताप्रसाद गुरु)। हिन्दी में अरबी, फारसी तथा तुर्की के विदेशी शब्दों का आगमन इस्लामी संस्कृति के आगमन के साथ हुआ। इस्लाम के आगमन से मध्ययुग में अरबी-फारसी के शब्दों का राजनीतिक व सामाजिक स्तर पर बोलचाल में अधिकाधिक प्रयोग होने लगा जो धीरे-धीरे साहित्य में भी दिखाई देने लगा। संत-कवियों ने भी अपनी वाणी में इन्हें ढालकर अभिव्यक्ति दी। संतों को ये शब्द प्रमुखतः तीन स्रोतों से प्राप्त हुए हैं—

(१) सूफी सन्तों से गृहीत शब्द।

(२) बोलचाल की भाषा में घुले शब्द ।
(३) पारिवारिक वातावरण से गृहीत शब्द ।

संत कवियों के काव्य में प्रयुक्त अरबी-फारसी के शब्द स्वभाविक ढंग से, जहाँ आवश्यकता पड़ी है, वहीं लिये गये हैं । कहीं भी ऐसा नहीं हुआ है कि पूर्ण रूप से उसी जबान, उसी भाषा का प्रयोग किया गया हो । इन शब्दों का अनावश्यक आग्रह नहीं है । वाणी के सहज प्रवाह में ये शब्द अपने-आप निकलते चले आये हैं । इन शब्दों के प्रयोग की सीमा बहुत सीमित रही है । 'साहब' से 'बन्दगी' करते हुए अथवा 'मुल्ला' को 'नमाज-रोजे' की व्यर्थता पर फटकारते हुए, कहीं 'साहेब' के सामने 'अरजी' रखते हुए धनी धरमदासजी 'अर्ज' करते रहे हैं, कहीं दो-चार दिन की 'जिन्दगी' के बेकार होने की बात पर बल दे अपनी बात बताते हैं ।

धनी धरमदासजी की वाणी में कुल प्रयुक्त शब्दों की संख्या ३७८ है जिनमे मूल शब्द १२१ हैं । आवृत्तियों वाले शब्द २५६ है । २५६ आवृत्तियाँ कुल ४२ शब्दों को है, बाकी ७९ शब्द केवल एक बार प्रयुक्त किये गये है । सम्पूर्ण विवरण निम्नलिखित है—

कुल मूल शब्द	कितनी बार	आवृत्तियों वाले कुल शब्द	आवृत्तियों वाले मूल शब्द	मात्र आवृत्तियाँ
७९	१	यहाँ आवृत्ति नहीं है ।	×	×
२६	२	५२	२६	२६
८	३	२४	८	१६
५	४	२०	५	१५
१	१५	१५	१	१४
१	९६	९६	१	९५
१	९२	९२	१	९१
१२१		२९९	४२	२५७

कुल मूल शब्द १२१
आवृत्तियाँ २५७
कुल शब्द ३७८

(क) आवृत्तियों के अनुसार अध्ययन—एक बार प्रयुक्त शब्द निम्नलिखित हैं—

खूब (पृ० १) दाग (पृ० १) दाब, पठान, मुरदा (पृ० ३) हद, दरियाव (पृ० ४) अलमस्त, कमर, गोला (पृ० ५) मुरचा, नफा, कबीला (पृ० ६) गुमान (पृ० ७) रोज, गरीब (पृ० ८) राह (पृ० ११) अमन, तलफै, मिहमान, गुजरान, हमेस (पृ० १२) गुमानी (पृ० १४) परवाह (पृ० २०) बन्दा, बकसनहार, अरजी (पृ० २१) असल, अदली, गुलाम, मरजी (पृ० २२) न्यामत, खरच, पाक, खाल, दुनिया, फुरमावैं (पृ० २४) बसेरा (पृ० २५) जहाज, फिरियाद, अजब, पियाला, गजब, मिहरबान, खिजमत (पृ० २६) पनाह, गुनाह (पृ० २७) रैयत, हजूरी (पृ० २८) दरबारा (पृ० २९) सौदा, मौज (पृ० ३०) नूर, बेकार (पृ० ३८) बदफैल, ताख, अर्द, गर्द (पृ० ३९), गुलेल, मस्तूल, असमान, मसाल (पृ० ४०) दरज, जामा (पृ० ४४) बकसीस, जबाब (पृ० ४९) हिकमत, दरवाजा (पृ० ५३) औलिया (पृ० ५७) मैदान (पृ० ५९) सिरताजा (पृ० ६६) खलीता

(पृ० ६८) माल, मुसलमान, दीन (पृ० ६८) काजी, बाजी (पृ० ७३) दस्तक, हुसियार (पृ० ७५) काफूर (पृ० ७६)।

उपर्युक्त एक बार प्रयुक्त हुए शब्दों के अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे भी है जो दो या दो से अधिक बार प्रयुक्त हुए हैं। कहीं ये रूप, मात्रा, आकार की दृष्टि से समान है और कहीं भाषागत परिवर्तनों से असमान भी हो गये है। ऐसे कुल शब्दों की संख्या ४२ है जो अपनी आवृत्तियों के अनुसार आगे दिये जा रहे हैं।

एक बार आवृत्ति :

तुरुक (पृ० ३, ४) फौज (पृ० ६-३०) जिन्दगी (पृ० ७, ७) कागद (पृ० ७, ७) कुरबान (पृ० १०, १२) निसानी (पृ० १४, ५६) परवाना (पृ० ८, १४) अदल (पृ० २२, ६५) खजाना (पृ० २४, ६५) खाक (पृ० २४, ३८) दाद (पृ० २६, ७३) बकस (पृ० २६, २७) तमासा (पृ० २८, ७८) ख्याल (पृ० २८, ६३) मुलुक (पृ० ३१, ६८) हरदम (पृ० ३१, ३१) दरजी (पृ० ३३, ४४) सौदागर (पृ० १०, ३८) दीवानी (पृ० ६५, ७६) किताब (पृ० ६८, ७३) तखत (पृ० ३२, ५०) साहेबी (पृ० १७, २२) चौगान (पृ० ८, ३२) सुहैल (पृ० ४१, २६) मेहर (पृ० २५, ५०) महर (पृ० ५८, ५८)।

दो बार आवृत्ति :

कबुर (पृ० ३, ४, ४) सिपाही (पृ० ५, ६, ६, ५) बजारा (पृ० ७, २२, ५७) दरद (पृ० ११, ११, ३३) दीदार (पृ० २०, २६, ५८) नजर (पृ० २७, ३०, ५३) पीर (पृ० ५७, ६८, ६८) निहाल (पृ० १, १०, ११)

तीन बार आवृत्ति :

महल (पृ० १४, २४, ४०, ५८) दिल (पृ० ११, १३, २६, ४४) नाहक (पृ० ३०, ३०, ६८, ६८) बंदगी (पृ० १५, १८, २१, २६) मोकाम (पृ० ३८, ५८, ५८, ७०)।

चौदह बार आवृत्ति :

'अर्ज' शब्द की कुल १४ आवृत्तियाँ हैं। साहब से धरमदास जी कहीं अर्ज करते हैं, कहीं सुनाते है, कहीं लिखते हैं और कहीं मानने को कहते हैं। अर्ज करते समय उन्हें साहब की अपेक्षा गुसाँई की अधिक याद रहती है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि गुजारिश करने, प्रार्थना करने, निवेदन करने के लिये 'अर्ज' शब्द उन्हें विशेष प्रिय था। अर्ज शब्द 'अरज', 'अर्ज' और 'अरजी' इन तीनो रूपों मे प्रयुक्त हुआ है।

अर्ज (पृ० ११, १३) अरजी (पृ० २२) अरज (पृ० १०, १२, १७, २१, २२, २४, २५, २५, २६, २६, ४१, ५२)।

पंचानवे बार आवृत्ति :

धरमदास जी की बानी में 'साहेब' शब्द मुख्यतः ईश्वर के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'साहब' या 'साहिब' रूप मे उसका रूपांतर नहीं मिलता। ८६ आवृत्तियों में से उनतीस आवृत्तियाँ ऐसी हैं जहाँ 'साहेब' शब्द के साथ 'कबीर' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। कबीरदासजी धरमदासजी के गुरु थे, जैसा कि धरमदासजी स्वयं लिखते हैं—

साहिब कबीर मिले मोहि सतगुरु। (पृ० १६)

उन्होंने (कबीर साहब ने) ही धरमदासजी को 'साहेब' नाम की माला दी है—

साहेब कबीर एक माला दीन्हा। (पृ० ६३)

वैसे 'कबीर' शब्द का अर्थ है 'महान्' और 'साहेब' के साथ यह उसकी महानता का बखान करने के लिये ही विशेष रूप से प्रयुक्त किया गया है—

'धरमदास के साहेब कबीरा।' (पृ० ३१ शब्द ७ भेद का अंग)

कबीर के मन में बसे साहेब अब धरमदास के मन मे भी बसने लगे हैं—

'साहेब कबीर 'केदिहल' (पृ० ४४ शक १५ मंगल)

साहेब—(पृ० ३, ४, ५, ६, ७, ७, ७, ११, ११, १२, १२, १२, १३, १३, १४, १७, १७, १८, १८, १९, १९, २०, २०, २०, २१, २१, २२, २२, २२, २३, २३, २३, २३, २३, २४, २४, २५, २५, २५, २६, २६, २७, २८, ३०, ३१, ३१, ३१, ३२, ३२, ३२, ३२, ४१, ४२, ४३, ४४, ४८, ५०, ५०, ५०, ५०, ५०, ५०, ५१, ५१, ५१, ५१, ५१, ५२, ५५, ५६, ५७, ५७, ५८, ५८, ५९, ६१, ६२, ६३, ६३, ६३, ६३, ६३, ६३, ६३, ६४, ६४, ६५, ६६, ६६, ६६, ६६, ६६, ६७, ६९, ६९, ७१)।

बानवे बार आवृत्ति :

'कबीर' शब्द का प्रयोग धरमदासजी की बानी मे बानवे बार हुआ है। (पृ० ३) 'धरमदास कबीर पिय पाये' जैसी पंक्ति 'कबीर' के मूल अर्थ 'महान्' से संयुक्त होकर ईश्वर महान् के लिये प्रयुक्त हुई है। धरमदास के गुरु निर्गुण धारा के प्रवर्तक कबीरदासजी ही थे। अपने कथन में उनके प्रति भी श्रद्धाभाव व्यक्त करते हुए धरमदासजी ने उनका नामोल्लेख किया है। गुरु तथा कबीर दोनों के लिये समान अर्थ रखता हुआ यह शब्द चार बार प्रयुक्त हुआ है। ईश्वर के लिये बाईस बार तथा गुरु के लिये ६६ बार यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

कबीर—(पृ० १, २, २, ३, ३, ३, ४, ४, ५, ६, ६, ७, ७, ८, ८, ११, १२, १२, १४, १४, १५, १६, १६, १६, १७, १९, २०, २०, २०, २१, २२, २२, २३, २३, २४, २७, २७, २८, २८, २९, ३२, ३३, ३३, ३३, ३४, ३४, ३५, ३६, ३७, ३७, ३८, ४०, ४०, ४१, ४१, ४२, ४२, ४३, ४४, ४४, ४८, ४७, ४९, ५०, ५१, ५२, ५२, ५४, ५५, ५६, ५७, ५७, ५८, ५९, ६२, ६२, ६२, ६४, ६६, ६७, ६८, ६९, ६९, ७०, ७२, ७४, ७८, २५, २५, ६३, ६२)।

(क) अनेक रूपों में प्रयुक्त शब्द :

एक बार और एक से अधिक बार प्रयुक्त हुए शब्दों मे कुछ शब्द उच्चारण-भिन्नता के अनुसार भिन्न परिवर्तित रूप में प्रयुक्त हुए है। इस प्रकार के शब्द निम्नलिखित हैं :

(१) फौज (पृ० ३०)
फउज (पृ० ६)
(२) जिंदगी (पृ० ७)
जिन्दगानी (पृ० ७)
(३) बक्सी (पृ० २६)
बकस (पृ० २७)
(४) नजर (पृ० २७, ५३)
नजरि (पृ० ३०)

(५) मुकाम (पृ० ३८, ५८, ५८)
    मोकाम (पृ० ७०)
(६) अर्ज (पृ० ११, १३)
    अरजी (पृ० २२)
(७) दिल (पृ० १, १३, २६)
    दिहल (पृ० ४४)
(८) बजार (पृ० ७, ५७)
    बजारा (पृ० २२)
(९) कबुर (पृ० ३, ४)
    कबर (पृ० ४)
(१०) निहाल (पृ० १)
    निहाला (पृ० ३१)
(११) सुहेल (पृ० ४१)
    सुहेला (पृ० २६)
(१०) कबीर (पृ० ७८) (९२ बार)
    कबीरा (पृ० ६२) (५ बार)
(१३) दीवानी (पृ० ६५)
    दीवान (पृ० ७६)

(ख) शुद्ध तथा विकृत प्रयोग की दृष्टि से :

धनी धरमदासजी की बानी में जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से कुछ शब्द अपने मूल तत्सम शुद्ध रूप में प्रयुक्त हुए हैं तथा कुछ शब्द किन्हीं-किन्हीं कारणों से विकृत रूप में प्रयुक्त हुए हैं जिनकी अलग-अलग सूची नीचे दी जा रही है।

मूल शुद्ध शब्द :

हद, अलमस्त, कमर, राह, सोदा, मौज, गुनाह, बेकार, अजब, नूर, मस्तूल, औलिया, मैदान, माल, मुसलमान, दीन, रैयत, पनाह, दार, हरदम, दीवानी, सुहेल, दिल, सिपाही, दीदार, पीर, निहाल, महल, बसेरा, दुनिया, कबीर, अदली, अदल, फौज।

विकृत रूप :

खूब, दाम, मुरदा, दरियाव, गोला, मुरचा, नफा, कबीला, गुमान, गरीब, अमन, तलफै, मिहमान, गुजरान, हमेस, गुमानी, परवाह, बंदा, बकसनहार, असल, गुलाम, अदली, हजूरी, बदफैल, ताख, गुलेल, असमान, मसाल, दरजा, जामा, बकसीस, जवाब, हिकमत, दरवाजा, खलीता, काजी, बाजी, दस्तक, काफूर, अरजी, दरबारा, मरजी, न्यामत, खरच, मेहर, फुरमावै, जहाज, फिरियाद, अजब, पियाला, गजब, मिहरबान, खिजमत, तुरुक, फौज, जिंदगी, कागज, कुरबान, निसानी, परवाना, खजाना, खाक, बक्स, तमासा, खयाल, मुलुक, दरजी, सौदागर, तखत, चौगान, नाहक, बंदगी, कबुर, कबर, कितेब, बजार, बजारा, दरद, नजर, साहेब, साहेबी, अर्ज, अरज, कबीरा, दिहल, खान, रोज, मेहर, हुसियार, फउज, जिन्दगानी, मुकाम, मोकाम, नजरि, [illegible]।

(ग) विदेशी अर्द्धतत्सम शब्द :

अर्द्धतत्सम	तत्सम	अर्द्धतत्सम	तत्सम
खूब	ख़ूब	दाग	दाग़
कबीला	क़बीला	गुमान	ग़ुमान
गरीब	ग़रीब	गुजरान	ग़ुज़रान
गुलाम	ग़ुलाम	गुलेल	ग़ुलेल
काजी	क़ाज़ी	बाजी	बाज़ी
दस्तक	दस्तक़	काफूर	क़ाफ़ूर
रोज	रोज़	खान	खान
बंदगी	बंदग़ी	नाहक	नाहक़
चौगान	चौग़ान	खाक	खाक़
जिन्दगी	ज़िन्दग़ी	गजब	ग़ज़ब
मुरदा	मुर्दः	गोला	गोलः
मुरचा	मोरचः	नफा	नफ़अ
अमन	अम्न	मिहमान	मेहमान
हमेस	हमेशः	परवाह	पर्वा
बंदा	बंदः	असल	अस्ल
हजूरी	हुज़ुरी	बदफैल	बदफ़ैल
ताख	ताक़	आसमान	आस्मान
मसाल	मशाल	दरज	दर्जः
जामा	जामः	बकसीस	बख्शिश
जबाब	जवाब	हिकमत	हिक्मत
दरवाजा	दरवाजः	खलीता	खलीता
अरजी	अर्ज़ी	दरबारा	दरबार
मरजी	मर्ज़ी	खयाल	ख्याल
तमासा	तमाशा	बकस	बख्श
खजाना	खज़ाना	परवाना	पर्वानः
निसानी	निशानी	कुरबान	कुर्बान
तुरुक	तुर्क	खिजमत	खिदमत
मिहरबान	मिह्रबान	फिरियाद	फरियाद
पियाला	पियालः	खरच	खर्चः
मुलुक	मुल्क	दरजी	दर्ज़ी
तखत	तख्त	मोकाम	मक़ाम
कितेब	किताब	कबुर	कब्र
बजार	बाज़ार	दरद	दर्द
साहेब	साहिब	मेहर	मेह्र
हुस्यार	होशियार		

नुक़ते (़) के लोप, स्वरभक्ति तथा वर्ण-परिवर्तन की गति से तत्सम शब्द अर्द्धतत्सम हो गये हैं। नुक़ते का लोप छापे की त्रुटि भी हो सकती है और कवि द्वारा गलत उच्चारण किया जाना भी। क्या सही है, यह तय करना कठिन है। किंतु यह अवश्य है कि प्रेस में नुक्तों का ध्यान अवश्य ही रखा गया होगा। एकाध स्थलों पर ही यह त्रुटि सम्भव हो सकती है, हर कहीं नहीं।

(घ) विदेशी शब्द : अनुप्रास की दृष्टि से :

मध्यकाल में विदेशी शब्दों से तात्पर्य मुख्यतः अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों से ही है। धनी धरमदास के काव्य में अनुप्रास की दृष्टि से फारसी को प्रथम, अरबी शब्दों को द्वितीय तथा तुर्की शब्दों को तीसरी श्रेणी में रखा जा सकता है। अरबी, फारसी तथा तुर्की शब्दों की सूची नीचे दी जा रही है।

फारसी :

खूब, दाग, मुरदा, दरियाव, अलमस्त, कमर, गोला, मुरचा, गुमान, राह, मिहमान, गुजरान, हमेस, गुमानी, परवाह, बंदा, बकसनहार, गुनाह, बेकार, बदफैल, मस्तूल, असमान, जामा, बकसीस, दरवाजा, मैदान, बाजी, दस्तक, काफूर, दरबारा, खरच, पाक, मेहर, फुरमावै, फिरियाद, पियाला, मिहरबान, पनाह, जिन्दगी, निसानी, परवाना, खाक, दाद, बकरा, हरदम, दरजी, सौदागर, दीवानी, तखत, चौगान, नाहक, बंदगी, दिल, सिपाही, बजार, दरद, दीदार, पीर, निहाल, रोज, मेहर, बसेरा, हुसियार, अर्द-गर्द। (कुल ६४)

अरबी :

हद, नफा, कबीला, गरीब, अमन, तलफै, असल, गुलाम, अदली, हजूरी, सौदा, मौज, नूर, ताख, गुलेल, मसाल, दरज, जवान, हिकमत, औलिया, खलीता, माल, मुसलमान, दीन, काजी, अरजी, रैयत, मरजी, न्यामत, जहाज, अजब, गजब, खिजमत, फौज, कागज, कुरबान, अदल, खजाना, तमासा, ख्याल, मुलुक, महल, कितेब, साहेबी, सुहेल, मोकाम, कबुर, नजर, साहेब, अर्ज, कबीर, अदली, महर, दुनिया, लाख। (कुल ५५)

तुर्की :

तुरुक, खान, पठान। (कुल ३)

(च) संज्ञा शब्द :

दाग, हद, दरियाव, कमर, गोला, मुरचा, नफा, कबीला, गुमान, राह, अमन, मिहमान, गुजरान, परवाह, बंध, गुलाम, अदली, हजूरी, सौदा, मौज, गुनाह, नूर, ताख, गुलेल, मस्तूल, असमान, मसाल, जामा, बकसीस, जवाब, हिकमत, दरवाजा, औलिया, मैदान, माल, दीन, बाजी, दस्तक, अरबी, रैयत, दरबारा, मरजी, न्यामत, मेहर, जहाज, फिरियाद, पियाला, गजब, खिजमत, पनाह, तुरुक, फौज, जिन्दगी, कागद, कुरबान, निसानी, परवाना, अदल, खजाना, खाक, तमासा, ख्याल, मुलुक, दरजी, सौदागर, महल, दीवानी, कितेब, तखत, चौगान, सुहेल, मोकाम, बन्दगी, दिल, कबुर, सिपाही, बजार, दरद, दीदार, नजर, पीर, साहेब, अदली, खान, पठान, मेहर, महर, बसेरा, दुनिया, मुसलमान, काफूर।

(छ) विशेषण शब्द :

मुरदा, खूब, गरीब, असल, बेकार, दरज, खलीता, काजी, काफूर, पाक, अजब, कुरबान, हरदम, साहेबी, नाहक, निहाल रोज अर्द-गर्द हुसियार मुसलमान अलमस्त मिहरबान।

(ञ) संज्ञा-विशेषण :

मुसलमान, काफूर, अर्ज, कबीर ।

(झ) क्रिया-विशेषण :

हमेस ।

(ट) क्रिया :

फुरमावै, बकस ।

(ठ) अव्यय :

बदफैल ।

इन सभी संज्ञा, विशेषण शब्दों में पुलिंग शब्दों की अधिकता है । स्त्रीलिंग वाचक शब्द कम ही प्रयुक्त हुए हैं ।

(ड) संकर शब्द :

किसी दो भाषा के दो शब्दों से मिलकर बने शब्द को संकर शब्द कहा जाता है । मलूकदास जी की बानी में 'सिरताजा' इसी प्रकार का शब्द है ।

सिर (हिन्दी तद्भव) + ताजा (फारसी)

(ढ) युग्म शब्द :

कभी-कभी कुछ शब्द अनायास ही जोड़ों के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं । इन्हें युग्म शब्द कहते हैं । ये युग्म विदेशी + विदेशी, हिन्दी के तत्सम, तद्भव, अर्द्धतत्सम + विदेशी अथवा देशज + विदेशी रूपों में दिखाई देते हैं । धनी धरमदासजी की वाणी में ऐसे प्रयोगों की संख्या कम ही है । कुल प्राप्त युग्म निम्नलिखित हैं—

खांव पठान (पृ० १३)	तुर्की + तुर्की
अमन गुजरान (पृ० १२)	अरबी + फारसी
साहेब साहेबी (पृ० १७)	अरबी + फारसी
खरच खजाना (पृ० २४)	फारसी + अरबी
दाद फिरियाद (पृ० २६)	फारसी + अरबी
पीर औलिया (पृ० ५७)	फारसी + अरबी
माल मुलुक (पृ० ६८)	अरबी + अरबी
अर्द-गर्द (पृ० ३८)	फारसी + फारसी
कुटुम कबीला (पृ० ६)	हि० अर्द्धतत्सम् + अरबी
हिन्दू तुरुक (पृ० ४)	हि० तद्भव + तुर्की
बेद कतेब (पृ० ६८)	हि० अर्द्धतत्सम् + अरबी
दर्द-गर्द (पृ० ३८)	देशज + फारसी

(त) पुनरुक्त शब्द :

शब्दों की पुनरुक्ति किसी विशेष भाव को समग्रता से प्रकाशित करने के लिये की जाती है या हो जाती है ? धनी धरमदासजी के विदेशी शब्दों में दो ही शब्दों की पुनरुक्ति हुई है ।

हरदम—हरदम हरदम फेरे हो । (पृ० ३१)

महर—महर महर करै फूल (पृ० ५८)

(ग) सूफी शब्दावली से ग्रहीत शब्द :

सूफी काव्य से प्रभावित होने के कारण संतों ने उनकी शब्दावली को भी सहज ही अपनाया। आत्मा-परमात्मा के मधुर सम्बन्धों को इन शब्दों से और भी चमकाने का प्रयास किया गया है। धर्मदासजी के काव्य में निम्नलिखित शब्द प्राप्त होते हैं—

अर्ज	(पृ० ११)	दीदार	(पृ० २६)	पीर	(पृ० ५७)
बंदा	(पृ० १०)	पनाह	(पृ० २७)	ख्याल	(पृ० २८)
मौज	(पृ० ३०)	नूर	(पृ० ३८)	दीवानी	(पृ० ६५)
हजूरी	(पृ० २८)	फौज	(पृ० ३०)	दिहल	(पृ० ४४)
दरद	(पृ० ११)	तलफै	(पृ० १२)	निसानी	(पृ० १४)
फिरियाद	(पृ० २६)	पियाला	(पृ० २६)	कुरबान	(पृ० १२)
मौज	(पृ० ३०)	अलमस्त	(पृ० ५)		

(द) जनवाणी में घुले शब्द :

कोई भी भाषा जब किसी अन्य भाषा के शब्दों को ग्रहण करती है तो ग्रहण की गई भाषा के सरल शब्द-रूप जनवाणी में इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि कुछ समय पश्चात् यह तय करना कठिन हो जाता है कि उसमें से किस शब्द को अपना कहें और किसे विदेशी। मध्ययुगीन समाज मे अरबी-फारसी के कुछ शब्द इस प्रकार जबान पर चढ़े कि उनको अपना न कह विदेशी मानने को मन तैयार नहीं होता। धनी धरमदासजी की बानी में ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक है जो नीचे दिये जा रहे हैं—

मुरदा	(पृ० ३)	पियाला	(पृ० २६)	गोला	(पृ० ६)
नफा	(पृ० ६)	अमन	(पृ० १२)	तलफै	(पृ० १२)
सौदा	(पृ० २०)	ताख	(पृ० ३८)	अरजी	(पृ० २२)
दरबारा	(पृ० २८)	कागज	(पृ० ७)	निसानी	(पृ० १४)
कमर	(पृ० ५)	राह	(पृ० ११)	तखत	(पृ० ३२)
गुलेल	(पृ० ४०)	मस्तूल	(पृ० ४०)	मैदान	(पृ० ५८)
रैयत	(पृ० २८)	खाल	(पृ० २४)	बाजी	(पृ० ७३)
जहाज	(पृ० २५)	खजाना	(पृ० २४)	बजार	(पृ० ७)
साहेब	(पृ० १७)	दीवानी	(पृ० ६५)	दिल	(पृ० ९)
सिपाही	(पृ० ५)	सौदागर	(पृ० १०)	कबीर	(पृ० ३६)
नजर	(पृ० २७)	बंदगी	(पृ० १५)	नाहक	(पृ० ३०)

(ध) संतों के रंग में ढले शब्द :

संतों ने विदेशी शब्दों को ग्रहण कर उन्हें अपने ही रंग में ढाल लिया, अर्थात् शब्द तो वही रहे, किन्तु उनकी शैली, गति, भावाभिव्यक्ति हिन्दी के ढंग की अथवा संतों के ढंग की हो गई। धरमदास के काव्य में निम्नलिखित शब्द इसी श्रेणी के हैं—

कबुर	(पृ० ३)	कागद	(पृ० ७)	खिजमत	(पृ० २६)
खांव	(पृ० ३)	तुरुक	(पृ० ३)	दरद	(पृ० ११)
दिहल	(पृ० ४४)	निसानी	(पृ० १४)	फउज	(पृ० ६)

फिरियाद	(पृ० ६)	बकसनहारा	(पृ० २१)	बक्सौ	(पृ० २६)
बकस	(पृ० २७)	मुलुक	(पृ० ३१)	मुरचा	(पृ० ६)
मिहरबान	(पृ० २६)	हुसियार	(पृ० ७५)		

(न) विशेष प्रिय शब्द :

प्रत्येक मनुष्य के कुछ विशेष प्रिय शब्द होते हैं जिनका वह अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में बहुत बार प्रयोग करता है। धरमदासजी की बानी में 'साहेब' शब्द ८६ बार, 'कबीर' शब्द ८२ बार, 'अर्ज' १५ बार, 'दिल', 'बंदगी', 'नाहक' ४ बार और दीदार ३ बार प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों की इतनी अधिक आवृत्तियाँ इनकी प्रियता की सूचक हैं। इनमें भी दीदार, अर्ज और साहेब उनके प्रिय शब्द प्रतीत होते हैं।

(प) उपसर्ग-प्रयोग :

उपसर्गयुक्त विदेशी शब्द धरमदासजी के काव्य में प्रयुक्त तो अवश्य हुए हैं, किन्तु इस ढंग से शब्द-रचना कम ही हुई है। निम्नलिखित उपसर्गों के योग से शब्द-निर्माण हुआ है—

ना, हर, बे, बद, अल, दर आदि।

नाहक (फारसी उपसर्ग) पृ० २०, ३०, ६८, ६८।
हरदम (फारसी उपसर्ग) पृ० ३१।
बेकार (फारसी उपसर्ग) पृ० ३८।
बदफैल (फारसी उपसर्ग) पृ० ३८।
अलबेल (अरबी उपसर्ग) पृ० ४५।
अलमस्त (अरबी उपसर्ग) पृ० ५।
दरबार (फारसी उपसर्ग) पृ० २८।

(फ) प्रत्यय-प्रयोग :

उपसर्ग की भाँति प्रत्यय-प्रयुक्त विदेशी शब्द भी अल्प संख्या में मिलते हैं—
जिन्दगानी पृ० ७ (आनी) अरबी प्रत्यय
गलतानी पृ० १४ (आनी) अरबी प्रत्यय
बकसनहार पृ० २१ (हार) हिन्दी प्रत्यय
दरियाव पृ० ४ (आव) हिन्दी प्रत्यय
गुजरान पृ० १२ (आन) हिन्दी प्रत्यय
गुमानी पृ० १४ (ई) अरबी प्रत्यय
निसानी पृ० १४, ५६ (ई) अरबी प्रत्यय
साहेबी पृ० १७, २२ (ई) अरबी प्रत्यय
बजारा पृ० २२ (आ) फारसी प्रत्यय
सुहेला पृ० २६ (आ) फारसी प्रत्यय
मिहरबान पृ० २६ (बान) फारसी प्रत्यय

(ब) स्वरभक्ति की प्रवृत्ति :

गेय स्थिति में मात्रापूर्ति के लिये अथवा मुख-सुख के कारण स्वरभक्ति की स्थिति के दर्शन होते हैं इस प्रकार के शब्द अग्रलिखित हैं

तुरक	(तुर्क)	(पृ० ३)	खरच	(खर्च)	(पृ० २४)
मुरदा	(मुर्दः)	(पृ० ३)	मिहरबान	(मेहरबान)	(पृ० २६)
कबर	(क़ब्र)	(पृ० ४)	फुरमावे	(फर्मान)	(पृ० २६)
फउज	(फौज)	(पृ० ६)	बकस	(बख्श)	(पृ० २७)
परवाना	(पर्वानः)	(पृ० ८)	मुलुक	(मुल्क)	(पृ० ३१)
कुरबान	(कुर्बान)	(पृ० १०)	तखत	(तख्त)	(पृ० ३२)
अरज	(अर्ज)	(पृ० १०)	दरजी	(दर्जी)	(पृ० ३३)
दरद	(दर्द)	(पृ० ११)	दरज	(दर्ज)	(पृ० ४४)
परवाह	(पर्वा)	(पृ० २०)	बकसीस	(बख्शीश)	(पृ० ४८)
अरजी	(अर्जी)	(पृ० २१)	हिकमत	(हिक्मत)	(पृ० ५३)
मरजी	(मर्जी)	(पृ० २२)	अमन	(अम्न)	(पृ० १२)
असल	(अस्ल)	(पृ० २२)	मेहर	(मैह्र)	(पृ० २५)

(भ) बलाघातीय परिवर्तन :

बलाघात से पहले या पीछे के स्वर प्रायः ह्रस्व हो जाते हैं। धनी धरमदास जी के काव्य में निम्नलिखित बलाघातीय परिवर्तन हुए हैं—

बजार	(बाजार)	(पृ० ७)	मिहमान	(मेहमान)	(पृ० १२)
हुसियार	(होशियार)	(पृ० ७५)	असमान	(आसमान)	(पृ० ४०)
हमेस	(हमेशः)	(पृ० १२)			

(म) ध्वनि-अध्ययन :

शब्दों में नवीनता वक्ता की निजी प्रतिभा, उसकी निजी प्रयुक्ति से होती है। वक्ता उसे अपने अनुकूल गढ़ के अथवा तोड़-मरोड़ के एक नवीन रूप में ढाल देता है। शब्द के रूप में परिवर्तन या तो प्रयोक्ता की उसकी नवीन प्रस्तुति में रुचि के कारण अथवा शब्द के वास्तविक उच्चारण से परिचित न होने के कारण होता है। इस तरह स्वर तथा व्यंजनों के लोप, आगम और परिवर्तन से शब्दों के नवीन स्वरूप सामने आते हैं। धनी धरमदासजी की बानी में हुए स्वरूप-भेदों का अध्ययन निम्नलिखित है।

(१) ध्वनि-परिवर्तन :

(क) व्यंजन-परिवर्तन :

क>ख (ताक़) ताख

ख>क (बख्श) बकस, बकसनहार, बकसी, बकसीस।

श>स (मशाल) मसाल, (हमेशः) हमेस, (निशानी) निसानी, (होशियार) हुसियार, (तमाशा) तमासा, (बख्श) बकस।

ब>व (जवाब) जबाब

द>ज (खिदमत) खिजमत

ज़>द (काग़ज़) कागद

न>ँ (खान) खाँव

(ख) स्वर-परिवर्तन :

अ>उ (मक़ाम) मुकाम, (कब्र) कबुर

अ>ओ (मक़ाम) मोकाम

अ>इ (फरियाद) फिरियाद, (नज़्) नजरि

आ>ए (किताबः) कितेब

इ>ए (साहिब) साहेब

ए>ई (मेहमान) मिहमान, (मेह्रबान) मिहरबान

ए>आ (नेमत) न्यामत

(२) ध्वनि-आगम :

(क) व्यंजनागम :

'ह' का आगम —दिहल (दिल)

'व' का आगम —दरियाव (दर्या)

'ह' का आगम —परवाह (पर्वा)

(ख) स्वरागम :

ए>ऐ —बदफेल (बदफैल)

अ>आ —खलीता (खलीत)

व>ओ —औलिया (वली का बहुवचन)

: (ह्) आ —पियाला (पियालः)
परवाना (पर्वानः)
दरवाजा (दरवाजः)
बंदा (बंदः)
मुरचा (मोरचः)
गोला (गोलः)
मुरदा (मुर्दः)
जामा (जामः)
खजाना (खजानः)

कहीं-कहीं : (ह्) का आ के रूप में आगम नहीं भी हुआ है। जैसे—(खर्चः) खरच, (हमेशः) हमेस, (किताबः) कितेब।

(३) ध्वनिलोप :

व्यंजनलोप नहीं है। स्वरलोप के दर्शन होते हैं —

आ>अ - (आस्मान) असमान

धनी धरमदासजी की वाणी में विदेशी शब्दों (अरबी, फारसी, तुर्की) का अध्ययन करते समय जो एक विशेष बात सामने आयी, वह यह है कि कवि का रुझान अथवा मोह इन शब्दों की ओर विशेष नहीं है। साधारण ढंग से जैसा कि प्रतिदिन सुनते-सुनते कुछ शब्द ध्यान में चढ़ जाते हैं या वाणी के अंग बन जाते है, अनायास ही प्रयुक्त हो गये हैं और इन प्रयुक्त शब्दों को भी कवि ने कई स्थलों पर उनकी जगह होते हुए भी प्रयोग नहीं किया है

१८६ के लगभग बन्धों में अपने कथ्य को प्रस्तुत करता हुआ कवि मात्र एक चौथाई से भी कम बन्धों मे इन शब्दों का प्रयोग करता है— वह भी कुछ खास पदों में ३ शब्दों से अधिक संख्या में, नहीं तो शेष सभी पदों में यह संख्या मात्र एक-दो ही है। २८ पदों में इनकी प्रयोग-स्थिति इस प्रकार है :

एक पद में	२ शब्द
दो पद में	३ शब्द
पांच पदों में	४ शब्द
पांच पदों में	५ शब्द
छह पदों में	६ शब्द
पांच पदों में	७ शब्द
एक पद में	८ शब्द
एक पद में	१० शब्द
एक पद में	१२ शब्द

इनमें आवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं।

कवि की अभिव्यक्ति के १८ विषय है, किंतु मात्र ग्यारह विषयों के अन्तर्गत ही इन शब्दों का कुल प्रयोग देखने को मिलता है जिनकी सूची नीचे दी जा रही है—

(१) सतगुर महिमा का अंग
(२) नाम महिमा का अंग
(३) चेतावनी का अंग
(४) बिरह और प्रेम का अंग
(५) भेद का अंग
(६) बिनती का अंग
(७) मंगल
(८) बधावा
(९) होली
(१०) सोहर
(११) मिश्रित का अंग आदि।

कुछ विषय, जैसे नामलीला, दानलीला, पहाड़ा, राग, गारी, बसंत, उपदेश इन प्रयोगो से लगभग मुक्त ही रहे हैं। बिनती के अंग में सर्वाधिक विदेशी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। धनी धरमदासजी की प्रवृत्ति द्वित्व प्रयोग की रही है। शब्दों को जोड़े में प्रयुक्त करते हैं।

धनी धरमदासजी का स्वामी बड़ा ही मिहरबान साहब है। उसके पास ढेरों खरच-खजाना है। वह पल भर में खाक को पाक बना देता है। उसी ने काया-रूपी अजब पियाले को बनाया है। धरमदासजी उसी की बन्दगी-खिदमत करते हुए उनसे अपने-अपने अगले-पिछले गुनाहों को बख्शने की दाद-फिरियाद करते हैं। वही दिल के दाग को छुड़ाता है। जितने भी सुर, नर, मुनि और पीर-औलिया हुए, वे सबके-सब चले गये। इस संसार से माल-मुलुक कुछ भी संग नहीं ले जाया जा सकता है। धर्मदासजी वहीं अमन गुजराते हैं।

* मूल वाणी के उद्धरणों में प्रयुक्त ख्र वर्ण टंकण में 'ख' रूप में प्रयुक्त किया गया है।

द्वारा श्री अनुराग वर्मा
कुलभास्कर इंटर कालेज
इलाहाबाद

प्राचीन हिन्दी काव्य में पत्राचार के सन्दर्भ

डॉ० कमल पुंजाणी

प्रियजन के पास पत्र लिखकर सन्देश भेजने की परम्परा अति प्राचीन है। जब लेखन की सामग्री और यातायात की सुविधा आज के समान सर्वसुलभ नहीं थी, तब भी लोग पत्र लिखते थे और प्रियजन तक पहुँचा थे। उन दिनों भोजपत्र, ताड़पत्र आदि पर पत्र लिखकर हंसों, कबूतरों आदि के सहारे गंतव्य स्थान तक पहुँचाये जाते थे।

हिन्दी पत्र-लेखन की प्राचीन परम्परा के सन्दर्भ सर्वप्रथम हमें प्राचीन काव्य में प्राप्त होते हैं। जैसा कि डॉ० प्रेमप्रकाश गुप्त ने कहा है, "प्राचीन काल में पद्य की प्रधानता और गद्य की गौणता रही। राजनीति, वैद्यक, ज्योतिष, गणित आदि व्यावहारिक और वैज्ञानिक विषय भी उस समय पद्य में व्यक्त किये जाते थे। यहाँ तक कि पत्र-व्यवहार में भी पद्य का स्थान था।"[१] यद्यपि पद्य में लिखे गये प्राचीनकालीन पत्र इस समय अपने मूल रूप में शायद ही कहीं सुरक्षित हैं, तथापि प्राचीन काव्य में इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों के पत्र-व्यवहार के जो उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं, उन्हे देखकर हम कह सकते हैं कि उस समय पत्र-व्यवहार में भी पद्य का स्थान रहा होगा।

जब इस दृष्टि से हम विचार करते हैं, तो सर्वप्रथम आदिकालीन रासो-ग्रन्थों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। 'मेघदूत' और 'सन्देशरासक' की सन्देश-परम्परा का निर्वाह रासो-ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पत्र-लेखन का स्पष्ट उल्लेख हमें 'पृथ्वीराजरासो' के 'पद्मावती-समय' नामक सर्ग में प्राप्त होता है। पत्र-वाहक के रूप में तोते का निर्देश करते हुए कवि ने कहा है—

"लै पत्री सुक यों चल्यो उड्यो गगन गहि वाव।
जंह दिल्ली प्रथिराय वर अट्ठ जाम में जाव॥"[२]

अर्थात्, वह तोता पत्र लेकर वायु के साथ आकाश में उड़ गया। वह आठ पहर में दिल्ली जा पहुँचा जहाँ पृथ्वीराज रहते थे। इसी प्रकार 'वीसलदेवरासो', 'खुमानरासो' आदि रासो-ग्रन्थो में भी पत्र-लेखन के अनेक उल्लेख मिल जाते हैं।

हिन्दी की विभिन्न बोलियों में प्रकाशित लोक-साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रेमिकाओं तथा प्रेमियों के मध्य हुए पत्राचार के अनेक रोचक उदाहरण उसमें बिखरे पड़े हैं। जैसे, "खतु लै जा गंगाराम हमारे गोने को" आदि। लोक-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपनी पुस्तक 'बाजत आवे ढोल' मे अनेक भाषाओं से जो लोकगीत संकलित किये हैं, उनमें भी पत्र-व्यवहार के संकेत यत्र-तत्र मिल जाते हैं। एक पंजाबी लोकगीत में, प्रिय की ओर से प्राप्त पत्र के सम्बन्ध में, प्रिया चाँद को सम्बोधित करती हुई कहती है—

"खत आयो ढोला दा
इतनी रुन्नीयों, चन्ना
गलवां सिज्ज गया चोले दा ।"[3]

अर्थात्, ढोला का खत आया, मै इतना रोई, ओ चाँद ! मेरे चोले का गरेबान भीग गया ।

भक्तिकाल के कवियों की काव्य-रचनाओं में, प्रसंगतः पत्र-व्यवहार के अनेक उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं । विशेषकर सूर, तुलसी, मीराँ आदि के काव्यों में पत्राचार के रोचक सन्दर्भ दृष्टिगत होते हैं । संत कबीर को कभी पत्र लिखने की आवश्यकता ही महसूस नही हुई; क्योंकि—

"प्रियतम को पतिया लिखूँ जो कहु होय विदेश ।
तन में मन मे नैन में ताको कहाँ सन्देश ।।"[4]

सूर के 'भ्रमरगीत' में श्रीकृष्ण द्वारा ब्रजवासियों तथा गोपियों के पास भेजे गये पत्रों के कई सरस उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा—

(i) "पाती लिखी आप कर मोहन ब्रजवासी सब लोग ।
माता जसोदा पिता नन्दजू बाढ़ो विरह वियोग ।।"

(ii) "निरखत अंक श्यामसुन्दर को बारि-बारि लावत छाती ।
लोचत जल कागद मसि मिलो के ह्वै गई स्याम स्याम की पाती ।।[5]

संत सिरोमणि तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में, राम-विवाह-प्रसंग में, राजा जनक द्वारा महाराज दशरथ को प्रेषित पत्र और उसकी प्रतिक्रिया का बड़ा ही सुन्दर चित्र अंकित किया है । देखिए—

"करि प्रनामु तिन्ह पाती दीन्हीं । मुदित महीम आपु उठि लीन्ही ।।
बारि बिलोचन बाँचत पाती । पुलक गात आई भरि छाती ।।"[6]

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा लिखित 'विनयपत्रिका' एक दृष्टि से सेवक द्वारा स्वामी के पास भेजा गया 'निवेदन-पत्र' ही है । इसमें कवि ने तत्कालीन दरबारी पत्र-पद्धति का अनुसरण किया है । राजा रामचन्द्रजी से निवेदन करते हुए उन्होंने कहा है कि आप अपने शरणागत-वत्सल स्वभाव के अनुसार पहले इस विनय-पत्रिका पर अपने स्वीकृति-सूचक हस्ताक्षर दीजिए और फिर बाद मे यदि चाहें तो पचायत सदस्यों (जानकी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और हनुमान) से पूछ लीजिएगा—

"विनय-पत्रिका दीन की बापु ! आपु ही बांचो ।
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि
बहुरि पूछिये पांचो ।।"[7]

प्राचीन हिन्दी काव्य में उपलब्ध पत्राचार के सन्दर्भ की चर्चा में संत कवि तुलसीदास और भक्त कवयित्री मीराँबाई का तथाकथित पत्र-व्यवहार विशेष महत्त्व रखता है । कहते हैं जब राणा का अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया, तब मीराँबाई ने वेदना-निवेदन तथा आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिए गोस्वामीजी को पत्र लिखा था । मुखपाल नामक विप्र के हाथ भेजे गये इस पत्र की चर्चा अनेक ग्रन्थों में मिलती है । तुलसीदास पर लिखे गये प्राचीन चरित-ग्रन्थ 'मूल गोसाईं-चरित' में इस सम्बन्ध में कहा गया है—

"तब आयो मेवाड़ ते विप्र सुखपाल ।
मीराँबाई की पत्रिका लायो प्रेम प्रवाल ।।

पढ़ि पाती उत्तर लिखि गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजियो भलो कहि दिय विप्र पठाय॥"[8]

मेवाड़ से लिखा गया और सुखपाल द्वारा भेजा गया मीराँबाई का गोस्वामीजी के नाम पत्र इस प्रकार था—

"श्री तुलसी सुख निधान दुखहरन गुसाई।
बारहिं बार प्रनाम करूँ अब हरो सोक समुदाई॥
बालापणे से मीराँ कीन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटै नहि क्योंहू लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात पिता के सम है, हरि भगतन सुखदाई।
हमहू कहा उचित करिबो है, सो लिखियो समुझाई॥"[9]

इसका एक और पाठ भी मिलता है जिसकी प्रथम पंक्ति है—

"स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषण दूषण हरण गोसाईं॥"[10]

विशुद्ध संस्कृत की पत्र-लेखन-शैली में लिखा गया यह पत्र प्राचीन पद्य-पत्र का उत्कृष्ट नमूना है। विद्वानों का मत है कि गोस्वामीजी ने इस पत्र के उत्तर में "जाके प्रिय न राम वैदेही" वाला प्रसिद्ध पद (गीत) और "सो जननी सो पिता सोई भ्रात" वाला सवैया (कवित) लिख भेजा था।[11]

भक्त-शिरोमणि मीराँबाई और संत-शिरोमणि तुलसीदास के बीच हुए इस पत्र-व्यवहार को अनेक विद्वान् संदिग्ध समझते हैं। राजस्थान के सुविख्यात इतिहासकार पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के इस कथन के आधार पर कि—"मीराँबाई की मृत्यु सं० १६०३ तक हो चुकी थी"—डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'मूल गोसाईं चरित' के उक्त मत का खण्डन किया है।[12] 'मूल गोसाईं चरित' मे संकेत किया गया है कि सं० १६१६ में ही तुलसीदास को मीराँबाई द्वारा पत्र प्राप्त हुआ था। इस प्रकार उपर्युक्त पत्राचार की प्रामाणिकता संदिग्ध प्रतीत होती है। जैसा कि उदयपुर से प्रकाशित 'शोधपत्रिका' [13] की सम्पादकीय टिप्पणी में कहा गया है, 'मीरांपीठ के निदेशक डॉ० नेमनारायण जोशी ने मीराँ-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण पत्रों को 'शोधपत्रिका' में प्रकाशित करने की स्वीकृति प्रदान की है।" अतः हम आशा कर सकते हैं कि उस पत्र-सामग्री के प्रकाशन से उपर्युक्त पत्राचार पर भी यथावश्यक प्रकाश पड़ेगा।

मीराँबाई और तुलसीदास के बीच हुए तथाकथित पद्यबद्ध पत्र-व्यवहार के समान ही प्राचीन हिन्दी काव्य में राठौड़ पृथ्वीराज और महाराणा प्रताप का पत्र-व्यवहार भी अपना पृथक् महत्त्व रखता है। इस पत्राचार की चर्चा भी अनेक ग्रन्थों में की गयी है। कर्नल टॉड द्वारा लिखित राजस्थान के इतिहास में भी इस पत्र-व्यवहार का उल्लेख किया गया है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने इस पत्र-व्यवहार के आधार पर पत्र-गीति की रचना भी की है।[14]

पृथ्वीराज राठौड़ एक स्वाभिमानी राजपूत थे। वे एक उच्चकोटि के कवि भी थे। बादशाह अकबर ने जब उनको महाराणा प्रताप का संधि-पत्र दिखलाया, तब उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस पत्र को जाली माना और अकबर का आदेश लेकर दरबार के दूत के साथ महाराणा प्रताप के पास एक पत्र लिख भेजा जिसमें निम्नांकित दो सोरठिया दोहे थे—

"पातल जो पतसाह, बोलै मुख हूंता बयण।
मिहर पछम दिस माह, ऊगे का सप राव बत।

पटकू मूछां पाण कै पटकू निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण इण दो महली बात इक ॥[१५]

इस पत्र के उत्तर में महाराणा प्रताप ने जो पद्यबद्ध पत्र लिख भेजा था, वह भी बहु-चर्चित है।

पं० मार्तण्ड उपाध्याय ने अपने "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्र-साहित्य" शीर्षक लेख[१६] में बिहारी के प्रसिद्ध दोहे—"नहि पराग नहि मधुर मधु"—को भी राजा जयसिंह के नाम प्रेषित बिहारी का एक पद्य-पत्र ही माना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन हिन्दी काव्य में पत्राचार के अनेक मनोरंजक एवं महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। हिन्दी पत्र-साहित्य के उद्भव और विकास को समझने के लिए इन सन्दर्भों का अध्ययन अत्यावश्यक है।

संदर्भ-संकेत

१. हिन्दी गद्य का विकास, पृ० ३२। २. पृथ्वीराज रासो के दो अध्याय, संपा० भारत-भूषण सरोज, पृ० १७८। ३. बाजत आवे ढोल, पृ० ७८। ४ कबीर साखी-समीक्षा, पुष्पपाल सिंह, पृ० ८०। ५. सूर-सारावली, संपा० डॉ० मनमोहन गौतम, पृ० ८५-८६। ६. श्रीराम-चरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० २८४। ७. विनयपत्रिका, संपा० डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, पृ० ५५६। ८. तुलसीदास, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ४८ से उद्धृत। ९. मीराँबाई शब्दावली और जीवन-चरित, बेलवेडियर प्रेस, पृ० ४। १०. मीराँबाई, डॉ० प्रभात, पृ० २१५। ११. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, चतुर्दश भाग, पृ० ५०८। १२. तुलसीदास, पृ० ४८। १३. शोधपत्रिका, जनवरी-मार्च, १९८२, पृ० ४। १४. पत्रावली, पृ० ३-७। १५. हिन्दुस्तानी पत्रिका, जनवरी-दिसम्बर, १९६४, पृ० ३४१ से उद्धृत। १६. स्वतन्त्रता रजत-जयन्ती अभिनंदन-ग्रन्थ, पृ० ६०२।

१-११/२, आर० टी० जाडेजा एस्टेट
गुरुद्वारा के पास
जामनगर (गुजरात)

तुलसीकृत 'विनय-पत्रिका' के मुहावरे और लोकोक्तियाँ

□

डॉ० राज

मुहावरे

लोकचेतना के विविध स्तरों से कवि कितने घनिष्ठ रूप से संपृक्त है, इसका ज्ञान उसके द्वारा प्रयुक्त मुहावरों एवं लोकोक्तियों से हो सकता है। लोकजीवन में निबद्ध अंधविश्वास, संस्कार, उत्सव, पर्व, वेशभूषा तथा लोक-जीवन के विविध उपकरण एवं धरातल मुहावरों और लोकोक्तियों मे जितनी सटीक अभिव्यक्ति पाते हैं, उतनी आभिजात्य संस्कारों से परिनिष्ठित भाषा के संस्कृत रूपों में नहीं। मुहावरे कवि की निरीक्षण-शक्ति, मानव और प्रकृति के विविध रहस्य-सन्दर्भों तथा अन्तःस्पंदनों का स्पर्श करने वाली कवि की कारयित्री प्रतिभा के साक्षी होते हैं। फलतः मात्र मुहावरों के वर्गीकरण, विश्लेषण और अध्ययन के आधार पर उसकी बिम्ब-विधायिनी प्रतिभा के विविध स्रोतों तथा अन्तःसूत्रों का समाकलन किया जा सकता है। लोकजीवन के आदिम व्यापार, जीव एवं जड़ जगत् के विविध उपकरण तथा उनमें घटित होने वाली अन्तःप्रक्रिया में सामाजिक, राज-नैतिक, आर्थिक घटनाएँ, नगर तथा ग्राम्य जीवन की धमनियों में प्रवाहित विविध विश्वास तथा धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक मान्यताएँ एक व्यापक साधारणीकृत जीवंत सत्य का रूप धारण कर सूक्तियों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों में ढल जाती हैं।

यदि मुहावरों की भाषिक संरचना तथा अर्थकेन्द्रित स्वरूप पर विचार करें तो कुछ तथ्य दृष्टिगत होते हैं —

—मुहावरे फलतः लाक्षणिक प्रयोगों के रूढ़िबद्ध उदाहरण हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो 'मुहावरा' शब्दों का एक समूह होता है जिसका मुख्य अर्थ प्रस्तुत प्रसंग में बाधित रहता है, किन्तु उस मुख्य अर्थ से सम्बद्ध एक प्रसंगोपात्त अर्थ सहज ही जगमगाने लगता है जो प्रस्तुत अर्थ को अधिक सप्रेष्य, संवेद्य एवं सप्राण बना देता है। किसी विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति के लिए तात्कालिक सन्दर्भ में अर्थ को नियमित कर मुहावरों का निर्माण प्रायः नहीं किया जाता। ऐसे सन्दर्भ शुद्ध लक्षणा के उदाहरण माने जाते हैं। मुहावरे तो परम्पराप्राप्त रूढ़िबद्ध प्रयोग होते हैं जिनको परि-वर्तित करना प्रायः सम्भव नही होता। हाँ, कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न कवि उनका रूपांतरण करते रहे हैं, किन्तु मौलिक अर्थ-बिम्ब को क्षति पहुँचाने का प्रयास उन्होंने भी नहीं किया है।

मुहावरों के सन्दर्भ में यह तथ्य विशेष महत्वपूर्ण है कि वे अपनी अर्थवत्ता वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही प्राप्त करते हैं।

मुहावरों को भाषा का शृङ्गार कहा जाता है उनकी सृष्टि भाववृद्धि की सुविधा के लिए हुई है मुहावरों के प्रयोग से भाषा चमत्कृत हो उठती है। भाषा की यह चमत्कृति पाठक का

श्रोता के हृदय पर सीधी चोट करती है। मुहावरों के इस महत्त्व के कारण ही उन्हें भाषा का जीवन तथा आत्मा तक कहा गया है।[१] विनयपत्रिका की भाषा में मुहावरों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण देखिए —

'तौ क्यों कटत सुकृत-नख ते मोपै, विपुल बुन्द अघ बनके [२]

यहाँ 'नाखून से जंगल काटना' नामक मुहावरे को 'सादृश्यमूलक' अलंकार के रूप में प्रयोग किया गया है। 'सुकृत' रूपी 'नरक' से 'पाप' रूपी 'जंगल' का काटा जाना असम्भव सिद्ध किया गया है। यहाँ मुहावरे के प्रयोग से भाषिक सौन्दर्य द्विगुणित हो उठा है। एक उदाहरण और देखिए—

'अपनेहि धाम-नाम-सुरतरु तजि विषय-बबूर-बाग मन लायो।'[३]

यहाँ 'राम नाम' रूपी 'कल्पवृक्ष' के त्याग तथा 'वासनाओं' रूपी 'बबूल के वृक्ष' के रोपण में 'बबूल को आग लगाना' नामक मुहावरे द्वारा सुन्दर रूपक बाँधा गया है। विनयपत्रिका मे मुहावरों के प्रयोग से अन्य अप्रस्तुत-विधान के उदाहरण अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत लेख में इन पर समग्र रूप से विचार करना सम्भव नहीं है। विनय-पत्रिका में प्रयुक्त प्रमुख मुहावरो को यहाँ दिया जा रहा है —

१. नाक में दम आना — तिन रंकन को नाक संवारत, हौं आयो नकबानी।[४]
२. अपनी ओर देखना —कहि आये, कीजी छमा, निज ओर निहारी।[५]
३. नेह निभाना —कबहुँ न कोउ रघुबीर-सो नेह-निबाहन हार।[६]
४. नाम की ओट लेना —सकल अंग पद-विमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है।[७]
५. गधा होना — मेरे जान, जानिबो सोई नर खरा है।[८]
६. भला लगना — गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज-डगरो सो।[९]
७. नाच नचाना —साँच कहौ, नाच कौन-सो जो न मोहिं लोभ, लघु हौं निरलज्ज नचायो।[१०]
८. नाच नाचना —जेइ जाच्यो सोइ जाचकताबस, फिरि बहु नाच न नाच्यो।[११]
९. छाँह छूना —कोह को रोष, दोष काहि धौं मेरे ही, अभाग मो सौं सकुचत छुइ सब छाहूँ।[१२]
१०. नाम की ओट लेना —नाम-ओट तें राम दुरनि को, दूरि करी सुख सूल।[१३]
११. औगुन मूल होना — व्याध निषाद, गीध, गनिकादिक, अगनित औगुन-मूल।[१४]
१२. सीस नवाना —कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो?[१५]
१३. सब को निभना —छोटे-बड़े, खोटे-खरे, मोटेऊ-दूबरे, राम! रावरे निबाहे सबही की निबहति।[१६]

यहाँ छोटे-बडे, खरे-खोटे, मोटे-दुबले तीन मुहावरों का साथ-साथ प्रयोग हुआ है।

१४. पत्तल चाटना —चाटत रह्यों स्वानि पातर ज्यों कबहुँ न पेट भरो।[१७]
१५. बलि जाना —जानकी-जीवन की बलि जैहौं।[१८]
१६. बाँह-बोल देना —बाँह-बोल दै बिरुदावली बुलायो।[१९]

---

१. ९५।१ २. ९६।१ ३. २४४।१ ४. ५।३ ५. ३४।३ ६. १९०।४
७. [illegible] ८. २४५।३ ९. १७३।६ १०. २७६।४ ११ १६८।१ १२ २१५।२
[illegible] [illegible] १५ २७६।१ १६, १७ १९६।३ १८, १०४।१ १९. २०[illegible]

यहाँ एक में ही दो मुहावरे समाहित हैं। 'बाँह देना' सहारा देने के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा 'बोल देना' वायदा करने के अर्थ का द्योतन करता है।

१७. बाँह गहना	—कृपा गरीब निवाज की, देखत गरीब को साहब बांह गही है।[१]
१८. बिना नाव तथा बेड़े के पार उतरना	—बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरे।[२]
१९. बिना आग जलना	—अगमित गिरि कानन फिर्‌यो, बिनु आगि जर्‌यो हों।[३]
२०. बात बिगड़ना	—दिन-दिनहुँ देव। बिगरिहै, बलि जाउ, बिलंब किये अपनाइये सबेरो।[४]
२१. बाघिन के घी का अंजन लगाना	—जानि अंध अंजन कहे बन-बाघिन-घी को।[५]
२२. पाव पल में बन जाना	—राम ! रावरे बनाये बनै पल पाउ में।[६]
२३. बजाये जाना	—मेरी कहा चली ? हौं बजाय जाय रह्यो हौं।[७]
२४. सीस होना	—साहिब उदास भये दास दास सीस होत।[८]
२५. आदि, मध्य और अंत में भला होना	—आदि अंत बीच भलो, भलो करे सबही को।[९]
२६. यश बगरना	—बाको जस लोक-बेद रह्यो है बगरि-सो।[१०]
२७. बारि बिलोना	—बहु भांतिन श्रम करत मोहबस वृथहि मंदमति बारि बिलोयो।[११]
२८. बानि बिसारना	—कहि आवत, बलि जाऊं, मनहुँ मेरी बार बिसारे बानिहौं।[१२]
२९. विपत्तियों का जाल छाना	—अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों, देखत बिपति-जाल जग छायो।[१३]
३०. बिगड़ी सुधरना	—बिगरी जनम अनेक की, सुधरत पल लगै न आधु।[१४]
३१. उदर भरना	—उदर भरौ किंकर कहाइ बेच्यो विषयनि हाथ हियो है।[१५]
३२. हृदय बेचना	—बेच्यो विषयनि हाथ हियो है।[१६]
३३. बिना डेरे होना	- दीन बितहीन हौं, बिकल बिनु डेरे।[१७]
३४. बखान बखान कर खाना	—खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि।[१८]
३५. बदन फेरना	—करत नहिं कान बिनती बदन फेरे।[१९]
३६. काम करना	—करत नहिं काम बिनती बदन फेरे।[२०]
३७. बाँह बसना	— चाहत अनाथ-नाथ ! तेरी बांह वस्यो हौं।[२१]
३८. बेगार में पड़ना	—नाहिं तो भव-बेगारि में परिहौ, छूटत अति कठिनाई रे।[२२]

१. २७८।२ २. २७३।२ ३. २६६।३ ४. २७२।५ ५ २६५।३ ६. २६१।१ ७. २६०।१
८. २६०।१ ९. २६४।४ १०. २६४।४ ११. २४५।२ १२. २२३।३ १३. २४३।४ १४. १८३।३
१५. १७१।४ १६. १७१।३ १७ २१०।४ १८. २१५।३ १९. २१०।२ २०, २१०।२
२१ १८१ ३ २२ १८८ १

३९. बीच मे बिगोना —स्वारथ-परमारथ कहा, कलि कुटिल बिगायो बीच ।[1]

४०. बात पूछना —जो पै कहुं कोउ पूछत बातो ।[2]

४१. बिना मोल बिकना —तो तुलसी बिनु मोल बिकातो ।[3]

४२ बिना बोये जोते लेना —तेरे राज राय दसरथ के, लयो बयो बिनु जोतो ।[4]

४३. बानक बनना —मैं पतित तुम पतित-पावन, दोउ बानक बने ।[5]

४४. विधाता बाम होना —तुलसी ऐसे प्रभुहिं भजै जो न, ताहि विधाता बाम सो ।[6]

४५. बाँह देना
४६. खेरा बसना —दीजे भक्ति बांह बारक ज्यों सुबस बसै अब खेरो ।[7]

४७. करोड़ों बात कहना —सपनेहुँ नहीं दुःख द्वैत-दरसन, बात कोटिक को कहै ।[8]

४८. बिगड़ी बन जाना —सुमत राम कृपालु के मेरी बिगरियौ बनि जाइ ।[9]

४९. बनी होना —परम पुनीत संत कोमल-चित तिनहिं तुमहिं बनिआई ।[10]

५०. बंधन ढीले पड़ना —हांक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले ।[11]

५१. बदन दिखाना —तो क्यों बदन देखावतो कहि बचन इयारे ।[12]

५२. गाली सहना —सहि न सके दारुन दुख जनके हत्यो गालि, सहिगारी ।[13]

५३. सनेह सगाई होना —एतेहुँ पर तुमसों तुलसी की प्रभु, सकल सनेह सगाई ।[14]

५४. मन में गडना —बचन करम तेरे मेरे मन गड़े हैं ।[15]

५५. सतरंज का सा राज होना —सतरंज को सो राज काठ को सबै समाज ।[16]

५६. ऊसर सुखेत होना —तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो ।[17]

५७. सब भांति खरा होना —करम, उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो ।[18]

५८. सुध लेना —बिहँसि राम कह्यो, सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है ।[19]

५९. स्वप्न में भी सुख न मिलना —राम विमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ,
निसि-बासर तयो तिहूँ ताप ।[20]

६०. सिर धुनना —काल-सुभाव-करम विचित्र फलदायक सुनि-सिर धुनि रह्यौं ।[21]

६१. स्वप्न में भी डर न होना —तुलसिदास सिव-मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिं न डरे ।[22]

६२. हृदय में घृणा होना —हौं तिहारों जैसो-तैसो काल-चाल हेरि होति हिये घनी घिन ।[23]

६३. हृदय दहना —हेरि हारि के हहरि हृदय दहत ।[24]

६४. हाथ में होना —नाथ ही के हाथ सब चोरऊ पहरा ।[25]

---

१. १८२।१ २. १७७।५ ३. १७७।५ ४. १६१।४ ५. १६०।१ ६. १५७।५
७. १४५।७ ८. ११६।१२ ९. ४१।१ १०. ११२।२ ११. ३२।३ १२. ३३।५
१३. १६६।७ १४. १८५।४ १५ १८०।३ १६. २४६।४ १७. १८०।२ १८. २२६।२
१९. २७८।३ २०. ८३।३ २१. २२२।३ २२. २०५।४ २३. २५३।२ २४. १५६।२
२५. २५०।३

५

६५. स्वप्न में भी न रोकना	—करत राम-विरोध सो सपनेहुँ न हटक्यो ईस ।[१]
६६. हृदय की आँखों से देखना	—तुलसी प्रभु सांचो हितू, तू हिय की आंखिन हेरि । ।[२]
६७. हृदय में धरना	—अधम आचरन कछु हृदय नहिं धरहुमें । ।[३]
६८. बाल-बांका होना	—होइ न बांको बार भगत को, जो कोउ कोटि उपाय करे ।[४]
६९. हृदय में बिराजना	—हृदय विराजन अवध-बिहारी ।[५]
७०. हाथी स्वान का लेन-देन होना	—स्वारथ के साथी मेरे, हाथी स्वान लेवा देई, काहू तो पीर रघुवीर दीन जन की ।[६]
७१. हाथ लगना	—नाथ ! हाथ कछु नाहिं लग्यो लालच ललचायो ।[७]
७२. हाथ जोड़कर मस्तक नवाना	—नाथ-गुनगाथ गाये, हाथ जोरि माथ नाये, नीचऊ निवाजे प्रीति-रीति की प्रवीनता ।[८]
७३. पेट खलाए फिरना	—तौतक द्वार-द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाइ ।[९]
७४. पदत्रान बजना	—लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यों जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै ।[१०]
७५. पेरि डालना	—पेरि डारे सुभट घालि घाली ।[११]
७६. पच भरना	—करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया ।[१२]
७७. पार न पाना	—जाकी माया बस बिरंचि सिव, नाचत पार न पायो ।[१३]
७८. पान पाना	—सांचे परौं पाऊँ पान, पंचन में पन प्रमान ।[१४]
७९. प्रेम कनौड़ा होना	—प्रेम कनौड़ो राम-सो नहिं दूसरो दयालु ।[१५]
८०. प्रेम पहचानना	—लियौ सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि ।[१६]
८१. पेट भरकर जिवाना	—पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति-सुधा-सुनाजु ।[१७]
८२. पैर पड़ना	—जाने बिनु भगति न, जानिबो तिहारे हाथ, समुझि सयाने नाथ ! पगनि परत ।[१८]
८३. पाँव पिराना	—सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पांय पिराने ।[१९]
८४. पेट में समाना	—विप्र, बधिक, गज, गीध, कोटि खल कौन के पेट समाने ।[२०]
८५. पासंग भी न होना	—मेरे पासंगहु न पूजि हैं, ह्वै गये हैं, होने रस जेते ।[२१]
८६. पंचों को पूछना	—सही करि बहुरि पूंछिए पांचो ।[२२]
८७. पुतला बाँधना	—अब तुलसी पूतरो बांधिहै, सहि न जात मो पे परिहास एते ।[२३]
८८. संग पड़ना	—कुकृत सुकृत बस सबही सों संग पर्‌यो ।[२४]
८९. जल मरना	—हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरि है ।[२५]

---

१. २१६।२ २. १८०।७ ३. २११।२ ४. १३७।१ ५. ३६।२ ६. २७६।३ ७. ८. २६२।२ ९. १६८।२ १०. ८८।२ ११. २५।७ १२. ११६।१ १३. ९८।३ १४. ७५। १५. १८१।१ १६. २१५।२ १७. २१८।५ १८. २५१।३ १९. २३५।३ २०. २३६। २१ २४१।४ २२ २७७ ३ २३ २४१ ५ २४ २६३ २ २५ २६८ ३

९०. जग हँसना	—जग हँसिहै मेरे संगहै, कत इहि डर डरिये ।[१]
९१. जल चाहने पर आग मिलना ९२. अमृत का विष बनना	जल चाहत पावक लहौं, —विष होत अमी को ।[२]
९३. आग के सामने से जूड़ी भागना	—राम-नाम को प्रभाव जानि जूड़ी आगि है । सहित सहाइ कलिकाल भीरु भागि है ।[३]
९४. जल में चिकनाई होना	—तुलसी सहज सनेह राम बस, और सबै जल की चिकनाई ।[४]
९५. खड़े होकर पंथ जोहना	—तुलसिदास रघुनाथ-कृपा को जोवत पंथ सर्‌यो ।[५]
९६. जीभ जलना	—संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो ।[६]
९७. जेवरी का साँप होना	—बूड़्यो मृग-बारि, खायो जेवरी को सांप रे ।[७]
९८. जी की जानना	—नाथ ! नीके के जानिबो ठीक जन-जीय की ।[८]
९९. मारग लगना	—जो जिय चहसि परम सुख तो यहि मारग लागु ।[९]
१००. निसि बासर करना	—जेहि उपाय सपनेहुँ दुरलभगति, सोइ निसि बासर कीजै ।[१०]
१०१. सिर धुन-धुन कर पछताना	—सिर धुनि-धुनि पछितात मींजि कर, कोउ न मीत हित दुसह दाय ।[११]
१०२. हाथ मलना	
१०३. हाथ मलकर पछिताना	—तो तू पछितैहै मन, मींजि हाथ ।[१२]
१०४. मूड़ मारना १०५. हृदय हारना	—मूड़ मारि, हिय हारिके, हित हेरि, हहरि अब चरन-सरन ताकि आयो ।[१३]
१०६. माथा नवाना	—मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की ।[१४]
१०७. घी की मक्खी होना	—राखि कहो हौं जो पै, ह्वै हौं माखी घीय की ।[१५]
१०८. मोटा होना १०९. दुबला होना	—मोटो दस कंध-सो न, दूबरो बिभीषन-सो ।[१६]
११०. मुँह फेरना १११. पीर गहना	—तेरे मुँह फेरे मोसे कायर कपूत क्रूर लटे लटपटेनि को कौन पीर गहैगो ।[१७]
११२. मूड़ चढ़ना	—दानव-दनुज बड़े महामूढ़ मूड़-चढ़े जीते लोकनाथ नाथ बलनि भरम ।[१८]
११३. फीका पड़ना	—प्रभु कों कहत सकुचत हौं, परौं जनि फिरि फीको ।[१९]
११४. तरनि तमीको-फहम न होना	—कलि-कुवास संतनि कही सोइ सही, मोहि कछु फहम न तरनि तमी को ।[२०]
११५. फागु खेलना	—त्रिविध सूल तोलिय जरै, खेलिय अब फागु ।[२१]

---

१. २७१।३ २. २६५।३ ३. ७०।२ ४. २४०।४ ५. २३८।७ ६. २२६।६ ७. ७३।२ ८. २६३।१ ९. २०३।१७ १०. ११७।१ ११. ८३।५ १२. ८४।१ १३. २७६।५ १४. २७८।३ १५. २६३।३ १६. २६२।३ १७. २५८।३ १८. २४८।२ १९. २६५।४ २०. २६५।२ २१. २०३।१७

११६. फूले फिरना —जे-जे तें निहाल किये फूले फिरत पाये ।[1]

११७. जग जीतना
११८. अपनी बाँह बसाना
११९. कलेवा करना
१२०. गिनती में आना
—जिन्ह भूपनि जग-जीति बाँधि जम, अपनी बाँह बसायो ।
तेऊ काल कलेऊ कीन्हें, तू गिनती कब आयो ।[2]

१२१. सलोना साग होना —तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने ।[3]

१२२. बांह देना —तुलसी प्रभु आरत-आरतिहर, अभयबाह केहि-केहि न दई है ।[4]

१२३. अहि-खेल खेलना —देखु खल अहि-खेल परिहरि, सो प्रभु हिवहि चानई ।[5]

१२४. अंधियारा होना —अंधियारो मेरी बार क्यों त्रिभुवन-उजियारे ।[6]

१२५. आउ-बाउ बकना —जीह हू न जप्यो नाम, बघन्यो आउ-बाउ में ।[7]

१२६. गूलर गपकना —हारहि जनि जनम जाय गालगूल गपत ।[8]

१२७. भुजा उठाकर कहना —स्वारथ-परमारथ-साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे ।[9]

१२८. भला मानना —भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाउहै ।[10]

१२९. अंक भरकर भेंटना —भरि अंक भेंट्यो सजल नैन सनेह, सिथिल सुरीर सो ।[11]

१३०. भीख भली जानना —यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी ।[12]

१३१. भरि पेट बिगाड़ना —पाइ सुसाहिब राम सो, भरि पेट बिगारी ।[13]

१३२. लाज घोलकर पीना —एतेहुँ पर तुम्हारो कहावत, लाज अंचई घोरि ।[14]

१३३. स्वप्न में भी सुख न होना —सुख सपनेहुँ न जोग-सिधि-साधन, रोग वियोग धरोसो ।[15]

१३४. कल्पवृक्ष होना
१३५. सिर नवाना
—कोसलपालु कृपालु कलपतरु द्रवत सकृत सिर नाये ।[16]

१३६. स्वप्न में भी न अघाना — यह जानत हौं हृदय आपने सपने न अघाइ उबीहे ।[17]

१३७. सिर पड़ना —करहिं सबै सिर मेरे ही फिरि परै अनैसी ।[18]

१३८. सकुचकर गड़ जाना — तापर तिन्ह की सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े ।[19]

१३९. मन मैला करना
१४०. लोचन फेरना
—तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरौ ।[20]

१४१. लील लेना —तिनकी मति रिस-राग-मोह-मद लोभ लालची लीलि लई है ।[21]

१४२. स्वांग करना — चर अरु अचर गगन जल थल में कौन न स्वांग कर्‌यो ।[22]

१४३. स्वप्न में भी भक्ति न होना — बिनु तव कृपा राम-पद-पंकज, सपनेहुँ भगति न होई ।[23]

१४४. मेढक द्वारा शिशु का निगलना —तेरे देखत सिंह के सिसु मेंढक लीले ।[24]

---

१. ८०।४ २. २००।३ ३. १७५।४ ४. १३८।१२ ५. १३५।२ ६. ३३।२
७. २६१।२ ८. १३०।२ ९. २२७।१ १०. १३५।५ ११. १३५।४ १२. ५।४
१३ १४८।४ १४. १५८।६ १५. १७३।३ १६. १६३।२ १७. १६८।२ १८. १४७।४
१९ १३५ ४ २० २७२ १ २१ १३९ २ २२ ८१ २ २३ ८ २ २४ ९२।२

१४५. मणि से बेर बदलना —लिये बेर बदलि अमोल मनि आउ मैं ।[१]

१४६. बोया हुआ काटना —ताहिते त्रिताप-तयो, लुनियत बई ।[२]

१४७. सुवर्ण से कुवर्ण करना
१४८. नृप से भिखारी करना } —हौ सुबरन कुबरन कियो, नृप तें भिखारि करि, सुमति ते कुमति कर्यों हौं ।[३]

१४९. राम-रंगीला होना —तिहुँ काल तिनको भलो जे राम-रंगीले ।[४]

१५०. रोकर दुख सुनाना —तौ हौ बरहि वार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ ।[५]

१५१. रस्सी को साँप समझना —सो परिडरै मरे रजु-अहि ते बूझै नहि व्यवहार ।[६]

१५२. कायर का वीर बनना —राढ़उ राउत होत फिरिकै जूझै ।[७]

१५३. द्वार-द्वार जाना
१५४. दाँत निकालना
१५५. पैर पड़ना } —द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूँ ।[८]

१५६. फीकी लगना
१५७. रंग में रंगना } —परलोक फीकी मति लोक-रंग-रई ।[९]

१५८. रेखा खींचना
१५९. ढील करना
१६०. नाव डुबोना } —तुलसी कही है सांची रेख बार-बार खांची, ढील किये नाम-महिमा की नाव बोरिहौं ।[१०]

१६१. रिरि आना —रटत रिरिहा आरि और न, कौन ही तें काजु ।[११]

१६२. राँड़ रौर करना —आपनी न बूझ, न कहै को राँड़ रोर रे ।[१२]

१६३. रंकों को राजा बनाना —महाराज दसरथ के रंक राम कीन्हें ।[१३]

१६४. दूसरी रेखा खीचना —स्वामी सहित सब सौं कहौं सुनि-गुनि, बिसेषि कोउ रेख दूसरी खांचो ।[१४]

१६५. मेरु से दोष दूर करना —मेरु से दोष दूरि करि जन के, रेनु से गुन उर आने ।[१५]

१६६. उर में प्रतीति उपजना —उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद-बिमुख न पैहौं ।[१६]

१६७. ऊसर में बरसना
१६८. राख में हवन करना } करम धरम सुम फल रघुबर बिनु, राख को सो होय है, ऊसर कैसो बरिसो ।[१७]

१६९. ऊँची नीची कहना —सील सिंधु ! तो सौं ऊँची-नीचियौ कहत तोमार

१७०. उदर भरना —सिव-सरबस, सुखधाम नाम तब, बेंचि नरक प्रद उदर भरौं ।

१७१. ऊसर का सुभूमि बनना —सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी-सो ऊसरौ ।[२०]

१७२. ओट लेकर पेट भरना —नाम की ओट लै पेट भरत हौं पै कहावत चेरो ।

१७३. ओटकर मरना —जो आचरन बिचारहु मेरो, कलप कोटि लगि ओटि

---

१. २६१।१ २. २५२।३ ३. २६६।२ ४. ३२।५ ५. २१७।१
७. १७६।६ ८. २७५।१ ९. २३२।४ १०. २५८।४ ११. २१९।१ १
१३. ७८।५ १४. २७७।१ १५. २३६।४ १६. १०४।२ १७. २६४।३ १
१९. १४१।३ २०. ६८।५ २१. २७२।३ २२. १४१।१

१७४. अंग थकना —कै मुनि स्वामि-सुभाउ न रह्यो चित्त,
जो हित सब अंग थाके।[१]

१७५. कल पड़ना —कैसे कल परै सठ ! बैठो सो बिसरि-सो।[२]

१७६. काँच से सोना बनना —पाहन, पसु, पतंग, कोल, भील, निसिचर,
काँच ते कृपानिधान किये सुबरन।[३]

१७७. काज सरना —प्रीति-प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो।[४]

१७८. टुकड़ों पर जीना —जानकी-जीवन ! जनम जनम जग ज्यायो
तिहारेहि कौर कौ हौ।[५]

१७९. कोटर गहना — तहँ-तहँ तरनि तकत उलूक ज्यों भटकि कुतरु-
कोटर गहौं।[६]

१८०. कोढ़ में खाज होना —नीच जन, मन, ऊँच, जैसी
कोढ़ में की खाजु।[७]

१८१. काल के घर जाना — सुतहि दुखवत विधि न बरज्यो, काल के घर जात।[८]

१८२. आधी कौड़ी का होना —मोसे क्रूर कायर कुपूत कौड़ी आध के।
किये बहुमोल तैं करैया गीध-साध के॥[९]

१८३. कुचाल चलना — ऐसे मुसाहब सो तू कुचाल क्यों चलो।[१०]

१८४. कूकर सूकर के समान जीना —तो नर खर कूकर सूकर सम वृथा जियत जग माहीं।[११]

१८५. आक का कल्पवृक्ष बनना —राम नाम महिमा करै काम-भुरुह आकौ।[१२]

१८६. दाँत पीसकर हाथ मलना —तापर दाँत पीसि कर मींजत,
को जानै चित कहा ठई है।[१३]

१८७. हाथ से डाल देना —केहि अघ औगुन आपने कर डारि दिया रे।[१४]

१८८. कछुआ के अंडों की तरह रखना —तहँ-तहँ जनि छिन छोह छांडिये,
कमठ-अंड की नाईं।[१५]

१८९. खोलकर पेट दिखाना —महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि,
आगे खिनु-खिनु पेट खलायो।[१६]

१९०. खेह खाना —बाजीगर के सून ज्यों खल खेह न खातो।[१७]

१९१. खरा होना
१९२. खोटा होना —खोटो खरो रावरो हौ,
रावरे सों झूठ क्यों कहौंगो।[१८]

१९३. गाली देना — रीझि निवाज्यो कबहि तू, कब खीझि दई तोहि गारि।[१९]

१९४. ग्लानि से गलना —कह्यो राज, बन दियो नारि बस,
गरि लगानि गयो राउ।[२०]

---

१. २२५।२ २. २६४।४ ३. २५७।२ ४. २२६।५ ५. २२८।१ ६. २२२।२
७. २१८।२ ८. २१६।२ ९. १७८।४ १०. १७६।५ ११. १७५।१ १२. १५२।१३
१३ १३८।७ १४ ३३।३ १५ १०३।३ १६ २७६।३ १७ १५१ २ १८ ७५।१
१९ १८१ २ २० १००।६

१९५. सन की गाँठ पर पानी पड़ना —ऐसी हूठ जैसी गाँठि पानी परे सन की ।[१]

१९६. हाथी का दाँत होना —ज्यों गज-दसन तथा मम करनी,
सब प्रकार तुम जानहु ।[२]

१९७ ओले की तरह गलना —कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेग तिया को ।[३]

१९८. गाड़ी का स्वान होना —गाड़ी के स्वान की नाईं, माया मोह की बड़ाई ।[४]

१९९. गिन-गिनकर गाली देना —नेमते सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।[५]

२००. गगन सीना —कत विमोह लट्यो, फट्यो, गगन मगन सियत ।[६]

२०१. गरीबी गहना —नाथ गरीबनिवाज हैं, मैं गही न गरीबी ।[७]

२०२. घर घालना — रीझि-रीझि दिये बर खीझि-खीझि घाले घर ।[८]

२०३. पानी मथकर घी निकालना —सुख-साधन हरि-बिमुख बृथा,
जैसे स्रम-फल घृतहित मथे पाथ ।

२०४. मरे हुए को घायल करना —कोप तेहि कलिकाल कायर मुएहि घालत घाय ।

२०५. पीठ ठोंकना }
२०६. बाँह गहना } —मींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि ।[११]

२०७. चाम का सिक्का चलाना —नाम-नरेस-प्रताप प्रबल जग, जुग-जुग चालत चाम

२०८. चिंचिनी चिया चलना —तेरी महिमा ते चलैं चिंचिनी चिया र ।[१३]

२०९. घोर घाम में छाँह करना —राम-नाम-जप-निरत सुजन पर करत छाँह घोर घ

२१०. क्षार होना —हौं समुझत साईं-द्रोह की गति छार छिया रे ।[१४]

२११. क्षार पड़ना }
२१२. हाहा करना } — हाहा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार,
परी न छार मुँह बायो ।[१६]

२१३. रटते-रटते दुबला होना }
२१४ जूठन का लालची होना }
२१५. दूध से नहाना } रटत-रटत लट्यो जाति-पाँति-भाँति-घट्यो
जूठनि को लालची चहौं न दूध-नह्यो हौं ।[१७]

२१६. ठिकाने ठौर का होना —तुलसिदास सीतल मित महि बल
बड़े ठिकाने ठौर को हौं ।[१८]

२१७. ठौर-ठौर पर उलझन होना —काँट कुराख लपेटन लोटन ठाँवहि ठाइं बझाऊ रे ।[१]

२१८. ठौर न होना —मोको और ठौर न, सुटेक एक तेरिए ।[२०]

२१९ ढरनि ढरना —कृपासिंधु कोसल धनी ! सरनागत-पालक
ढरनि आपनी ढरिये ।[१]

२२०. ढील होना — ढील सिंघ ! ढील तुलसी की बेर भई है ।[२२]

---

१. ७५।१　२. ११८।१　३. १५२।३　४. २५८।२　५. २१४।४　१
७.　८. २४८।२　९. ८४।२　१०. २२०।३　११. ७६।३　१
१३. ३३।२.　१४. २२८।२　१५. ३३।६　१६. २७६।२　१७. २६०।३　१८
१९ १८४।४　२०. १८१।१　२१ २७१ १　२२ १८०।८

२२१. तोड़ बैठना —तासों क्योंहु जुरी, सो अभागो बैठो तोरि हौं।[१]

२२२. तकिया होना —तहँ तुलसी के कौन को काको तकिया रे।[२]

२२३. पाप की खान होना —पाप खानि जिय जानि अजामिल,
जमगन तमकि तये ताको मेते।[३]

२२४. तिजारी के टोटक की तरह तजना —स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजराको-सो टोटक, औचट उलटि न हेरी।[४]

२२५. दसों दिशाओं में दुख पाना —जग दुख दसहूँ दिसि पायो।[५]

२२६. द्वार से दूर करना —दूरि कीजै द्वारतें लबार लालची प्रपंची।[६]

२२७. द्वार पड़ना
२२८. गुण गाना —सो कीजै, जेहि भाँति छाँड़ि छल
द्वार परो गुन गावौं।[७]

२२९. दाहिने होना —तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस, कारुनीक जो अनाथहि दाहिन।[८]

२३०. दाद देना —दई दीनहि दादि सो सुनि सुजन-सदन बधाय।[९]

२३१. दर्पण में मुँह देखना
२३२. हृदय में हार मानना —दरपन बदन निहारिकै,
सुविचारि मान हिय हारि।[१०]

२३३. दिन-रात नाम जपना —तुलसी तू मेरे कहे, जपु राम-नाम दिन-रीति।[११]

२३४. दाम कुदाम बिकना —तो तू दाम कुदाम ज्यों कर-कर न बिकातो।[१२]

२३५. देखते ही आ जाना —देखत हो आई बिरुधाई।[१३]

२३६. स्वप्न में भी बुलाना —जो तैं सपनेहुँ नाहिं बुलाई।[१४]

२३७. दाँत तोड़ना —तौ तुलसिहि तारिहौ विप्र ज्यों, दसन तोरि जमगन के।[१५]

२३८. दुख दरिद्र दलना —अमितदातार कौन, दुख-दरिद्र दारे।[१६]

२३९. परसी हुई पत्तल फाड़कर फेंकना —अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो फारो।[१७]

२४०. परसा हुआ त्यागना —तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे।[१८]

२४१. छाती पर पत्थर रखना —मैं तो दियो छाती पबि, लयो कलिकाल छबि।[१९]

२४२. बबूल और बहेड़े के वृक्ष से आम पाना —नाम-प्रसाद लहत रसाल-फल अब हौं बबुर बहेरे।[२०]

२४३. आकाश निचोड़ना —तृषावंत सुरसरि विलय उठ फिरि-फिर बिकल अकास निचोयो।[२१]

---

१. २५८।१ २. ३३।७ ३. १४१।२ ४. २७२।२ ५. २७६।१ ६. २५८।३
७. २३२।४ ८. २०७।३ ९. २२०।१० १० १९३।२ ११. १९९।४ १२. १५१।१
१३. १३६।८ १४. १३६।८ १५. ९६।३ १६. ८०।१ १७. ९४।३ १८. ६९।५
१९. २५९।२ २०, २२७।३ २१. २४५।३

५.२. सूक्तियाँ

विनय-पत्रिका में सूक्तियों का प्रयोग भी हुआ है। जीवन के सारपूर्ण तथ्य कवि द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं कि उन्हें पढ़कर पाठक मन्त्र मुग्ध हो जाता है। ये सूक्तियाँ कवि के अनुभव-जन्य ज्ञान की परिचायक तो हैं ही, साथ ही भावों की सफल अभिव्यंजना में भाषा को विशेष सामर्थ्य प्रदान करके आकर्षक बनाने का कार्य करती हैं। विनय-पत्रिका में प्रयुक्त कुछ सूक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१. सपनेहुँ सुख न संत द्रोही कहँ, सुरतरु सोउ विष-फरनि फरै।[1]
२. जागे बिनु पीर न जाई।[2]
३. आरत स्वारथी सब कहैं बात बावरी।[3]
४. मन पछितैहैं अवसर बीते।[4]
५. तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु, जिय सुख कबहुँ न पावै।[5]
६. बड़ी ओट राम नाम की जेहि लई सो बाँचो।[6]
७. तुलसिदास कब तृषा जाय सर सनतहिं जनम सिरान्यौ।[7]
८. तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु जोइ बांध्यो सोइ छोरै।[8]

५.३. लोकोक्तियाँ

लोकोक्ति = लोक + उक्ति, अर्थात् लोक में प्रचलित कथन लोकोक्ति कहलाता है। प्रामाणिक हिंदी शब्दकोश में लोकोक्ति को 'लोक में प्रचलित ऐसा बँधा हुआ चमत्कारपूर्ण वाक्य जिसमें कोई अनुभव या तथ्य की बात संक्षेप में कही गई हो'[9] परिभाषित किया गया है। मानक हिंदी कोश मे लोकोक्ति का अर्थ इन शब्दों में स्पष्ट किया है—'लोक में समान रूप से प्रचलित बात'[10]। डॉ० कन्हैयालाल के शब्दों में—'जिस सारगर्भित लोकप्रचलित संक्षिप्त उक्ति का लोग प्रयोग करते हैं, उसे सामान्यतः कहावत का नाम दिया जा सकता है।'[11] जयनारायण वर्मा के अनुसार 'लोकोक्ति वह रूढ़ वाक्य है जो संक्षिप्त, सारगर्भित, वक्र तथा तुकसाम्ययुक्त अनुभव की अभिव्यक्ति हो।'[12]

उपर्युक्त परिभाषाएँ लोकोक्ति की प्रकृति के अनुरूप हैं, लोकोक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—

'विशाल भाव-राशि तथा अनुभव को अभिव्यक्त करने वाले संक्षिप्त रूढ़ वाक्य लोकोक्ति कहे जा सकते हैं।' अतः लोकोक्तियों की सबसे बड़ी भावात्मक विशेषता समास या सूत्र पद्धति होती है। विनय-पत्रिका की भाषा में अनेक स्थलों पर लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियों का प्रयोग, भाषा-प्रवाह में कोई व्यवधान उपस्थित न कर, उक्तियों में तीव्रता, स्वाभाविकता तथा लालित्य का समावेश करने के लिए हुआ है। विनय-पत्रिका में प्रयुक्त कुछ महत्वपूर्ण लोकोक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१. टूटियो बांह गरे परै, फूटेहुँ बिलोचन पीर होत हित करिये।[13]

---

१. १३७।५ २. १२०।३ ३. १७८।१ ४. १९८।१ ५. १२०।५ ६. १४८।६
७. ८८।४ ८. १०२।५ ९. प्रामाणिक हिंदी शब्दकोश, पृ० ६७५।
१०. मानक हिंदी कोश, पृ० ५२०।
११. राजस्थानी कहावतें, पृ० ५३।
१२. हरियाणवी लोकोक्तियाँ शास्त्रीय विश्लेषण, पृ० ५२। १३ २७१४

२. बड़े ही ओट, बलि, बाँचि आये छोटे हैं।[१]
३. चलत खरे के संग जहाँ तहाँ खोटे हैं।[२]
४. निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह, तम निवृत्त नहिं होई।[३]
५. जाको मन जासौं बंध्यो, ताको सुखदायक सोइ।[४]
६. दया में बसत देव सकल धरम।[५]
७. त्यों-त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर, ज्यों-ज्यों सील बस ढील दई है।[६]
८. बुझे न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते।[७]
९. बिगरे सेवक स्वान ज्यों साहिब-सिर गारी।[८]
१०. पावक-काम भोग-घृत में उठ कैसे परत बुझायो।[९]
११ तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनि के पछिताये।[१०]
१२. होत आदरे ढीठ है, अति नीच निचाई।[११]
१३. लेत केहरि को बयर ज्यों भेक हरि गोमाय।[१२]
१४. दूध को जर्यो पियत फूंकि-फूंकि मह्यौ हौं।[१३]
१५. बिगरी सेवक की सदा, साहिबहिं सुधारी।[१४]
१६. अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरे।[१५]
निज तालूगत रुधिर पान करि मन संतोष धरे।।
१७. अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन दुखारी।
इनको बिलगु न मानिये, बोलहिं न बिचारी।।[१६]
१८. अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहा लौं।[१७]
१९. करतब बिनु बेष देखिये ज्यों सरीर बिनु प्रान।[१८]
२०. कहु, के लहै फल रसाल, बबुर बीज बपत।[१९]
२१. चीन्हौं चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि, प्रभु सौ गुदरि निबर्यो हौं।[२०]
२२. छोटो-बड़ो चहत सब स्वारथ, जो बिरंचि बिरच्यो है।[२१]
२३. जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत।[२२]
२४. ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बल तें न कोउ बिलगावै।[२३]
अति रसग्य सूच्छम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै।।
२५. जोइ-जोइ कूप खनैगो पर कहँ, सो सठ फिरि तेहि कूप भरै।[२४]
२६. जो पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सैर।[२५]
२७. जेहि के भवन बिमल चिंतामनि, सो कत कांच बटोरे।[२६]
२८. मिलै न मथत वारि घृत बिनु छीर।[२७]

१७८।४ २. १७८।४ ३. १२३।२ ४. १८११।४ ५. २४८।४ ६. १३८।८
१८८।४ ८. १५०।४ ९. १८८।४ १०. २०१।५ ११. ३५।५ १२. २२०।४
२६०।३ १४. ३४।५ १५. ८२।४ १६. ३४।१ १७. १७४।३ १८. १८२।२
१३०।२ २०. २६६।४ २१. २३०।२ २२. १८५।५ २३. १६७।३ २४. १३७।५
१३७।१ २६ ११६।४ २७. १८६।२

२९. मरै न उरग अनेक जतन बलमीकि बिबिध बिधि मारे ।[१]
३०. मोहि तो 'सावन के अंधहिं' ज्यों सूझत रंग हरो ।[२]
३१. महाराज ! लाज आपुही निज जाँघ उघारे ।[३]
३२. है हितु सो जग हूँ जाहिबे स्वारथ ।[४]
३३. कटु कहिये गाढ़े परे, सुनि समुझि सुसाँई ।[५]
३४. जब जाको काज तब मिलै पायं परि सो ।[६]
३५. सुखमय दिन द्वै निसान सबके द्वार बाजे ।[७]
३६. सबै साँकरे सुमिरिये, समरथ हितकारी ।[८]
३७. साँसति सहत, परबस को न सहैगो ।[९]

आर-१०५, वाणी विहार
उत्तम नगर
नई दिल्ली-११००५९

---

१. १९५।४ २. २२६।२ ३. १४७।१ ४. १३५।२ ५. ३५।१
६. [illegible] ७. ८०।३ ८. ३४४ ९. २५८२

जैन पुराणों में विवाह के प्रकार एवं स्वरूप

डॉ० देवीप्रसाद मिश्र

१. विवाह का महत्त्व

विवाह निखिल सामाजिक संस्थाओं का मूलाधार है। ऐसी स्वाभाविक तथा सार्वजनीय स्थिति के कारण जैन पुराणों ने भी विवाह को एक महत्वपूर्ण क्रिया के रूप में स्वीकार किया है। जैनपुराणों के अनुसार गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेशार्थ वर-वधू सम्यक् जीवन व्यतीत करने, सन्तानों की रक्षा एवं सामाजिक व्यवस्था के लिए विवाह-सूत्र में बँधते थे। भोगभूमि-काल में स्त्री-पुरुषों का युगल साथ-साथ उत्पन्न होता था, साथ-साथ भोग भोगने के उपरान्त केवल एक युगल को जन्म देकर साथ ही साथ मृत्यु को प्राप्त करते थे।[१] सामाजिक व्यवस्था को संतुलित बनाने के लिए तथा वंश-विस्तारार्थ सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना गया है। इसीलिए महापुराण में इस बात पर बल दिया गया है कि पुत्रहीन मनुष्य की गति नहीं होती, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यह कथन वेद-विहित है।[२] महापुराण में वर्णित है कि विवाह क्रिया गृहस्थों का धर्म है और सन्तान-रक्षा गृहस्थों का प्रधान कार्य है। क्योंकि विवाह न करने से सन्तति का उच्छेद हो जाता है और सन्तति के उच्छेद होने से धर्म का उच्छेद होता है।[३]

विवाह के महत्त्व एवं प्रचलन की सूचना जैनेतर साक्ष्यों से भी प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ—कालिदास ने धर्म, अर्थ एवं काम को विवाह का मुख्य उद्देश्य माना है।[४] पारम्परिक विष्णु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों में सपत्नीक गृहस्थ को ही महान् अधिकारी बताया गया है।[५]

२. विवाह के प्रकार एवं भेद

प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रीय परम्परा ने विवाह के निर्धारित आठ प्रकार—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच—सुविदित हैं।[६] इन आठ प्रकारों के क्रमबद्ध उल्लेख जैन पुराणों में प्राप्त नहीं होते हैं। अतएव यह निश्चित करना कठिन है कि इनमें किस विधि को किस सीमा तक मान्यता मिली थी। जैन आगमों के सम्बन्ध में डॉ० जगदीशचन्द्र जैन का मत है कि जैन आगमों में विवाह के तीन प्रकार—माता-पिता द्वारा आयोजित, स्वयंवर तथा गान्धर्व हैं।[७] श्री पी० थॉमस का मत है कि जैन धर्म में चार प्रकार के विवाह प्रचलित थे—माता-पिता द्वारा नियोजित, स्वयंवर, गान्धर्व तथा असुर।[८] आलोचित जैनपुराणों में प्रसंगतः जिन विवाहों के उल्लेख मिलते हैं, वे इस प्रकार हैं—१. स्वयंवर, २. गान्धर्व, ३. परिवार द्वारा नियोजित, ४. प्राजापत्य, ५. राक्षस।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैनपुराणों के रचनाकाल में स्वयंवर को विवाह की पृथक् विधि मानने के सन्दर्भ में दो मत प्रचलित थे। धर्मशास्त्रीय सम्प्रदाय में स्वयंवर को पृथकतः विवाह-विधि नहीं मानते थे, अपितु इसे गान्धर्व विवाह का ही अंग माना जाता था। उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य-

स्मृति (१·६१) के आधार पर वीर-मित्रोदय ने यह स्पष्टतया कहा है कि स्वयंवर भी गान्धर्व विवाह है।[९] किन्तु, दूसरी ओर स्थिति यह थी कि जैन-सम्प्रदाय में स्वयंवर और गान्धर्व, दोनों को पृथक्-पृथक् विवाह-विधि के रूप में स्वीकार किया गया है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि क्षेत्रीय, परिस्थितिजन्य और सम्प्रदायगत वैशिष्ट्य एवं आग्रह के कारण विवाहों के प्रकार के विषय में जो उल्लेख मिलते हैं, उनमें समरूपता नहीं थी। न केवल जैन-सम्प्रदाय में, अपितु ब्राह्मण-सम्प्रदाय में भी विवाह के प्रकारों की संख्या को कम करने की परम्परा चल पड़ी थी। उदाहरणार्थ, ब्रह्माण्ड पुराण का प्रमाण दिया जा सकता है जिसके अनुसार विवाह की चार ही विधियाँ – कालक्रीत, क्रमक्रीत, स्वयंयुत तथा पितृदत्त— है।[१०] ब्रह्माण्ड पुराण का यह स्थल लगभग हमारे आलोचित पुराणों की समयावधि में आता है। क्योंकि पुराण-समीक्षकों के अनुसार ब्रह्माण्ड पुराण गुप्तोत्तर काल में संकलित हुआ था जिसकी रचना का क्रम लगभग १००० ई० तक चलता है।[११] कालिदास ने विवाह के आठ प्रकारों में से केवल गान्धर्व, आसुर तथा प्राजापत्य विधियों का ही उल्लेख किया है।[१२] जैनेतर अग्निपुराण में विवाह के दैव प्रकार को छोड़कर केवल सात प्रकारों का ही उल्लेख मिलता है।[१३] अधोलिखित अनुच्छेदों में जैन-पुराणों में उल्लिखित विवाह के प्रकारों की विवेचना की जा रही है।

(१) स्वयंवर विवाह

जैन पुराणों के अनुसार स्वयंवर प्रथा के उद्भावक अकम्पन महाराज थे।[१४] महापुराण स्वसम्प्रदाय ने विशिष्ट श्रुतियों एवं स्मृतियों की प्रामाणिकता पर बल देते हुए विवाह की सनातन विधि एवं परम्परा का उल्लेख किया है।[१५] महापुराण का कथन है कि प्राचीन पुराणों में स्वयंवर विवाह की सर्वोत्तम विधि है।[१६]

विद्वान् क्लरिसे बदेर का मत है कि स्वयम्वर या पति चुनने का विशेषाधिकार क्षत्रिय कन्याओं को ही था।[१७] इस मत में किंचित संशोधन किया जा सकता है। स्वयंवर-प्रथा राजकन्या के लिए अपेक्षित मानी जाती थी और प्राचीन भारत में राजपद क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्राह्मण भी अलंकृत करते थे। जैनपुराणों के अनुसार स्वयंवर का प्रचलन राजघरानों में था। सम्भवतः समाज के धनी एवं सम्पन्न व्यक्ति भी इस प्रथा द्वारा विवाह करते थे।[१८]

स्वयंवर-विधि के विषय में जैनपुराणों में वर्णित है कि कन्या के विवाह के योग्य हो जाने पर पिता कन्या के विवाह के लिए देश-विदेश में सूचना भेजता था। देश-विदेश के राजकुमार नव-निर्मित स्वयंवरशाला में बैठते थे। स्वयंवरशाला में कञ्चुकी के साथ कन्या प्रवेश करती थी और कञ्चुकी सभी राजकुमारों का परिचय कन्या को देता था। कन्या अपनी इच्छानुसार उन राज-कुमारों में से एक का पति के रूप मे वरण करती थी। तदनन्तर विवाह सम्पन्न होता था।[१९] कन्या जिस पुरुष को पसन्द करती थी, वही उसका पति होता था और ऐसी परिस्थिति में उसके बीच में व्यवधान डालना अनुचित था।[२०] यदि कन्या को वर पसन्द नहीं आता था, तब स्वयंवर भंग कर दिया जाता था।[२१] स्वयंवर में प्रारम्भ से अन्त तक का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व कन्या-पक्ष का होता था।[२२]

(२) गान्धर्व विवाह

जब युवक एवं युवती काम के वशीभूत होकर संभोग करते थे, तो उसे गान्धर्व-विवाह की [illegible] उदाहरणार्थ, राजा पाण्डु ने कुन्ती के साथ गान्धर्व विवाह किया था[२३]

पद्मपुराण में वर्णित है कि गान्धर्व-विवाह में प्रेम का प्रारम्भ कभी वर की ओर से होता है[२३] और कभी कन्या की ओर से[२५] तथा कभी-कभी दोनों की ओर से होता है।[२६]

जैनेतर मार्कण्डेय पुराण के अनुसार गान्धर्व-विवाह केवल क्षत्रियों के लिए ही विहित था।[२७] गान्धर्व-विवाह में पिता की अभिरुचि गौण थी। यही कारण है कि उत्तरकालीन स्मृतिकारों ने स्वयंवर को भी गान्धर्व विवाह माना है।[२८]

(३) परिवार द्वारा नियोजित विवाह

कन्या के माता-पिता कन्या के योग्य वर ढूंढ कर तथा विधि-विधान से विवाह सम्पन्न करके जामाता को यथाशक्ति धन आदि देकर मंगलाचारपूर्वक कन्या की विदाई करते थे।[२९] पद्मपुराण के अनुसार सब सामग्री लेकर कन्या-पक्ष वाले वर के घर जाकर विवाह सम्पन्न कराते थे।[३०] इसी पुराण में अन्यत्र उल्लिखित है कि कभी-कभी कन्या के रूप पर आसक्त हो जाने पर वर स्वयं या उसका पिता कन्या के यहाँ जाकर कन्या की याचना करते थे।[३१]

(४) प्राजापत्य-विवाह

इस विवाह को महापुराण में विशेष महत्व दिया गया है। इसमें कन्या का विवाह विधि-पूर्वक पाणिग्रहण-क्रिया सम्पन्न करके किया जाता थी।[३२] जैन-मान्यता के अनुसार, अन्तिम कुलकर नाभिराय ने पाणिग्रहण की वर्तमान प्रथा चलाई थी। उन्होंने अपने पुत्र ऋषभदेव—जिसे जैन धर्म का प्रथम तीर्थंकर माना गया है—का विधिपूर्वक पाणिग्रहण-सस्कार किया था।[३३]

(५) राक्षस-विवाह

डॉ० पी० थॉमस का मत है कि जैन धर्म में राक्षस और पैशाच प्रकार के विवाहों को मान्यता प्रदान नहीं की गई है।[३] परन्तु यह मत अमान्य है। जैनी सम्प्रदाय विशिष्ट आदर्श की ओर संकेत अवश्य करते हैं, किन्तु यदि आलोचित ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में समग्रता की दृष्टि से देखा जाए तो स्थिति भिन्न दिखाई देती है। जैनपुराणों में राक्षस-विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कन्या को बलात् उसके परिवार वालों से छीनकर उठा लाते थे और अपने यहाँ लाकर विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न करते थे।[३५]

३ विवाह-सम्बन्धी नियम : विधि-निषेध

(१) सवर्ण विवाह (अनुलोम विवाह)

विवाह-सम्बन्धी नियमों और उपनियमों की दृष्टि से जैनपुराणों मे तथा इनसे इतर साक्ष्यों मे जहाँ कहीं समानता दिखाई देती है, उनमें सवर्ण विवाह विशेषतया उल्लेखनीय है। जैन-सम्प्रदाय द्वारा सम्मत विधि-निषेध कहीं तो ब्राह्मण-परम्परा से मेल खाते हैं और कहीं विशद भिन्नता दिखाई देती है। धर्मशास्त्रीय ब्राह्मण-व्यवस्था में सवर्ण या अनुलोम विवाह मान्य था और प्रतिलोम विवाह को मान्यता प्रदान नहीं की गई है जिसके स्पष्ट निर्देश गौतम धर्मसूत्र, वशिष्ठ-धर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।[३६]

उक्त परम्परा जैनपुराणों की विचारधारा के अधिक निकट है। महापुराण सवर्ण विवाह का उल्लेख करते हुए, उस विकल्प-विधि की ओर भी संकेत करता है जिसके अनुसार चारों वर्णों को अपने वर्ण में ही विवाह करना चाहिए। विशेष परिस्थिति में क्रम से अपने नीचे वर्ण की कन्या से विवाह करने की छूट थी।[३७]

एतदर्थ जैनपुराणों में उल्लिखित दो स्थल विशेष रूप से ध्यातव्य हैं जो अनुलोम विवाह की मान्यता की ओर स्पष्टतया संकेत करते हैं। प्रतिलोम विवाह के निदर्शक प्रमाण इन पुराणों में

नही मिलते । दूसरी ओर स्थिति यह है कि धर्मशास्त्रों की भाँति ही जैनेतर पुराण ग्रन्थ असगोत्र, असप्रवर और असपिण्ड विवाह के पक्ष में कदापि नहीं है । किन्तु जैन-परम्परा के नियामक आगमों तथा जैनपुराणों से विदित होता है कि इस कोटि के विवाहों का प्रचलन सम्बन्धित समाज मे अवश्य था । उदाहरणार्थ, भाई-बहन, मामा, बुआ, मौसी की लड़की, सौतेली माता, देवर, मामा-फूफा, ममेरी बहन आदि के साथ विवाह का उल्लेख मिलता है ।[३८] सामान्यतया वैदिक धर्म मे उक्त विवाह करना निषिद्ध था,[३९] तथापि कुछ स्मृतिकारों ने प्रायश्चित्तसहित इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी थी ।[४०]

न्यूनाधिक अंशों मे उक्त जैन-परम्परा के भेद का कारण स्थानीय भिन्नता थी । क्योंकि जैसा कि महामहोपाध्याय पी० वी० काणे महोदय ने स्पष्ट किया है कि 'मातुल-कुल' में विवाह का प्रचलन दाक्षिणात्यो मे था ।[४१] जैनपुराणो के सम्बन्धित स्थल विन्ध्य प्रान्तर के दक्षिणी भाग, सम्भवतः सौराष्ट्र क्षेत्र के आसपास लिखे गये थे ।

(२) एकपत्नीव्रत एवं बहुविवाह

सामान्यतया भारतीय आदर्श में 'एकपत्नीव्रत' को उत्साहित किया गया है । किन्तु, विषम एवं विशेष परिस्थितियों में बहुविवाह को भी मान्यता मिली थी । परन्तु ऐसी स्थिति कम ही अवस्थाओं में सम्भावित थी । उदाहरणार्थ, आपस्तम्ब धर्मसूत्र का कथन है कि पुरुष उसी दशा मे दूसरा विवाह कर सकता था जबकि उसकी पत्नी बन्ध्या अथवा अधार्मिक हो ।[४२] इसके अतिरिक्त 'एकपत्नीव्रत' का नियम राजपरिवार को आबद्ध नही कर सकता था । उदाहरणार्थ, भास द्वारा रचित 'स्वप्नवासवदत्तम्' नामक नाटक में उदयन की सपत्नियों की ईर्ष्या की ओर संकेतात्मक चित्र मिलता है ।[४३] कालिदास के 'शाकुन्तल' में राजाओं के बहुपत्नीत्व का उल्लेख प्राप्त होता है ।[४४] जैनेतर साक्ष्यों में बहुविवाह के उल्लेख मिलते हैं ।[४५]

महापुराण में राजाओं तथा समाज के धनी एवं सम्पन्न लोगों की कई पत्नियों का उल्लेख मिलता है ।[४६] पद्मपुराण में वर्णित है कि लक्ष्मण के पास १६,००० रानियाँ तथा आठ पट-रानियाँ,[४७] राम के पास ८,००० रानियाँ एवं चार पटरानियाँ[४८] और रावण के पास १८,००० रानियाँ थीं ।[४९] महापुराण में भरत की ९६,००० रानियों का उल्लेख है ।[५०] इन अतिशयोक्तियो की पृष्ठभूमि में राजाओं की बहुपत्नीत्व-परम्परा का सन्निधान निर्विवादतः माना जा सकता है ।

हमारे आलोचित जैनपुराणों के रचना-काल में यह परम्परा विशेष रूप से प्रचलित थी कि राजकुल मे बहुविवाह एक लोकप्रिय परम्परा थी । तत्कालीन नरेशों के अनेक अन्तःपुर होते थे जिनका सम्बन्ध अनेक रानियो से था । राजकुल के अतिरिक्त यह प्रथा अन्य सम्पन्न परिवारो मे भी प्रचलित थी ।[५१] इस प्रथा का एकमात्र कारण राजाओं की विलासिता को माना जा सकता है । कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' मे हर्ष नामक राजा के विलासोचित क्रिया-कलापों का उल्लेख करते हुए उसके निरर्थक एवं निर्बन्ध्य प्रयासों की ओर संकेत किया है । इसकी सामाजिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप तत्कालीन शासक उपहास के विषय बन चुके थे । उदाहरणार्थ, दशवीं शती के अरबी लेखक इब्न खुर्दद्ब ने भारतीय नरेशों की विलासप्रियता की कटु आलोचना करते हुए लिखा है कि वे अपनी विलासिता को धर्म-सम्मत मानते थे ।[५२]

४. विवाहार्थ वर-कन्या की आयु

वैदिक-उत्तरवैदिक वाङ्मय, रामायण एवं महाभारत में युवावस्था में विवाह होने का उल्लेख मिलता है । पुराणों, स्मृतियों एवं टीकाकारों में कन्या के लिए विवाहयोग्य आयु कम बतलाई

है।[५३] जैनसूत्रों में विवाह की आयु कम थी।[५४] अल्बेरूनी के अनुसार, ११वीं शती में हिन्दुओं में विवाह की आयु कम हो गई थी। ब्राह्मण वर की सामान्य आयु १२ वर्ष थी। क्षेमेन्द्र ने बच्ची विधवा का उल्लेख किया है। ढाका संग्रहालय में प्राक्-मुस्लिम काल के स्थापत्य की कलाकृतियों के आधार पर कन्या के विवाह की आयु १३-१४ वर्ष थी।[५५]

जैनपुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वर-कन्या का विवाह बड़े होने पर किया जाता था। उपर्युक्त विवाह-प्रकारों से स्पष्ट होता है कि उनका विवाह अल्पायु में नहीं होता था।

५. वर-कन्या के गुण एवं लक्षण

भारतीय आदर्श के अनुसार, तुल्य स्थिति वालों में ही विवाह करना अपेक्षित है। इस परम्परा की निर्देशिका जो धर्मशास्त्रीय[५६] धारा चली आ रही थी, उसका सम्यक् निर्वाह यदि एक ओर जैनेतर पूर्वकालीन पौराणिक-सम्प्रदाय[५७] ने स्वीकार किया था, तो दूसरी ओर जैन-पुराणों ने इनके पारम्परिक मन्तव्य को भी प्रभावित किया था।[५८] जैनपुराणों में वर के कुल, शील, धन, रूप, समानता, बल, अवस्था, देश और विद्यागम इन नव गुणों पर विशेष बल दिया है।[५९] महापुराण में वर्णित है कि श्रेष्ठ वर में कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, नय, विनय, विभव, बन्धु एवं सम्पत्ति की गणना की जाती है।[६०] जैनपुराणों में वर की उच्च कुलीनता पर विशेष बल दिया गया है।[६१]

जैन आगमों में कन्या को वर के अनुरूप वय, लावण्य, रूप, यौवन तथा समान कुल मे उत्पन्न होने पर बल दिया है।[६२] पद्मपुराण में उत्तम कन्या को विनयी, सुन्दर, चेष्टायुक्त बताया गया है।[६३] महापुराण में वर्णित है कि यदि कन्या में अच्छे लक्षण नहीं होते हैं, तब उसे कोई पुरुष ग्रहण नहीं करता और ऐसी परिस्थिति में उसे मृत्यु-पर्यन्त पिता के घर में रहना पड़ता है।[६४]

यह उल्लेखनीय है कि उक्त लक्षणों के सुनिरीक्षण का प्रधान उद्देश्य दाम्पत्य-जीवन को सुखद बनाना और सामाजिक व्यवस्था के मूलाधार गार्हस्थ्य-जीवन एवं पारिवारिक जीवन को संतुलित बनाना रहा होगा। यह परम्परा भारतीय जीवन में प्रारम्भ से चलती आ रही थी। इसके प्रमाण पूर्वकालीन सूत्रग्रन्थों एवं स्मृतिग्रन्थों से ही मिलने लगते हैं। उदाहरणार्थ, 'आश्वलायन-गृह्यसूत्र' में उसी कन्या के साथ विवाह अपेक्षित माना गया है जो बुद्धि, रूप, शील और स्वास्थ्य से सम्पन्न हो।[६५]

६. दहेज-प्रथा

दहेज के लिए 'प्रीतिदान' शब्द व्यवहृत है। जैनपुराणों से ज्ञात होता है कि दहेज के रूप में पिता वर को धन देता था और दान-दहेज देने पर विवाह सम्पन्न होता था।[६६] महापुराण एवं पाण्डवपुराण में वर्णित है कि चक्रवर्ती राजा अपनी पुत्री को दहेज के रूप मे हाथी, घोड़े, पियादे, रत्न, देश एवं कोष आदि कुल परम्परा से चला आया बहुत-सा धन देते थे।[६७] यहाँ पर यह विचारणीय विषय है कि दहेज-प्रथा समाज में प्रचलित थी और लोग अपनी यथाशक्ति दहेज देते थे।

७. विवाह-विधि

जैन आगमों में मँगनी या तिलक जैसी कोई परम्परा का उल्लेख नहीं मिलता है। वस्तुतः पाणिग्रहण का निश्चय करने के लिए समाज के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के समक्ष केवल एक श्रीफल

८

के आदान-प्रदान को ही पर्याप्त माना गया था।[६८] आलोचित जैनपुराणों में विवाह की विधि का वर्णन मिलता है। महापुराण में वर्णित है कि शिष्ट-जन एवं ज्योतिषियों के निदेशानुसार उत्तम एवं शुभ मुहूर्त, तिथि, करण, नक्षत्र तथा योग में कन्यादान का विधान किया गया है।[६९] विवाह किसी तीर्थस्थान या सिद्ध प्रतिमाओं को सम्मुख रखकर सम्पन्न करते थे। विवाह के समय विशेष उत्सव मनाये जाते थे जिनमें वाद्य-संगीत की प्रधानता थी। आवास-स्थल को सुसज्जित किया जाता था।[७०] इस अवसर पर सज्जनों एवं बन्धु-बान्धवों का समागम होता था।[७१] विवाह मण्डप को विशेष सुसज्जित किया जाता था जिसमें गोपुर विशेष रूप से सजाया जाता था। वर-कन्या को गृह-प्रांगण में बैठाया जाता था। विधि-विधान के ज्ञाता कलश के पवित्र जल से वर-कन्या का अभिषेक करते थे। अभिषेक-क्रिया के समय मांगलिक वाद्यों का वादन होता था। कुलांगनाएँ आशीर्वाद के लिए अक्षत का प्रयोग करती थीं। अभिषेक के उपरान्त वर-कन्या को यथाशक्ति सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण पहनाते तथा प्रसाधन करते थे। अभिषेक के बाद पूर्व दिशा में सिद्धभगवान् की पूजा करके तीन अग्नियों का पूजन करते थे। विवाह के समय वर-कन्या भृंगार (करक) धारण करते थे।[७२] पाणिग्रहण के बाद वर-वधू को मनोहर चैत्यालय में ले जाकर अर्हन्तदेव की पूजा कराते थे।[७३] विवाह के दूसरे दिन वर-वधू महापूत चित्यालय (घर के बाहर जिन मन्दिर) जाते थे।[७४] विवाह के दिन से वर-वधू देव एवं अग्नि की साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्य-व्रत रहते थे।[७५] प्रसंगतः यहाँ उल्लेखनीय है कि वैदिक परम्परा में केवल तीन रात्रि के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करते थे।[७६] कालिदास ने इक्ष्वाकु-वंशीय राजाओं के विवाह का उद्देश्य केवल सन्तानोत्पत्ति माना है, न कि काम-प्रेरित कामवासना की पूर्ति।[७७] इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने गार्हस्थ्य-जीवन में ब्रह्मचर्य-व्रत के निर्वाह पर बार-बार बल दिया है तथा समागम-क्रिया के लिए काल-विषयक नियम और सीमा की ओर पुनः-पुनः संकेत भी किया है।

पाणिग्रहणोपरान्त वर-वधू के लिए जो अन्य क्रियाएँ विहित थीं, उनमें देशाटन विशेषतः तीर्थस्थल का दर्शन—लोकप्रिय माना जाता था। तदुपरान्त वर-वधू वैभवपूर्वक घर लौटते थे। निर्धारित वेला में कामवासना से निरपेक्ष केवल सन्तानोत्पत्ति को लक्ष्य में रखकर वर-वधू का समागम स्पृहणीय माना जाता था।[७८]

संदर्भ-संकेत

१. पद्म ३·५१, महा० ६५·७८। २. अपुत्रस्य गतिर्नास्तीत्यार्षं किं न त्वया श्रुतम्। महा० ६५·७८। ३. महा० १५·६२-६४। ४. द्रष्टव्य, गायत्री वर्मा—कालिदास के ग्रन्थ : तत्कालीन संस्कृति, वाराणसी १९६३, पृ० ८१। ५. द्रष्टव्य, एस० एन० राय—पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद १९६८; पृ० २२२। ६. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १·६, बौधायन धर्मसूत्र १·११, गौतम ४·६-१३, याज्ञवल्क्य १·१६-६१, कौटिल्य ३·१·५ प्रकरण, मनु ३·२१, विष्णुस्मृति २४·१७-१८, विष्णुपुराण ३·१०·२४, विष्णु धर्मपुराण २४·१८-१९। ७ जगदीशचन्द्र जैन जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी १९६५, पृ० २५३। ८. पी० थामस—इण्डियन वीमेन थ्रू द एजेज, लन्दन १९६३, पृ० १०७। ९. काणे—हिस्ट्री ऑव् धर्मशास्त्र, पृ० ५२३ तथा—एस० एन० राय—पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद १९६८, पृ० २३२।

१०. कालक्रीता क्रयक्रीता पितृदत्ता स्वयंयुता।
नारी पुरुषयोरेवमुदाहृतु चतुर्विधः॥ ब्रह्माण्ड पुराण ४·१५·४

११. हाजरा—स्टडीज इन द पौराणिक रिकर्डस ऑव् हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टमस, पृ० १४६ तथा

एस० एन० राय हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज इन द पुराणाज, इलाहाबाद १९७८, पृ० १९२। १२ भगवतशरण उपाध्याय—गुप्तकाल का सांस्कृतिक अध्ययन, लखनऊ १९६९, पृ०२०९। १३. एस० डी० ज्ञानी—अग्निपुराण—ए स्टडी, वाराणसी १९६४, पृ० २४६। १४. ततः स्वयं-वरस्येमे नाभूवन् मद्यकम्पनाः। महा ४५.५४, पाण्डव ३.१४७।

१५. सनातनोऽस्ति मार्गोऽयंश्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः॥ महा० ४४.३२

१६. श्रुतः पूर्वपुराणेषु स्वयंवरविधिर्वरः। महा० ४३.१९६। १७. क्लारिसे बदेर—वीमेन इन ऐंशेन्ट इण्डिया, लंदन १९२५, पृ० ३१। १८. पद्म ११०.२, महा ६३.८। १९. पद्म २४.८९-९०, १२१, हरिवंश ३१.४३-५५, महा० ४३.५१-२७८, ६३.८ तुलनीय—ज्ञातृधर्मकथा १६, पृ० १७१-१८२, बृहत्कल्पभाष्य २.३४४६, गौतमधर्मसूत्र ४.१०, मनु ३.३२। २०. पद्म ६.७०,६६.९१ २१. हरिवंश ३१.३५। २२. महा ६२.८२। २३. पद्म ८.१०८, हरिवंश २९.६८, ४५ ३७, तुलनीय—उत्तराध्ययन टीका ९, पृ० १४१, ज्ञातृधर्मकथा ८। २४. वही ९३.१८। २५. वही ८.१०१, १०७। २६. वही ६.१९। २७. बृजेन्द्र नाथ शर्मा—सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑव् नार्दर्न इण्डिया, नई दिल्ली १९७२, पृ० ५८। २८. याज्ञवल्क्य स्मृति १.६१, द्रष्टव्य—काणे—वही पृ० ५२३, एस० एन राय—पौराणिक-धर्म एवं समाज, पृ० २३२। २९. पद्म १०.१०, महा० ४५.३४। ३०. वही ८.७८-८०। ३१. वही १०.६, हरिवंश २१.२६। ३२. महा० ७०.११५। ३३. गोकुलचन्द्र जैन—जैन संस्कृति और विवाह, गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति-ग्रन्थ आगरा १९६४, पृ० २८३। ३४. पी० थॉमस—वही, पृ० १०८। ३५. हरिवंश ४२.९६, ४३.२३-२४, महा० ३२.१८३, ६८ ६.०। ३६. द्रष्टव्य—एस० एन० राय—वही, पृ० २२७।

३७. शूद्रा शूद्रेव वोढव्या नान्या तां स्वां च नैगमः।
वहेत् स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च॥ महा० १६.२४७

३८. जगदीशचन्द्र जैन—वही, पृ० २६१-२६६, पद्म ८.३७३,६५.३१, हरिवंश ९.१८, ३३.२९, महा० ७.१०६,१०.१४३, ७२.२२७-२३०, ७५.१०५। तुलनीय—चकलदार—सोशल लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया—स्टडीज इन वात्स्यायन्स कामसूत्र, पृ० १३३। ३९. बौधायनधर्मसूत्र १.१९-२६, आपस्तम्बधर्मसूत्र १.७ २१.८। ४०. आपस्तम्बधर्मसूत्र २.५.११.६, मनु ११.१७२-१७३।

४१. स्वमातुल सुतां प्राप्य दक्षिणात्यस्ते तुष्यति।
अन्ये तु सव्यलीकेन मनसा तन्न कुर्वते॥ तन्त्रवार्त्तिक, पृ० २०४।
द्रष्टव्य—काणे—हिस्ट्री ऑव् धर्मशास्त्र; खण्ड २, भाग १, पूना १९७४, पृ० ४५४।

४२. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २.५.११.१२-१३। ४३. स्वप्नवासवदत्तं, अंक ३। ४४. बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ३। ४५. ऋग्वेद १०.८५.२६, शतपथ ब्राह्मण १३.४.१.९, महाभारत आदि १६०.३६, विष्णुपुराण १.१५.१०३-१०५, वायु ६३.४०-४२, ब्रह्माण्ड-पुराण २.३७.४२-४४, मत्स्यपुराण ५.१०-१२। ४६. महा० १५.६९, ६८.१६९। ४७. पद्म ५८.६९, ९४.१७-१८। ४८. वही ९४-२४-२५। ४९. वही ५६-१७। ५०. महा० ३७.३४-३६। ५१. बी० एन० एस० यादव—सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद १९७३, पृ० ६८-६९। ५२. द्रष्टव्य—बी० एन० एस० यादव—वही, पृ० १२३ तथा हबीब—हिन्दुस्तानी पत्रिका, वर्ष १९३१, पृ० २७३। ५३. प्रीतिप्रभा गोयल—हिन्दू विवाह मीमांसा, बोरूंदा, १९७६, पृ० ९३-१०५ तथा कृष्णदेव उपाध्याय—हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास, वाराणसी १९७४, पृ० १२१, और शकुन्तल राव शास्त्री—वीमेन इन द सेक्रेड लाज, पृ० १७५। ५४. पिण्डनिर्युक्ति

टीका ५०६ । ५५. द्रष्टव्य—बी० एन० एस० यादव—वही, पृ० ७० । ५६. मनुस्मृति । ३·७ । ५७. विष्णुपुराण ३·१२·२२, ४·१·८२, १·१५·६४, वायुपुराण ५४·११२, १०७·४-५, मत्स्यपुराण १५४·४१५, २२७·१८ ब्रह्माण्डपुराण, ६·२५·१०६ । ५८. महा० ४३·१८१ ।

५९. कुलं शीलं धनं रूपं समानत्वं बलं वय: ।
देशो विद्यागमश्चेति ग्रथ्युक्त वरे गुणा: ।। यम १०१·१४
स्वाभिजात्यमरोगत्वं वय: शीलं श्रुतं वपु: ।
लक्ष्मीपक्ष: परीवारो वरे नव गुणा: स्मृता: ।। महा० ६२·६४, ४३·१८६
आभिजात्यमरोगित्वं वय: शीलं श्रुतं वपु: ।
लक्ष्मी: पक्ष: परीवारो वरे नवगुणा: स्मृता: ।। पाण्डव ४·८४

६०. मन्दोदर्या: कुलं रूपं सौन्दर्यं विक्रमो नय: ।
विनयो विभवो बन्धु: सम्पदन्ये च ये स्तुता: ।। महा० ६७·२२१
तुलनीय—यम (स्मृति चन्द्रिका १, पृ० ७८), आपस्तम्बगृह्यसूत्र ३·२०, बृहत्पराशर (सम्पादित जीवानन्द) पृ० ११८ ।

६१. पद्म १०१·१४-१५, महा ७·१६८ तुलनीय आश्वलायनगृह्यसूत्र १·५·१ । ६२. ज्ञाताधर्म १·१, भगवतीशतक ११:११ । ६३. पद्म १७·५३, तुलनीय—शतपथब्राह्मण १·२·५·१६, भारद्वाजगृह्यसूत्र १·११, मानवगृह्यसूत्र १·७·६-७, लौगाक्षिगृह्यसूत्र १४·४-७, गौतम ४·१, मनु ३·४,१०, वायुपुराण ३३·७, विष्णुपुराण ३ १०·१६-२४, मत्स्यपुराण २८७ १५ । ६४. महा ६८·१६५ । ६५. आश्वलायनगृह्यसूत्र १·५·३ । ६६. पद्म ३८-८-१०, महा ४५·३-४ ६७. महा ८·३६, पाण्डव ८·६७, तुलनीय—उत्तराध्ययनटीका ४, पृ० ८८, उपासकदशा ४, पृ० ६१, रामायण १·७४·४ । ६८. धनिराम—जैन संस्कृति और विवाह, श्रमण, वर्ष १३, अंक ४, फरवरी १९६२, पृ० १७-१८ । ६९. महा ७·२२१, ४३·१८१, तुलनीय—ज्ञाताधर्म १·१, भगवती शतक ११·११, निशीथ—पूर्वी ३·१६८६ । ७०. महा ७·२२२, ४३·२६३ ३८·१२८-१२९, ७·२४६-२४८, तुलनीय—उत्तराध्ययनसूत्र २२·८-१० । ७१. महा ४३·१८३ । ७२. वही ७·११०-२३० , पाण्डव ३·२३० । ७३. पद्म ८-८०, महा ६३·२६३ । ७४. महा ७·२७१ । ७५. वही ३८·१३१ । ७६. बौधायनधर्मसूत्र १·५·१६-१७, आपस्तम्बधर्मसूत्र ८·८-१० । ७७. प्रजायै गृहमेधिनाम्... । रघुवंश, प्रथम वर्ग । ७८. महा ३८·१२७-१३४ ।

२० डी, बेली रोड,
नया कटरा
इलाहाबाद-२११००२

डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त

'कन्हावत' मलिक मुहम्मद जायसी की एक ऐसी रचना है जो अभी हाल तक अज्ञात थी और अब प्रकाश में आयी है। इसके दो मुद्रित संस्करण कुछ महीनों के अन्तराल से एकसाथ प्रकाशित हुए हैं। एक संस्करण विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के प्राध्यापक डाक्टर शिवसहाय पाठक का है। दूसरा संस्करण इस अकिंचन ने प्रस्तुत किया है जिसे किसी विश्वविद्यालय का प्राध्यापक होने का सौभाग्य (अथवा दुर्भाग्य) प्राप्त नहीं हो सका है। इन दोनों संस्करणों की तुलनात्मक समीक्षा डाक्टर किशोरीलाल गुप्त ने इस पत्रिका (हिन्दुस्तानी) के वर्ष ४३ के अंक १ में 'जायसी-कृत कन्हावत के दो संस्करण' शीर्षक से करने की कृपा की है (पृ० ३०-४०)। उनकी इस समीक्षा से प्रेरित होकर यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है और इसका उद्देश्य पाठकों का ध्यान 'कन्हावत' के एक ऐसे स्थल की ओर आकृष्ट करना है जो गम्भीरतापूर्वक विचार करने की अपेक्षा रखता है।

जायसी ने अन्य सूफी प्रेमाख्यानकों की भाँति ही रचना आरम्भ ईश्वर-स्तुति, मुहम्मद स्तुति (नात), चार मीत, शाहेवक्त, मीर और गुरु और रचना-काल के उल्लेख से किया है। इस रचना में विशेषता यह है कि गुरु-चर्चा के बाद और रचना-काल के उल्लेख से पूर्व ६ कड़वकों में एक नगर का अतिरिक्त विस्तृत वर्णन किया है। यही स्थल प्रस्तुत विचार का विषय है। विचार-चर्चा आरम्भ करने से पूर्व इन कड़वकों का उल्लेख कर देना उचित होगा। इससे पाठकों को मेरी बात समझने में सहायता मिलेगी। पाठ मैं अपने संस्करण से उद्धृत कर रहा हूँ; वही इस विवेचन का आधार भी है :

कहों नगर बिद [रा] बन ठाऊं। सदा सोहावन जानस नाऊं॥
सतजुग हतो धरम अस्थानूं। तहिया कहत नगर ऊनानूं॥
पुनि त्रेता गयेउ द्वापर भखी। भूंजा राज महारिख रिखी॥
रहत रिखीसर सहस अठासी। खनी खन्त पोखर चौरासी॥
बांधा घाट ईंट गढ़ लाये। औ चौरासी कुँआ बनाये॥
बिचबिच बाँधे भीट सोहाई। निसि भये गँगन जनहुत राथीं॥
ठाँव ठाँव परो पहारी। तिह ऊपर सब मढ़ी सँवारी॥
बैठि तपा तप साधे, सबै पुरुख औ नारि।
होम जाप निसिदिन, करहिं जग्य अगियार॥ ८

[पुनि] कलियुग कीन्हों पैसारू। गये जो रिखीसर तजि संसारू॥
[जिह] ठाईं पुनि बसगित रहा। भा अरन्न जगरन गहा॥
[आइ] चढ़ी तिह तन खन दसा। भा तुरकान धूर फिर बसा॥
[सब] भगवन्त सराहे जोगू। पाम फूल नौ निधि रस भोगू॥
[राइ] रंक घर ऊँच अवासा। अगर चन्दन घन आवै बासा॥

मेर सुगन्ध रहा भर पूरी । कुंकुम परिमल औ कस्तूरी ॥
[............................] । [.........................] ॥
देखी नगर सुहावन, देहली हुत जस पास ।
जस जस नियरै जाइ, जनौ चढ़े कैलास ॥ ९

एक कोट मुठि ऊँच अपारू । जाकर जनहु चौखंड विस्तारू ॥
खाईं खनि पतार लै लाई । गहन अबूझ न सूझै जाई ॥
बारह पँवरी चहुँ दिसि राची । बैठि रहे रातदिन आची ॥
घरी घरी बाजे घरियारा । पहर पहरी चहुदिसि चिहुकारा ॥
बसै गिरहथी नगर गरेरे । हाट-हवण्डी बसे चहुँ फेरे ॥
[............................] । [.........................] ॥
नाच कोड़ बहुकथा, खँड खँड चहुँ दिसि होय ।
मानुस केर कहौंका, देवता रहहिं विमोह ॥ १०

नगर चहूँ दिसि तीरथ बासी । खना खन्त पोखर चौरासी ॥
उतरा पँथ हौं जस देखा । तैस हौं चलि रहौं बिसेखा ॥
दधि और दूध दोउ धन नीसे । सिधी रखी पिवक्षा जैसें ॥
सजीमान जनु होइ हँवारा । बिचबिच जलहर बहुतपहारा ॥
भरा समुंद जस नीर हिलोरा । पैरहिं पंछी हंस चकोरा ॥
फूले कँवल कुमुद पौनारी । करन्हि अन्हान केलि कैनारी ॥
झुण्ड झुण्ड पनिहारी आवहिं । रहसि कोउ जल भरहिं गठावहिं ॥
घाट चहूँ दिसि बाँधे, लागि सुहाई ईंट ।
एक चौरासी पोखर, औ चौरासी भीट ॥ ११

औ पुरपाल चहूँ दिसि बासा । मस सुलतान अनूप अवासा ॥
नारद भी पुरख सो आदी । उमर खिताब केर औलादी ॥
[तिह] गच के छाईं चौबारी । बैठहिं मलिक होइ उजियारी ॥
एक मंत्री औ पंडित पढ़े । औ खंडाउ तुरंगम चढ़े ॥
कोइ बैठे पढ़हिं पुरानू । कोउ किताबलै करहिं बखानू ॥
सब सेवौं विश्नौं सिर नावहिं । सातहु भून माथ भुइँ लावहिं ॥
[सु] रस कण्ठ नाद मन मोहा । सब कुँवर तिह बैठक सोहा ॥
तहाँ कवि मलिक मुहम्मद, मरम न जानी कोइ ।
लिहै सो लाख करोरहिं, जो कोइ गाहक होइ ॥ १२

लागेउ चहूँ दिसि अमराईं । सागर सरवर कुवाँ बनाई ॥
सघन लागि फुलवारी बारी । भाँति भाँति छाईं चौबारी ॥
ठाँवहि ठाँव हसर ऐती । बहुल मिलीं गोमट खेती ॥
ते सब तीरथ के अस्थानाँ । जनु विहिस्त का करौं बखाना ॥
गच के भुइँ चहूँ दिसि पोती । दीखै जैस चन्दु कै जोती ॥
बरसै नूर होइ उजियारा । हरै पाप सब जाइ दुवारा ॥
फूल बीरनी लै लै, जगत आइ वहि पास ।
जोहँ छा मन ईंछे, ततखन पूजै आस ॥ १३

सन नौ सै सैतालिस अही। तहिया सरस बचन कबि कही॥
कातिक मँह जो परत देवारी। गाँवहि आहिर कन्ह के मारी॥
तो मैं कहा एहै खँण्ड गावों। कन्ह कथा कर सबहि सुनावौं॥ १४

मेरे उपर्युक्त पाठ और पाठक द्वारा प्रस्तुत पाठ मे अनेक स्थलों पर काफी भेद है, और यह भेद स्वाभाविक भी है। फारसी लिपि में लिखे किसी भी पाठ को अपने वास्तविक रूप में प्रस्तुत कर पाना सहज नहीं है, इससे मैं, पाठक और किशोरीलाल जी तीनों ही परिचित रहे हैं और हैं। समुचित पाठ प्रस्तुत करने के लिए किशोरी लाल जी के शब्दों में 'बहुत कुछ अनुमान का सहारा लेना' पड़ता है। किसी शब्द को वर्तनी मात्र के अनुमान द्वारा प्रस्तुत करना पर्याप्त नहीं है, पूर्वापर के सन्दर्भ में यह भी आवश्यक है कि उस शब्द की वहाँ कोई संगति है भी या नहीं। वर्तनी की दृष्टि से पाठ ठीक होते हुए भी यदि संदर्भ के अनुकूल नहीं है तो उस पाठ की प्रस्तुति भ्रष्ट ही होगी। अपना अभिप्राय स्पष्ट और विषय के साथ अपनी सार्थकता की अभिव्यक्ति करता हुआ पाठ ही सार्थक कहा जायेगा। किसी प्रकार का कोई भी अनुमान तीर न होकर तुक्का बनकर ही रह जायेगा। इस दृष्टि से पाठ-प्रस्तुति में मैं या पाठक कितने सफल हुए हैं, इसका लेखा-जोखा कोई तीसरा व्यक्ति ही दे सकता है जिसके सामने दोनों मुद्रित संस्करणों के साथ मूल फारसी प्रति भी हो और वह उस फारसी प्रति के शब्दों के साथ माथा-पच्ची कर सके।

सम्प्रति विचारणीय समस्या कड़वक ८ की प्रथम पंक्ति तक ही सीमित है। मैं और पाठक दोनों ही इस बात में सहमत हैं कि इस पंक्ति में किसी नगर की चर्चा है, मतभेद इस बात का है कि वे उसे जायस मानते हैं और मैं उसे बिन्द्राबन समझता हूँ। पंक्ति का मेरा पाठ है—

कहौं नगर बिंद[रा] बन ठाऊँ। सदा सोहावन जानस नाऊँ।

पाठक का पाठ है—

कहौं नगर बड़ आपन ठाऊँ। सदा सोहावन जायस नाऊँ॥

'आखिरी कलाम' की पंक्ति —

जायस नगर मोर अस्थानू। नगरक नाँव आदि उदियानू॥

के परिप्रेक्ष्य में पाठक ने अपना पाठ प्रस्तुत किया हो तो आश्चर्य नहीं। कदाचित् इसी से प्रभावित होकर किशोरीलाल जी ने पाठक के पाठ को उचित मान कर मेरे पाठ को अग्राह्य ठहराया है। सहज भाव से देखने पर यही उचित भी जान पड़ता है। अपना पाठ प्रस्तुत करते समय मेरे सामने भी उक्त पंक्ति को पाठक के पाठ के रूप में पढ़े जाने की सम्भावना रही है और 'आखिरी कलाम' की पंक्ति से भी परिचित रहा हूँ। मैंने इस बात को स्पष्ट रूप से कड़वक के नीचे दी गई टिप्पणी में कहा भी है। यह सब जानते हुए, जान बूझकर इस पाठ को मैंने अस्वीकार किया है। इसके लिए कारण हैं। पाठ प्रस्तुत करते समय पाठक का ध्यान उन कारणों पर जा ही नहीं सकता था क्योंकि अर्जुन की भाँति उनका ध्यान केवल पाठ की ओर था, उसकी सार्थकता की ओर नहीं। इसलिए वे क्षम्य हैं, किन्तु समीक्षक के रूप में किशोरीलाल जी को समूचे प्रसंग पर ध्यान रखकर पाठ की संगति पर विचार करना चाहिए था, पर वे भी यहाँ चूक गये हैं।

उपर्युक्त पंक्ति का पाठ प्रस्तुत करते समय सर्वप्रथम कड़वक ११ की पंक्ति २ की ओर ध्यान देना उचित होगा जिसे उक्त पंक्ति में उल्लिखित नगर का वर्णन करते हुए आगे उसी क्रम मे कहा है। उनका कहना है—

उतरा पंथ हौं जस देखा। तसहौं चलि कहौं बिसेखा।

इस पंक्ति के पूर्वार्ध के पाठ को पाठक की भी स्वीकृति प्राप्त है। उनका पाठ है—

उतरा पंथहि हौं जस देखा।

अतः इस पाठ की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। यह पंक्ति अपने आप मे इस बात की स्पष्ट घोषणा है कि जिस नगर की चर्चा उन्होंने उपर्युक्त कड़वकों में की है, वहाँ वे आगन्तुक पथिक मात्र वहाँ के निवासी नहीं। यदि उनका अभिप्राय 'अपने ठाँव' का वर्णन करना होता तो वे कभी भी 'पंथ उतर कर' नगर के देखने की बात न कहते। स्पष्ट है, वे जायस नगर का वर्णन नही कर रहे है। इस पंक्ति को कड़वक ८ की पंक्ति १ का पाठ प्रस्तुत करते हुए नजर-अदाज नहीं किया जा सकता।

पुनः नगर की चर्चा करने के बाद ही जायसी कड़वक १४ की पंक्ति २ और ३ मे कहते हैं—

कातिक मँह जो परत देवारी। गावहिं आहिर कन्ह कै मारी॥
तो मैं कहा एहै खंड गावौं। कन्ह कथा कर सबहि सुनावौं॥

इन पंक्तियों का पाठक द्वारा प्रस्तुत पाठ इस प्रकार है—

कातिक मँह जो परत देवारी। गावहिं आहिर खटकै तारी।
तो मैं कहा अमिय खंड गाऊँ। कन्ह कथा कर सबहि सुनाऊँ॥

इन दोनों पाठों में थोड़ा-सा भेद है। इन भेदों के बावजूद इन पंक्तियों से यह बात तो सामने आती ही है कि कातिक के दीपावली पर्व पर अहीर कुछ गान कर रहे थे। उससे प्रेरित होकर जायसी के मन में कन्ह-कथा प्रस्तुत करने की बात उठी। स्पष्ट है कि अहीर जो कुछ गा रहे थे, वह कृष्ण-कथा से ही सम्बन्धित रही होगी। उसी कृष्ण-कथा से प्रेरणा प्राप्त कर जायसी ने कन्हावत की रचना की। स्वाभाविक प्रश्न उभरता है कि जायसी ने यह कृष्ण-कथा कहाँ सुनी—जायस मे या अन्यत्र? जायस अवध मे स्थित है और यह राम की रंगस्थली रहा है। यह राम-चर्चा का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में दीपावली अथवा किसी अन्य अवसर पर कृष्ण-कथा कहे अथवा गाये जाने की परम्परा या परिपाटी की जानकारी उपलब्ध नही है। यह सम्भव नही कि जायसी ने कृष्ण-कथा जायस में सुनी हो। उन्होंने उसे जब भी सुना होगा, ब्रज-प्रदेश में ही जो कृष्ण की क्रीड़ा-स्थली है और जहाँ के जनमानस के कण-कण में कृष्ण व्याप्त हैं और जहाँ कृष्ण-चर्चा निरन्तर होती रहती है। ब्रज के ग्वालों के बीच बैठकर ही दीपावली के दिन जायसी ने कृष्ण-कथा सुनी थी और यह तभी सम्भव है जब वे वहाँ गये हों। जायसी ने अपने इसी प्रवास का उल्लेख कड़वक ११ के पंक्ति में 'उतरा पंथ' के रूप में किया है और कड़वक ८ से १३ का वर्णन उन्होंने यह बताने के लिए ही किया है। इससे भी यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि यह नगर जायस नहीं, बिन्द्रावन था। इस विवेचन से मेरे पाठ की सार्थकता भली-भाँति समझी जा सकती है।

कड़वक ८ से १२ तक जायसी ने जो नगर-वर्णन प्रस्तुत किया है, वह बहुत कुछ वैसा ही है जैसा सूफी कवि अपने प्रेमाख्यानों की कथा से सम्बद्ध नगर-प्रसंग में करते रहे हैं। अतः वह ऊपर विवेचित पंक्तियों के अभाव में जायस, बिन्द्रावन अथवा किसी भी अन्य नगर पर सहज भाव से आरोपित किया जा सकता था। किन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर इनमें कुछ पंक्तियाँ ऐसी भी दिखाई देती हैं जो वर्णित नगरों से अलग नगर-विशेष पर ही आरोपित की जा सकती हैं। उन पर ध्यान भी देना उचित होगा। ये पंक्तियाँ हैं—

(१) सतयुग हुतो [illegible] कड़वक [illegible] पंक्ति २

(२) ठाँव ठाँव परीं पहारीं । तिह ऊपर सब मढ़ी सँवारीं ।८। पंक्ति ७

(३) पुनि कलियुग कीन्हों पैसारू । गये जो रिखीसर तजि संसारू ।।
जिह ठाई पुनि बसगित रहा । भा अरन्न जगरन गहा ।।
आइ चढ़ी तिह तत्खन दसा । भा तुरकान पूर फिर बसा ।।९। पंक्ति १-३

(४) देखी नगर सुहावन, देहली हुत जस पास ।
जस जस नियरे जाइ, जनो चढ़ै कैलास ।।९। पंक्ति ८-९

(५) नगर चहूँ दिसि तीरथ वासी ।११। पंक्ति १

(६) दधि औ दूध दोउ धन नीसे । सिझे रखीं पिडवा जैसे ।११। पंक्ति ३

(७) ये सब तीरथ के अस्थाना ।१३।४

उपर्युक्त उद्धरणों में १, ३, ५ और ७ पाठक संस्करण में नाममात्र भिन्नता के साथ यथावत् उपलब्ध हैं। उनके पाठों के प्रति किसी प्रकार के सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है, अतः इनमें कही बातें पाठक और किशोरीलालजी, दोनों को मान्य होनी चाहिए। इनमें उद्धरण १, ५ और ७ इस बात का स्पष्ट संकेत प्रस्तुत करते हैं कि जिस नगर का वर्णन है, वहाँ कोई तीर्थस्थान था। जायस के कभी तीर्थस्थान होने या रहने की बात किसी सूत्र से ज्ञात नहीं है। पाठक के कथनानुसार सोलहवीं शती में वहाँ मुसलमान सन्त भले ही रहते रहे हों, पर वे लोग होम, जाप और अभिचार कभी नहीं करते होंगे, जैसा कि जायसी ने कड़वक ८ की पंक्ति में कहा है। यह तो हिन्दू तीर्थ का ही बोध कराता है। और हम जानते हैं कि बिन्द्राबन का महत्त्व तीर्थ-स्थली के रूप में रहा है और आज भी है। जायस कभी भी हिन्दुओं का तीर्थस्थान न रहा और न है।

आगे, उद्धरण ३ में कहा गया कि कलियुग में जब सब ऋषीश्वर संसार तजकर चले गये तो जहाँ बस्ती थी, वह वीरान होकर अरण्य हो गया। उसके बाद उसकी दशा में सुधार हुआ और जब तुर्कों का राज्य हुआ तो यह पुनः बसा। इसमें ऐतिहासिक तथ्य निहित है। जायस कभी उजड़ा और फिर बसा हो, इसकी जानकारी किसी सूत्र से उपलब्ध नहीं है। दूसरी ओर यह इतिहास-सिद्ध बात है कि वृन्दावन उजड़ कर जंगल बन गया था और दिल्ली के लोदी सुल्तानों के समय में ही फिर से बसा। यह घटना जायसी से एक शताब्दी पूर्व की घटना है। वे इस तथ्य से परिचित रहे होंगे। तभी उन्होने इस बात की चर्चा की है।

शेष तीन उद्धरण २, ४ और ६ ऐसे हैं जिनके पाठ, पाठक के पाठ से भिन्न हैं। उद्धरण ६ को पाठक ने इस प्रकार उपस्थित किया है—

ओदहि ओदहि दो घन तैसी। सजे रखी पंडवा जैसी।

इसका कोई सार्थक भाव हो सकता है; यह पाठक ही बता सकते हैं, हम नहीं कह सकते। स्वयं पाठक भी अपने पाठ के प्रति आश्वस्त नहीं हैं। उन्होंने इसके सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगा रखा है। मेरा अपना पाठ भी सन्तोषजनक नहीं है, फिर भी उससे नगर में दूध, दही और घी के प्राचुर्य की बात तो ध्वनित होती ही है और इस प्रकार की बात ब्रज-क्षेत्र के लिए ही कही जा सकती थी, जायस के लिये नहीं।

शेष दो उद्धरण इस प्रसंग में अधिक निर्णायक हैं और इन्हीं दो के आधार पर मैंने अपने पाठ-निर्धारण की बात कड़वक ८ की टिप्पणी में कही है। मेरे पाठ से दो बातें सामने आती हैं। एक तो यह कि जिस स्थान का वर्णन जायसी ने किया है, वह दिल्ली के निकट था (उद्धरण ४

४), दूसरे यह कि वह स्थान पहाड़ी था (उद्धरण २)। पाठक ने इन पंक्तियों को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उससे ये दोनों बातें ध्वनित नहीं होतीं। किशोरीलालजी ने उनके पाठ को स्वीकारते हुए, जायस के पक्ष में अपना मत प्रकट करते हुए मेरे पाठ को अग्राह्य घोषित किया है। अतः इन दोनों पंक्तियों पर तनिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

पहले उद्धरण ४ को लें जिसका पाठ इस प्रकार है—

देखी नगर सुहावन, देहली हुत जस पास।

पाठक का पाठ है —

देखें नगर सुहावन, ढले पुहुप जस बास।

जिसे मैंने 'देहली हुत' पढ़ा है, वह उनकी दृष्टि में 'पुहुप जस' है। यही मुख्य अन्तर है जो नगर के वृन्दावन के रूप मे पहचानने मे बाधक है। इस पाठ को प्रामाणिक मानकर किशोरीलालजी ने अपना मत व्यक्त किया है। किन्तु भाषाविद् होते हुए भी वे यह बात भूल गये हैं कि पुहुप-बास फैलता है, ढलता नहीं। पुहुप-बास के ढलने की बात अपने आप में अटपटी ही नहीं, हास्यास्पद है। जायसी से आशा नहीं की जाती कि उन्होंने इस प्रकार का अटपटा हास्यास्पद प्रयोग किया होगा। यह अपने आप में इस बात का प्रमाण है कि इस पंक्ति का मूल पाठ यह कदापि नही हो सकता। समुचित पाठ के लिए मूल पाठ की वर्तनी पर ध्यान उचित होगा। मेरे 'हुत' पाठ को खींच तानकर किसी प्रकार 'पुहुप' होने का अनुमान किया जा सकता है। उसके विवाद में जाने की आवश्यकता नही। विचारणीय केवल यह है कि पाठ 'देहली' है या 'ढले'। पाठक के पास मूल प्रति का माइक्रो-फिल्म है। वे इस बात को अवश्य स्वीकार करेंगे कि इस शब्द की वर्तनी दाल, हे, लाम और छोटी ये (ى) है। वे फारसी के विद्वान् हैं, ऐसा उनके संस्करण-पुस्तक के जैकेट के फ्लैप पर बताया गया है। फिर भी आश्चर्य है, वे इस छोटी-सी बात को भूल गये कि 'छोटी ये' (ى) का प्रयोग सदैव 'ई' के लिए होता है, 'ए' के लिए नही, केवल 'बड़ी ये' (ے) का प्रयोग बिना किसी अन्तर के 'ई' और 'ए' दोनों के लिए हो सकता है और होता है। अतः 'छोटी ये' (ى) के होते हुए इस शब्द को 'ढले' तो कदापि नहीं पढ़ा जा सकता। यदि वे 'देहली' पाठ को नकारना चाहें तो भी इस शब्द का पाठ ढली, ढिली, ढिल्ली ही होगा। 'ढली' पाठ के साथ भाषा और मुहावरे की वही कठिनाई है जो 'ढले' पाठ के साथ है। 'ढिली' या 'ढिल्ली' पाठ को चाहे तो वे ग्रहण कर सकते हैं। इसमें कोई आपत्ति नहीं है। देहली के लिए 'ढिल्ली' का प्रयोग हिन्दी वालों के लिए अनजान नहीं है। किन्तु कोई कारण नहीं कि मुसलमानों के बीच प्रचलित 'देहली' पाठ को छोड़कर 'ढिल्ली' पाठ ग्रहण किया जाय। 'ढिल्ली' और 'देहली' दोनों ही पाठ के साथ अगला शब्द 'हुत' ही पढ़ा जायेगा, 'पुहुप' नहीं। देहली-ढिल्ली पाठ के साथ संगति वृन्दावन की ही हो सकती है, जायस की नहीं।

अब आइये उद्धरण २ की ओर। मेरा पाठ है -

ठाँव-ठाँव परीं पहारीं। तिह ऊपर सब मढी सँवारी।

पाठक ने इसे पढ़ा है —

ठाँउ-ठाँउ पर बन बहु बारीं। तेहि ऊपर सब मढ़ी सँवारीं।

दोनों पाठों में उत्तरार्ध एक सरीखा है। अतः इस अंश को मूल पाठ होने में किसी प्रकार की कोई शंका नहीं की जा सकती। पूर्वांश पर, जिसके पाठों में स्पष्ट भिन्नता है, विचार करते समय आवश्यक है कि पहले उत्तरांश के 'ऊपर' शब्द पर ध्यान दिया जाय।

यदि पूर्वांश का पाठक द्वारा प्रस्तुत पाठ ही ठीक हो, जैसा कि किशोरीलाल जी की धारणा है, तो 'ठाँउ-ठाँउ' पर जो बन और बारी थी, उनके (पेड़ों के) ऊपर ही मढ़ी सँवारी क्यों होंगी

बन और बारी के भीतर मढ़ी बनाये जाने की बात तो सामान्य जन ही जानते हैं, पर पेड़ों के ऊपर भी मढ़ी बनाये जाते थे, इसे पाठक और किशोरीलालजी ही जानते हैं, हमें तो मालूम नहीं। शायद पाठक भी इस अनोखी बात से परिचित न होंगे। सीधी-सी बात तो यह है, पाठक का पाठ अत्यन्त हास्यास्पद स्थिति प्रस्तुत करता है; इस प्रकार का पाठ जायसी का पाठ कदापि नहीं हो सकता। मेरे अपने पाठ के औचित्य के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पहाड़ी के ऊपर मढ़ी का बनाया जाना स्वाभाविक है। अतः 'परी पहारी' पाठ ही संगत हो सकता है 'पर बन बहुबारी' नहीं।

इस तथ्य को वर्तनी की कसौटी पर भी कस लेना उचित होगा। पाठक का कहना है कि जिस कड़वक की यह पंक्ति है, वह उन्हें दो प्रतियों में प्राप्त रहा है। मेरा परिचय उनमें से केवल एक प्रति से है जिसे उन्होंने जर्मनी प्रति का नाम दिया है। इसी प्रति का फोटोग्राम मेरे पास है। उसमें विचारणीय शब्द जिस रूप में लिखे गये हैं, वह मेरे सामने हैं। दूसरे प्रति के आलेख के अभाव मे मैं कल्पना ही कर सकता हूँ कि उस प्रति में भी ये शब्द उसी ढंग से प्रस्तुत किये गये होंगे जिस ढंग से वे उपलब्ध प्रति में लिखे गये हैं। अपनी प्रति के आधार पर जिस शब्द को मैंने 'परी' पढ़ा है, उसे पाठक ने 'पर बन' के रूप में देखा है, अर्थात् जिसे मैं 'ई' समझता हूँ, वह उनके अनुसार 'बन' है। नुक़्तों के अभाव में 'नून' से पूर्व के शोशे को 'ये', 'बे' कुछ भी पढ़ा जा सकता है। अतः 'परी' को पाठक 'पर बन' पढ़ सकते हैं। इसमें कोई कठिनाई न होगी। पर 'परी' और 'पर बन' में कौन-सा पाठ संगत और उचित है, इसका निर्णय अगले शब्द पर ही निर्भर करता है। मेरे सामने जो प्रति है, उसमें यह शब्द तीन खण्डों में विभक्त है। पहला खण्ड तीन अक्षरों 'बे' (पे), 'हे' और 'अलिफ' का संयुक्त रूप है। उसके बाद 'रे' का अकेला खण्ड है और तीसरा खण्ड दो अक्षरों 'ये' और 'नून' के संयोग से बना है। दूसरे और तीसरे खण्ड का संयुक्त पाठ 'री' होगा जो हम दोनों ने समान रूप से स्वीकार किया है। विचार पहले खण्ड के सम्बन्ध में ही करना है। यदि पाठक के पाठ 'बहुबारी' पर विचार करें तो ध्यान देना होगा कि फारसी-लेखन-प्रणाली के सामान्य नियम के अनुसार 'बहु' (بہو) और 'बारी' (باری) दोनों को अलग-अलग लिखा जाना चाहिए था। 'बहु' के लिए 'बे' और 'हे' एकसाथ मिला और 'बारी' के 'बा' को उन दोनों से अलग 'बे' और 'अलिफ' के संयुक्त रूप से बने खण्ड के रूप में होना चाहिए। यहाँ उपलब्ध प्रति में ऐसे दो स्वतन्त्र खण्ड न होकर अकेले एक खण्ड है। फारसी-लेखन के किसी भी प्रणाली के अनुसार अथवा व्याकरण के किसी भी नियम से 'बहु बारी' को संयुक्त रूप से लिखा जा सकता है, इसकी हमें किसी भी सूत्र से कोई भी जानकारी नही है। अपनी अनभिज्ञता को स्वीकार करते हुए हम यह मान भी लें कि इस प्रकार के लेखन में किसी प्रकार की कोई त्रुटि नहीं है तो भी 'बहु बारी' पढ़ने के लिए आवश्यक है कि आरम्भिक शब्द-खण्ड में 'बे' और 'हे' के बाद और 'अलिफ' से पहले 'बे' की अभिव्यक्ति करने वाले शोशे का स्पष्ट संकेत होना चाहिए। उपलब्ध आलेख में आरम्भिक शब्द खण्ड में केवल तीन ही अक्षर-बे (अथवा पे) 'हे' और 'अलिफ' हैं। नुक़्तों और ज़ेर, ज़बर, पेश का अभाव तो फारसी-लेखन में प्रायः पाया जाता है, पर नस्तालीक ढंग से लिखे गये किसी आलेख में किसी अक्षर की अभिव्यक्ति करने वाले शोशे की उपेक्षा सर्वथा अनजानी बात है। अतः यहाँ 'बे' के अभाव को हम लिपिक के प्रमाद की संज्ञा देना चाहें तो भी नही दे सकते। यदि इस प्रकार 'बे' को व्यक्त करने वाले शोशे का अभाव यहाँ है तो हमें यह स्वीकारना नहीं होगा कि शब्द तीन अक्षरों में पूर्ण है और उसे 'बहा', 'भा', 'पहा' या 'फा' के अतिरिक्त तीसरा कुछ नहीं पढ़ सकते। प्रसंगानुसार इन्ही मे से एक को सार्थक शब्द के रूप में स्वीकार करना होगा। और वह सार्थक शब्द 'पहारी' ही हो सकता है।

निष्कर्ष यह कि मेरा ही पाठ—

ठाँव ठाँव परीं पहारीं । तिह ऊपर सब मढ़ी सवाँरीं ।।

ग्राह्य हो सकता है, पाठक का पाठ—

ठाँउ ठाँउ पर बन बहु बारी । तिह ऊपर सब मढ़ी सवाँरीं ।।

नहीं। और तब यह भी कहा जा सकता है कि इसका अभिप्राय वृन्दावन से ही है, जायस से कदापि नहीं। वृन्दावन में ही पहाड़ी के संकेत प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार नगर-वर्णन के इस समूचे प्रसंग से जायसी ने हमारे सम्मुख अपने जीवन का एक अनजाना तथ्य प्रस्तुत किया है कि वे अपने जीवन-काल में वृन्दावन गये थे और वहीं उन्होंने कृष्ण-कथा सुनी और उससे प्रेरित होकर उन्होंने 'कन्हावत' की रचना की। पाठक स्वयं निर्णय करें कौन-सा पाठ साभिप्राय और सार्थक है।

जे० १२/१५ आर, बौलियर बाग
राम कटोरा
वाराणसी—२२१००२१

□

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

मेरे लेख "कन्हावत : सूफी कवि जायसी की रचना नहीं" अंक ३, १९८१, में प्रतिपादित आधारभूत मुद्दों को ओझल करते हुए डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने सिद्ध करना चाहा है कि 'कन्हावत जायसी की ही रचना है।' (अंक २, '८२)

● इसी तरह डॉ० भगीरथ मिश्र ने भी (वीणा अक्टूबर, १९८१) इसी तथ्य को दुहराया है ? जिसका उत्तर मैं 'वीणा' में दे रहा हूँ ?

● ● आश्चर्यजनक यह है कि डॉ० शिवसहाय पाठक को मेरे तर्कों का उत्तर सीधे देना चाहिए था। लेकिन वे चुप हैं। डॉ० प० ला० गुप्त ने अपनी संपादित 'कन्हावत' कृति की भूमिका में किन तर्कों के आधार पर उसे जायसी की रचना माना है, मुझे नहीं मालूम—क्योंकि उसकी प्रति मुझे देखने को नहीं मिली। हाँ, हिन्दुस्तानी के पिछले अंक में किन्हीं सज्जन ने लिखा था कि डॉ० पाठक द्वारा संपादित 'कन्हावत' की तुलना में डॉ० गुप्त का संपादन शुद्ध और अच्छा है ? जब तक उसे न देख लूं, मैं इस बारे में कुछ नहीं कह सकता। परंतु यह तय है कि डॉ० पाठक द्वारा संपादित 'कन्हावत' में त्रुटियाँ हैं। उसमें शब्दों की मनमानी व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं और कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ हो गया है ? लेकिन इससे विद्वान् लेखक के श्रम का महत्त्व कम नहीं हो जाता। फारसी लिपि से देवनागरी लिपि में रूपांतरण और संपादन श्रम और निष्ठा दोनों की माँग करता है। डॉ० पाठक ने इस माँग की पूर्ति की है। मैंने अपने लेख में जायसीदास के बारे में जो कुछ अनुमान लगाया है, वह गार्सां द तासी के कथन के आधार पर है। 'तासी' की उपेक्षा यह कहकर नहीं की जा सकती कि उसका कथन विश्वसनीय नहीं है। आखिर उनके द्वारा उल्लिखित स्प्रेंगर वाली प्रति के आधार पर ही 'कन्हावत' की खोज और उसका संपादन संभव हो सका है ? तासी ने किसी आधार पर ही जायसीदास और उसके धर्म-परिवर्तन के बारे में सूचनाएँ दी होंगी। 'कन्हावत' से पनावत का विकास संभव है। दोनों संपादक तो यह मानकर ही चल रहे हैं कि कन्हावत, पद्मावत के लेखक जायसी की ही रचना है। डॉ० पाठक ने दावा किया है कि उन्होंने तीन पांडुलिपियों के आधार पर 'कन्हावत' का संपादन किया है, परन्तु वास्तविक संपूर्ण प्रति एक ही है जिसके साथ डॉ० स्प्रेंगर का नाम जुड़ा है। संपादकों की भूमिका में यदि इस मुद्दे का विचार नहीं है तो उससे यह सिद्ध नहीं होता है कि 'कन्हावत' जायसी की रचना है। डॉ० वासुदेव अग्रवाल ने पद्मावत की रचना हि० स० ९२७ में मानी है, जैसा कि उल्लेख है। शाहेवक्त के बारे में उन्होंने लिखा है कि वह समय-समय पर बदलता रहा है। प्रक्षेप और विस्तार का सिलसिला भारतीय प्रबंध-काव्यों का चिरपरिचित सिलसिला है। अपभ्रंश कवि स्वयंभू के 'रिट्ठणेमि चरिउ' में १६वीं सदी में भट्टारक यशःकीर्ति ने १२ संधियाँ जोड़ दीं। यह मान लेने पर भी कि 'कन्हावत' की रचना के बाद, दो-तीन साल में पद्मावत की रचना कर ली होगी। मैं कहता हूँ कि इससे भी कम समय में उन्होंने रचना पूरी कर ली होगी। परन्तु इससे 'कन्हावत' उनकी रचना सिद्ध नहीं होती। दूसरे 'कन्हावत' पर पद्मावत की छाया है, न कि पद्मावत पर कन्हावत की छाया। यह अजूबा ही माना जाएगा कि एक कवि एक के बाद दूसरे काव्य की रचना करे और पहले के बारे में दूसरे में कोई सूचना न दे !

'पद्मावत' में जायसी स्वयं को पंडितों का पिछलग्गू मानते हैं, जब कि 'कन्हावत' में मिश्र जी के अनुसार जायसी ने अवश्य ही अनेक संस्कृत ग्रंथों का अवगाहन किया होगा। जो कवि 'पद्मावत' में शिव को म्लेच्छ और विश्वासघाती देवता कहे, वह भारतीय अवतारवाद पर आधारित अद्वैतवाद का समर्थन करने के लिये 'कन्हावत' की रचना करेगा, यह संभव नहीं। 'कन्हावत' में कृष्ण कहते हैं कि मैं अंतिम देवता नहीं हूँ। जो इस दुनिया का सिरजनहार है, वह (खुदा) अवतार ग्रहण नहीं करता। वह राजाओं का राजा है, मैं उसी का एक अंग हूँ। 'कन्हावत' और 'पद्मावत' में दो भिन्न मानसिकताएँ काम कर रही हैं। भक्तियुग का कोई भी कवि, वर्तमान कवियों की तरह दुहरी मानसिकता नहीं रखता था। आश्चर्य है कि 'कन्हावत' लिखने के बाद, पद्मावत में जायसी कृष्ण-गोपियों के बारे में ऐसे सतही संदर्भ देते हैं, जैसे उन्हें कृष्णकथा का पता ही न हो। 'कन्हावत' कृष्ण-वार्ता का तद्भव है, उसमें कृष्ण-राधा-चंद्रावली के त्रिकोणात्मक प्रेम का चित्रण है। 'पद्मावत' की रचना का प्रारंभ में हि० सं० ६४७ में मान लेने पर भी आश्चर्य यह है कि जायसी ने शेरशाह की मृत्यु (२२ मई, १५४५) का उल्लेख नहीं किया। इसका अर्थ है— पद्मावत की रचना, शेरशाह की मृत्यु के पूर्व हो चुकी थी।

फारसी लिपि में होने से लोगों को कन्हावत का पता नहीं चला, यह कहना भ्रामक है। क्योंकि मध्ययुग की बहुत-सी कृतियाँ फारसी लिपि में थीं, इससे उनकी प्रसिद्धि में फर्क नहीं आया। यह कहना कि ऐसी प्रेम-कहानी तुरकी-अरबी-फारसी मे नहीं है, संदेह पैदा करता है। क्योंकि कृष्णकथा पर तब तक उन भाषाओं में काव्य लिखे जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता। मेरा स्पष्ट मत है कि किसी नवदीक्षित मुसलमान ने (जो मूलतः हिंदू पुराणों से परिचित था) 'पद्मावत' के तर्ज पर 'कन्हावत' की रचना की—यह बताने के लिए कि कृष्ण पूर्ण अवतार होते हुए भी, खुदा से नीचे, पैगम्बर के समकक्ष हैं। बाद में पाठों के प्रक्षेप से मूल रचना को पहचानना मुश्किल हो गया। 'तासी' उसे जायसीदास हिंदू की रचना मानता है तो वह एकदम गलत नहीं है। किसी अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए तथ्यों की पूर्वापर और गहरी छानबीन जरूरी है। ठेठ अवधी में कोई भी लिख सकता है, उस पर किसी एक कवि के एकाधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। डॉ० मिश्र ने जिनको ठेठ अवधी के शब्दों में गिनाया है, वे दूसरी बोलियों में भी हैं। फिर जायसी में शास्त्रीय शब्द भी हैं। प्रश्न यह नहीं है कि ठेठ अवधी के प्रयोग पर 'कन्हावत' कंचन-जैसी खरी उतरती है, प्रश्न है कि क्या वह जायसी की रचना है?

११७, उषा नगर
इंदौर
४५२००१

पत्र-प्रतिक्रिया (कन्हावत)

सम्मान्य अग्रज,

प्रणाम।

आपका कृपा-पत्र दिनांक ७-२-८३ को मिला।

आपने 'कन्हावत' का पारायण किया। आप 'सहमत हो' गये 'कि 'कन्हावत' जायसी की प्रामाणिक रचना है।' आपके अन्य शब्दों के लिए क्या लिखूँ ? अनुगृहीत हूँ।

आपकी जिज्ञासाएँ इतनी 'बलवती' हैं कि उनके उत्तर में दो बड़े शोध-प्रबन्ध और एक अच्छा लेख (लिखा जाना) अपेक्षित है। अवसर मिला तो अवश्य लिखूँगा। यहाँ संक्षेप मे कुछ लिखना चाहता हूँ।

(१) 'कन्हावत' का जायसी की अब तक प्रकाशित कृतियों में अन्तर्सम्बन्ध (?) बड़ा गहरा है। पद्मावत, अखरावट, आखिरीकलाम, कहरानामा, मसलानामा, चित्ररेखा और कन्हावत —इन सभी काव्यों की आत्मा एक है। इनमें एक महाप्राण, पृथिवी-पुत्र, लोकजीवन के अनन्य पारखी—भारतीय महाकवि की अभिव्यक्ति के प्रत्येक आश्रम (शब्द, शक्ति, छन्द, रस, अलंकृति······) का एकात्म रूप मिलता है। इन सबमें जहाँ कहीं दार्शनिक या चिन्तनमूलक अभिव्यक्तियाँ हैं—वहाँ कवि की मान्यता में कोई अन्तर नहीं है। प्रेम, दर्शन, कला, भाव, बाह्य वर्णन, प्रकृति (—पदमावत, चित्ररेखा, कन्हावत) आदि में अद्भुत अन्तःसम्बन्ध मिलता है।

जायसी मूलतः कवि हैं, उन्होंने इन काव्यों की सर्जना की है। यह सही है कि वे इस्लाम के अनुयायी हैं, पर प्रायः कहीं भी उन्होंने इस्लामी कट्टरता का प्रदर्शन नहीं किया है।

जायसी ने पद्मावत में पद्मिनी की कथा कही है, चित्ररेखा में रानी चित्ररेखा की और कन्हावत में 'कन्ह' (कृष्ण > कण्ह > कान्ह : कन्ह) को – कथा का वे आख्यान करते हैं, सूफी मत या इस्लाम का प्रचार नहीं, मसनवी लिखते हैं—प्रेम की और सत् : सती;-तत्त्व की सर्वोपरिता को दृष्टिपथ में रखते हैं, इस्लामी कट्टरता को नहीं; इस्लामी चिन्तन को भी नहीं।

उन्होंने अपने सभी काव्यों में हिन्दू-मुसलमान संस्कृतियों के समग्र समन्वय का प्रयास किया है—और इसके लिये उन्होंने प्रेम और ऐकान्तिक सती-तत्त्व या सत्तत्त्व को ही लक्ष्य-पथ में रखा है।

चन्द्रावली से कृष्ण ने कहा—

["परगट भेस गोपाल गोबिन्दू।] गुपुत गियान न तुरुक न हिन्दू ॥"

यह क्या है ? कृष्ण के समय में मुसलमान कहाँ थे ? क्या यह तथ्य कवि को ज्ञात नहीं था ? वस्तुतः जायसी का वास्तविक रूप यही है। यही उनका हृदय—विशाल हृदय—है और इसी की अभिव्यक्ति उनके इन काव्यों में द्रष्टव्य है।

यदि जायसी के शब्दों का और उनमें अनुस्यूत बिम्बों, छवियों और ध्वनियों का लेखा-जोखा करें तो लगता है कि उनके सभी काव्यों में बड़ा गहरा अन्तःसम्बन्ध है

(२) " 'कन्हावत' के अस्तित्व का कोई प्रभावात्मक साक्ष्य क्या हिन्दी कृष्ण-काव्य और परवर्ती सूफी काव्य में दिखाई देता है ?" इसके उत्तर के लिए तो बड़ा गहरा अध्ययन आवश्यक है। एक सत्य यह है कि जायसी की कृतियाँ फारसी लिपि में लिखी गई थीं और इसी कारण एक लम्बे समय तक हिन्दी में ये सब प्रायः उपेक्षित रहीं। १८९१ में ग्रियर्सन और १९२४-२५ ई० मे आचार्य शुक्ल के प्रयासों से 'पद्मावत' और 'अखरावट' से हिन्दी-संसार परिचित हुआ।

जरा सोचें कि क्या पद्मावत और अखरावट १९२४ ई० के पूर्व नहीं थे। जब शुक्ल जी ने 'भूमिका' लिखी तो हिन्दी वालों की आँखें खुलीं—उस वक्तव्य के प्रथम वाक्य से ही।

क्या 'आखिरी कलाम' जायसी की कृति नहीं थी ? १९३५ के पूर्व हिन्दी वालों को उसका ज्ञान क्यों नही था ?

१९५१ के पूर्व 'महरी बाईसी' [कहरानामा—डॉ० माताप्रसाद गुप्त] का ज्ञान किस हिन्दी वाले को था ?

१९५८-५९ के पूर्व 'चित्ररेखा' का ज्ञान किस हिन्दी पंडित को था ?

१८७६ ई० में गार्सां द तासी को 'घनावत'—कन्हावत—की डॉ० स्प्रेंगर वाली हस्तलिखित प्रति का ज्ञान था—उन्होंने उसे देखा था—विवरण भी दिया था। डॉ० कुलश्रेष्ठ से लेकर आज तक जायसी की कृतियो की सूची में उसी 'घनावत' (जो फारसी लिपि को ठीक से न पढ़ने के कारण कहा गया था) का उल्लेख 'रिसिचर्या' वाले लोग करते रहे।

डॉ० स्प्रेंगर १८४४ में भारत आये थे। वे दिल्ली-कलकत्ता में प्रिंसिपल रहे। १८६६ में वे स्वदेश (—जर्मनी—) चले गये—अपने साथ वे पूरी दो हजार हस्तलिखित प्रतियाँ ले गए—और ये सभी बर्लिन के संग्रहालय में हैं। दो और प्रतियाँ पहले ही (खंडित रूप में) मिली थी। मुझे दृढ़ विश्वास है कि विदेशी संग्रहालयों के साथ ही भारतवर्ष में भी 'कन्हावत' की और-और हस्तलिखित प्रतियं मिलेंगी—आवश्यकता धन की है - खोजने की है।

जायसी कृत 'चित्ररेखा' की सुन्दर हस्तलिखित प्रति (जिसकी फोटोस्टेट प्रति आज भी मेरे पास है) सालारे जंग संग्रहालय से गायब हो गई है क्यों नहीं भारत सरकार पता लगाती कि वह रत्न कहाँ गया ?

यह एक सत्य है कि १९२४ के पूर्व हिन्दी वाले न तो जायसी को जानते थे और न मानते थे—पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'भूमिका' मे उन्हें 'हिन्दी के दो सर्वश्रेष्ठ कवियों में एक' न माना होता, 'भूमिका' न लिखी होती तो ईश्वर जाने जायसी को कब पहचाना जाता !

मैं मानता हूँ कि जायसी का काव्य विद्वानों के लिए भी कसोटी है। आज हिन्दी मे जायसी को जानने वालों का अकाल पड गया है। किसी ने कह दिया और हम कौवे के पीछे दौड़ रहे हैं, निकट के 'कान' नही देखते। 'कन्हावत' प्रकाशित है और हिन्दी-संसार में उसके पारखी नही हैं। और—किस मुँह से हिन्दी वाले 'राष्ट्रभाषा' की बात कहते हैं ? स्वाँग और विद्वत्ता में अन्तर है—व्यर्थ ही लोग जायसी को जानने का स्वाँग रचते हैं।

आज तक 'कन्हावत' की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ (देश : विदेश से) मिली हैं, खोज मे और भी मिलेंगी।

'कन्हावत' की रचना पद्मावत के पहले हुई। 'पद्मावत' का सूक्ष्म अध्ययन करने पर उसमें कृष्ण-कथा-विषयक शताधिक सूत्र मिलते हैं—कंस, कन्ह (कान्ह। किरसुन-क्रिस्न), कालिंदी-कालिंदरी कारी, अक्रूर, जसोवे, बंसकारि, भारथ-अर्जुन, महुर, महरा गोपीहा, ग्वाले,

दुवारिका, बलि, बासुकि, बसुदेऊ, भीम, मुस्टिक, लोहड़ा--प्रभृति सूत्रों को समेकित करने पर जिस कृष्ण-कथा का रेखांकन होता है, वह 'कन्हावत' की ही कृष्ण-कथा है। [बातांतर करने की आज्ञा दें। पद्मावत में 'राम' से सम्बद्ध सूत्रों या बिन्दुओं वाली पंक्तियों को काढ़ने पर : उन्हें क्रम से रखने पर एक बड़ी सुन्दर राम-कथा बन जाती है— ठीक उसी रूप में पद्मावत में कृष्ण-कथा की भी रूपरेखा है—राम-विषयक पंक्तियाँ डेढ़ सौ के आसपास हैं, कृष्ण-विषयक पंक्तियाँ लगभग अढाई सौ हैं। और कृष्ण-कथा-विषयक पद्मावत के ये वक्तव्य कन्हावत के लिए 'प्रभावात्मक साक्ष्य' का काम करते हैं। अनेक ऐसी पंक्तियाँ हैं जहाँ शुक्ल जी मौन हैं, वासुदेवशरण अग्रवाल इतिहास, भूगोल और पुराण-कथाओं में उलझे हैं और मूल अर्थ का अनर्थ होता रहा, पर 'कन्हावत' के आ जाने से वे पंक्तियाँ अब मुदृश्य हैं (यथा—"बेनी कारी पुहु चलै निकसा जमुना आइ। पूजानंद अनंद सौं, सेंदुर सीस चढ़ाइ॥"—इस एक दोहे का कितना अनर्थ हिन्दी मे हुआ है। कृपया 'कन्हावत' की भूमिका (पृ० ७२-७३) देख लें।]

(३) आपके तीसरे प्रश्न में कुल मिलाकर लगभग ७ प्रश्न हैं। आपके ये प्रश्न बहुत मौजूं हैं। 'कन्हावत' के अनुसंधायकों को इन प्रश्नों पर बड़ी गम्भीरता से विचार करना होगा। मेरे मन में भी ये विचार अनेक बार उठे हैं।

आपका पत्र मिलने के बाद मैंने कुछ प्राकृत-अपभ्रंश ग्रन्थों को उलटा-पलटा—वही पुरानी बातें मिलती रहीं—जैन कवियों ने राम और कृष्ण की कथाओं को प्रायः एक नये रूप में रखा है। यह नया रूप वाल्मीकि, सूर, तुलसी वाली कथा से नितान्त भिन्न है। राम और कृष्ण के विषय में वहाँ ऐसे उल्लेख हैं जो हमारी एतद्विषयक धारणा के विपरीत हैं·········।

जायसी पर प्राकृत-अपभ्रन्श-परस्परा का गहरा प्रभाव है। उसका अध्ययन होने पर ही प्राकृत-अपभ्रन्श-काव्यों के दाय के विषय में कुछ कहा जा सकता है। ठीक यही स्थिति लोक-कथाओं के विषय में भी है। प्राकृत-अपभ्रन्श-कृष्ण-काव्य का प्रभाव अवश्य होना चाहिए।

'कन्हावत' की कथा में बहुत कुछ भागवत की कथा आ गई है, लोक-कथाओं को कवि ने दृष्टि-पथ में रखा ही है, साथ ही कवि ने कल्पना और सम्भावना का भी पूरा-पूरा उपयोग किया है। जैसे – शुक्र राक्षसों के गुरु रूप में ख्यात हैं। यदि कवि यह उद्भावना करे कि राक्षस-राज कंस के 'सूक' मंत्री थे तो इसमें उसकी कल्पना और सम्भावना का सम्प्रसार ही देखना चाहिए— वह तो 'स्वयंभू' है और मंत्री का अर्थ 'मिनिस्टर' तो नहीं है—मन्त्री मन्त्रणा देता है। 'सूक' मेरी समझ में इसी प्रकार की मन्त्रणा देता (दिखाई देता) है और 'नारद' तो कंस के मन्त्रणादाता-रूप में 'सुख्यात' है। जायसी ने अपनी कृष्ण-कथा में अनेक सन्दर्भों मे मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। इस विषय पर एक पूरा लेख लिखना होगा।

यह सही बात है कि फारसी लिपि में लिखित पद्मावत की कथा बहुचर्चित हो गई और कन्हावत की कथा अज्ञात और अछूती बनी रही। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। आचार्य पं० भगीरथ मिश्र ने अपने एक लेख में इसके ६-७ तर्कसंगत कारणों पर प्रकाश डाला है। सच तो यह है कि ग्रियर्सन (१८११ ई०) की शोध के पूर्व हिन्दी के विद्वान् जायसी को नहीं जानते थे। शुक्ल जी के सामने १८२४ ई० में केवल दो ग्रन्थ ही (जायसी के) थे—पद्मावत और अखरावट। आखिरी कलाम उन्हें १८३१ में मिला। यदि डॉ० ए० स्प्रेंगर की खोज १८४५ ई० और गार्सां द तासी का विवरण १८७६ ई० को पढ़कर कोई विद्वान् 'कन्हावत' को १८११ या १८२४ ई० में प्रकाशित करता तो आज तक 'कन्हावत' पर सौ 'रिसीचारी' 'डिगरीधारी' हो गये होते। क्या

यह विडम्बना नहीं है कि जिस काव्य-रत्न का ज्ञान जर्मनी और फ्रान्स के 'स्कालर्स' प्राच्य-विद्या-महार्णवों को १८५० ई० और १८७६ ई० में था—उसे हिन्दी के 'पंडित' जानते तक नहीं थे ! क्या यह भी विडम्बना नहीं है कि ग्रियर्सन के पूर्व हिन्दी के पंडित 'पद्मावत' से भी अपरिचित थे ? क्या यह भी विडम्बना नहीं है कि १८५१ ई० के पूर्व 'महरीबाईसी' को सम्पूर्ण हिन्दी जगत् नहीं जानता था ?

[स्व० डॉ० माताप्रसाद गुप्त के सम्पादन के समय एक ही अधूरी प्रति के २२ छन्द लंदन से मिले थे—और आज उस 'महरीबाईसी'—कहरानामा—की ११ प्रतियाँ हमारे देश में उपलब्ध हो गई हैं।]

भाई, शोध के आलोक में कृतियाँ मिल रही हैं, कवि मिल रहे हैं। और तो और—भाषाएँ भी मिल रही हैं। १८७७ में पिशेल ने लिखा था कि 'अपभ्रंश भाषा का विपुल साहित्य खो गया है', १९१४ में हर्मन याकोबी मारे हर्ष के नाच उठे जब उन्हें राजकोट और अहमदाबाद से 'नेमिनाथ-चरित' और 'भविसयत्तकहा' की प्रतियाँ मिलीं और उन्होंने घोषणा की कि वह "खो गया है" अब 'खो गया नहीं रहा'—"अब वह मिल गया है।" १९१४ - १८ के पश्चात् से आज तक अपभ्रंश की सहस्राधिक कृतियाँ मिल चुकी हैं ! अस्तु,

भाई जी, 'कन्हावत' की जर्मनी वाली प्रति के लिए मैं कितना व्याकुल था—आप कल्पना भी नहीं कर सकते। जब पत्र लिखते-लिखते हार गया तो जर्मनी जाने की व्यवस्था की, पासपोर्ट के लिए भोपाल गया, वहाँ से दिल्ली गया। उसी समय दिल्ली से मैंने घर पर फोन किया और मेरी बच्ची ने कहा कि जर्मनी से 'माइक्रोफिल्म कापी' आ गई है। कितना और कष्ट हुआ सम्पादन में—सो मैं जानता हूँ। और जब बिना एक-एक शब्द पढ़े और उस पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किये कोई कहता है कि 'कन्हावत' की प्रामाणिकता संदिग्ध है तो आत्मिक पीड़ा होती है। साथ ही दया का भाव उपजता है ऐसा कहने वालों पर। मन विवश होकर कह उठता है कि आज जायसी के जानकारों का अकाल-सा पड़ गया है। पद्मावत और कन्हावत—स्तुति, गुरु-पीर-परम्परा, शाहेवक्त, मुहम्मद साहब—उनके चार यार, नगर-दुर्ग, वृक्ष-फल-फूल, रूप, विरह, षट्ऋतु, सौतिया-झगड़ा, बाद्य प्रभृति वर्णनों के साथ ही भाषा, शैली, अलंकृति—में अद्भुत अन्तः-सम्बन्ध और एकात्मकता है।

अब मैं इस पत्र के माध्यम से सम्पूर्ण हिन्दी संसार से पूछता हूँ कि उसने मुझे क्या दिया ? हिन्दी जगत् ने अपनी परम्परा-प्रथित कृतघ्नता ही प्रायः दी है।

आपने तुलसीदास-विषयक मेरे एक लेख की चर्चा की है और लिखा है कि उसकी दो बातें मान्य नहीं हैं—

(१) मैंने लेख में उपनाम के प्रयोग की परम्परा का उल्लेख किया है और लिखा है कि "बाबा ने अपने काव्य में तुलसीदास, तुलसिदास, तुलसी के प्रयोग किये हैं।" वस्तुतः हमारे देश में पद्य-पद्य में कविनाम, उपनाम आदि को रखने की परम्परा नहीं थी—और यह परम्परा फारस से आई। 'तुलसीदास' उनका नाम था, गुरु द्वारा दिया गया नाम था, स्वयं चुना हुआ नाम था—आदि के झगड़े से मैंने बचकर—(१) उपनाम-परम्परा की चर्चा की है और (२) बाबा के प्रयुक्त तीनों शब्दों का उल्लेख किया है तथा यह कहा है कि इस प्रकार से जो प्रयोग हुए हैं, उनके मूल में फारसी परम्परा है।

(२) तुकान्त छन्दों के विषय में आपने जो बातें लिखी हैं—प्रायः वे सभी उस लेख की १६ पंक्तियों में भी कही गई हैं। [इस विषय पर मैंने (१) पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य (पृ० ११०,

६-), (२) मलिक मोहम्मद जायसी और उनका काव्य (३१२-१८), (३) हिन्दी सूफी काव्य का समग्र अनुशीलन (३३२) और (४) अपभ्रन्श : भाषा और व्याकरण (पृ० १०-१६) में पर्याप्त लिखा है—तुकान्त-परम्परा (कालिदास कृत विक्रमोर्वशीयम्—चतुर्थ अंक से लेकर जायसी-तुलसी-द्वारिका प्रसाद मिश्र तक पर प्रकाश डाला है।]

सोचने की बात है कि ऋग्वेद में गिने-गिनाये छन्द हैं—गायत्री प्रमुख है। तब से लेकर सस्कृत साहित्य की पूरी परम्परा में एक भी तुकान्त छन्द नहीं है और विक्रमोर्वशीयम् में प्राकृत-अपभ्रन्श के ३५ पद्यों में तुक दिखाई पड़ा—अपवाद रूप में। स्वयंभू, सरह आदि के बाद परम्परा आगे चली है। किन्तु तुकान्तता सहसा आई कहाँ से? फारसी-काव्य में ईसामसीह के पूर्व और पश्चात् यह परम्परा रही है—आभीर कहीं उधर से ही यहाँ आये—। उनके विरहागानों से प्रभावित काव्य में प्रयुक्त दोहा आदि छन्द मिले—। आभीर-परम्परा बड़ी पुरानी है—। और ऐसी स्थिति में फारसी प्रभाव की सम्भावना को हम कैसे निरस्त करें?

यह प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मैंने तुकान्त छन्दों की पूरी परम्परा को दृष्टिपथ में रखा है और फारसी प्रभाव की नई दिशा की ओर इंगित किया है।

भाई, बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ कि आपने नेह दिया, कुछ 'जिज्ञासाएँ'—(आपके अन्तः की विद्वत्ता और विनयशीलता का शब्द) रखीं, मुझसे दो-चार पृष्ठ लिखवा लिया और आशीः प्रदान किया। प्रार्थना है कि आप जब भी यहाँ आएँ—तो अपने व्यस्त समय में से कुछ मुझे भी दें और यदि इसी कुटी में ठहरें तो मेरा सौभाग्य होगा। पुनः-पुनः प्रणाम लें।

आशा है सानन्द हैं।

डॉ० जगदीश गुप्त
इलाहाबाद

आपका
शिवसहाय पाठक
रीडर, हिन्दी प्राध्ययन केन्द्र,
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन

नए प्रकाशन

□

रोमैण्टिक मिज़ाज : मुकुटधर पाण्डेय से मुक्तिबोध तक

[लेखक—डॉ० कान्तिकुमार जैन
प्रकाशक—साहित्यवाणी, २८ पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद—६,
संस्करण १९८१
मूल्य—३५ रुपये, पृ० १७४]

आलोच्य पुस्तक के लेखक **डॉ० कान्तिकुमार जैन** हिन्दी के सुधी पाठकों के लिए कोई नये नहीं हैं। आपकी समीक्षात्मक मेधा से हिन्दी जगत् सुपरिचित है। **'नयी कविता'** के रूप में आपने हिन्दी-समीक्षा साहित्य को एक अभिनव कृति दी थी जिसका सर्वत्र स्वागत हुआ था; वैसे तो आपकी चार पुस्तकें और प्रकाशित हो चुकी हैं। इस प्रकार प्रकाशन-क्रम में आलोच्य कृति का क्रम छठा आता है।

पुस्तक के नाम से यह ध्वनि निकलती है कि यह कृति रोमैण्टिक मिज़ाज वाली हिन्दी-कविता का इतिहास होगी, परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। **''रोमैण्टिक मिज़ाज : मुकुटधर पाण्डेय से मुक्तिबोध तक''** शीर्षक यह पुस्तक हिन्दी के रोमैण्टिक काल का समग्र और सांगोपांग इतिहास न होकर कुछ इने-गिने कवियों का ही लेखा-जोखा है। इनमें से कुछ कवि अतिचर्चित हैं, कुछ अल्पचर्चित तथा कुछ अचर्चित। इनमें से अधिकतर पाठ्यक्रमेतर कवि हैं। नाम इस प्रकार हैं—**मुकुटधर पाण्डेय, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान, रामानुज लाल श्रीवास्तव, केशवप्रसाद पाठक, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', रामधारी सिंह 'दिनकर', नर्मदाप्रसाद खरे, शिवमंगल सिंह 'सुमन', गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, भवानीप्रसाद तिवारी, नरेश मेहता, गजानन माधव मुक्तिबोध**। इन १५ कवियों पर डॉ० जैन ने सन् १९६४ से १९७१ के बीच जो लेख लिखे थे वे ही इस पुस्तक में संगृहीत हैं और कुछ 'धर्मयुग', 'माध्यम', 'कल्पना', 'विश्वभारती पत्रिका', 'साक्षात्कार' आदि में प्रकाशित हो चुके हैं।

चूँकि ये लेख किसी एक सुचिन्तित योजना के परिणाम नहीं हैं, इसलिए इनमें ऐतिहासिक विकास की एकसूत्रता का अभाव स्वाभाविक है। लेकिन इससे इस पुस्तक की उपयोगिता और महत्ता पर कोई आँच नहीं आती। यह पुस्तक रोमैण्टिक कविता का इतिहास भले ही न हो, पर रोमैण्टिक कविता का इतिहास लिखने वालों के लिए यह पुस्तक एक दिशा-निर्देशिका अवश्य है। यह पुस्तक रोमैण्टिक कविता के इतिहास-लेखकों के लिए एक जोरदार तमाचा भी है और एक स्वीकार करने वाली चुनौती भी। यह पुस्तक रोमैण्टिक कविता के इतिहास को फिर से लिखने को बाध्य करती है।

इस पुस्तक की उपयोगिता महज इस बात से नहीं है कि यह रोमैण्टिक मिज़ाज के उन तमाम कवियों से हमें परिचित कराती है जिनका नाम या तो हम जानते नहीं या हम गलत संदर्भों मे जानते हैं, या उनके बारे में जानना भी न जानने के समान है, वरन् इस कृति की उपयोगिता इस बात में है कि यह कृति हमारे सामने कई सवाल रखती है जिनका उत्तर, महज जिज्ञासा का शमन नहीं होगा, अपितु कविता की अस्मिता की पहचान, कविता का मर्म और कविता का धर्म पहचानना होगा। पुस्तक की यह प्रश्नधर्मिता ही इसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

—

की चुनौती देती है जिसे हमें स्वीकार करना ही चाहिए। या, जब डॉ० जैन सुभद्राकुमारी चौहान के संदर्भ में कहते हैं कि "बहुत अच्छा पद्य लिखना अपने आप में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है" तो हमें कविता और अच्छे पद्य के संबन्धों पर विचार के लिए उकसाते हैं; या जब वह इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान दिलाते हैं कि "छायावादी कवि (प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी) में सभी का दाम्पत्य-जीवन या तो अपूर्ण है या असफल" और यह सवाल उठाते हैं कि "कहीं इनके काव्य में व्याप्त करुणा और आध्यात्मिक विरह का उत्स इन कवियों के अतृप्त दाम्पत्य-जीवन में तो नहीं है ?" तब वे फिर से इन कवियों के बारे में सोचने को विवश करते हैं और इन कवियों के मूल्यांकन के लिए नया आधार तैयार करते हैं। या, रामानुजलाल श्रीवास्तव की चर्चा करते हुए जब लेखक कहता है कि "हिन्दी के बहुत से कवियों ने हाला, प्याला, मधुबाला, कज़ा आदि का प्रयोग किया है। बच्चन, 'सुमन', भगवतीचरण वर्मा और परवर्ती कवियों में ये प्रतीक किस रूप में प्रयुक्त हुए हैं— इसका अध्ययन बड़ा रोचक होगा" तो अनजाने ही जिज्ञासु अध्येताओं पर उपकार कर देते हैं कि उन्हें एक विषय मिल जाता है।

इस प्रकार के कई नये विषय और कई नये सवाल डॉ० जैन इस कृति के द्वारा पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं।

इस पूरी कृति में कई स्थलों पर डॉ० जैन आज के हिन्दी समीक्षकों की दकियानूसी, लकीर-पीटू प्रवृत्ति पर चोट करते हैं और प्रकारान्तर से उन्हें ललकारते हैं। उदाहरण के लिए, वे जब कहते हैं कि केशव पाठक के "कृतित्व और व्यक्तित्व का विश्लेषण करने वाले को एकसाथ समीक्षक, मनोवैज्ञानिक और चिकित्सक होना होगा। × × × जब हिन्दी का पालग्रेव आएगा और बीसवीं शताब्दी के हिन्दी काव्य की 'गोल्डन ट्रेज़ेडी' के लिए श्रेष्ठतम और धार्मिक कविताओं का चयन होगा तो उसमें केशव पाठक की 'पूछ रहे हो मेरा घर', 'कौन गाता' और 'गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के महाप्रयाण पर' जैसी कविताओं को छोड़ देना उसके लिए कठिन होगा।" या "रामधारीसिंह 'दिनकर' को स्वतन्त्र रूप से राष्ट्रकवि या युगचारण कहना तो समीक्षकों के लिए आसान रहा है, किन्तु खड़ी-बोली काव्य के समस्त काव्य-प्रवाह में उनका स्थान निर्धारित करना आधुनिक काव्य के सभी अध्येताओं के लिए कठिन सिद्ध हुआ है" — तब वे विडम्बनात्मक सत्य की ओर संकेत करते हुए यही करते हैं। यह बात दूसरी है कि इन सबका असर, नामधारी आलोचकों की गैंडे की खाल-जैसी बुद्धि पर कितना और किस रूप में पड़ता है।

इस पुस्तक मे लेखक ने प्रत्येक कवि के बारे में अपनी मान्यताएँ स्थापित की हैं और उन मान्यताओं को निबन्धगत सीमाओं के भीतर भली-भाँति प्रमाणित भी किया है। कवियों की रचनाओं के वस्तुनिष्ठ, तटस्थ और वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा, उनके काव्य-परिदृश्य का, उनके रचना-संसार का समग्र परिचय पाठकों को देने का सफल प्रयास इस कृति की विशेषता है। लेखक ने किसी एक कवि के बारे में लिखते हुए, उसके समानधर्मी अन्य रचनाकारों के आलोक में, उसे आँकने की पद्धति का प्रयोग करके उसकी विशेषताओं को और अधिक व्याप्ति दी है, साथ ही दीप्ति भी। यह बात दूसरी है कि लेखक की स्थापनाओं से हम सहमत हों या न हों, लेकिन इतना जरूर है कि असहमत होने के लिए बहुत पापड़ बेलने पड़ेंगे जिसकी उम्मीद हिन्दी के समीक्षकों से बहुत कम की जाती है। वे तो दो विरोधी मान्यताओं के बीच से एक तीसरी मान्यता स्थापित करने की कला में पूरी तरह दक्ष हैं। और इतिहास-लेखक, कई इतिहास की किताबों को सामने रखकर सबका महत्तम

समापवर्त्य निकालकर एक नया हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने में कमाल दिखाने वाले हैं। मूल कृतियों को खोजना और उन्हे पढ़ना, तब इतिहास लिखना उनके लिए व्यर्थ की बला पालने के समान है। वे तो बला पालने के नहीं, बला टालने के हिमायती हैं।

इस कृति ने हमें हिन्दी-जगत् में फैली इस शर्मनाक भ्रांति से भी छुटकारा दिलाया कि "मुकुटधर पाण्डेय का देहान्त १९१८ ई० में अत्यन्त अल्पावस्था में हो गया और वे नये काव्य की परम्परा को आगे नहीं बढ़ा सके।"

जबकि वास्तविकता यह है कि पाण्डेय जी अभी जीवित हैं और उनके पास लगभग एक 'बोरा भर' पांडुलिपियाँ विद्यमान हैं जिन पर कोई भी अनुसंधित्सु यदि काम करे, तो उसे पी-एच० डी० क्या डी० लिट्० मिल सकती है, लेकिन इस महत्त्वपूर्ण कवि पर कोई क्यों काम करे, उन्हे तो आलतू-फालतू विषयों से ही फुर्सत नहीं है।

यह कृति वर्णित कवियों के अनेक अंतरंग संस्मरण भी हमारे सामने प्रस्तुत करती है जिससे कवि के काव्य की मूल संवेदना को पकड़ने तथा विवादों को शान्त करने में मदद मिलती है। प्रसाद-पाण्डेय प्रसंग इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि छायावाद के आदि प्रवर्तक श्री मुकुटधर पाण्डेय हैं, जैसा कि प्रसादजी ने स्वयं स्वीकार किया है।

डॉ० जैन एक सुधी अध्येता और समीक्षक हैं। उनके पास अध्ययन-सम्पदा के साथ ऐतिहासिक दृष्टि भी है, इसीलिए अगर वे ऐतिहासिक विकासक्रम में रोमैण्टिक कविता की—मुकुटधर पाण्डेय से मुक्तिबोध तक की कविता की—रचना-यात्रा को प्रस्तुत करते; उसके उतारों, चढावों और मोड़ों को अपनी तटस्थ विश्लेषण-दृष्टि से व्याख्यायित आलोचित करते, तो उनके भाषा की जीवन्त ताजगी उनके इस स्तुत्य कार्य को अपना अर्घ्य देती और हिन्दी का पाठक वर्ग उसका गर्मजोशी से स्वागत करता। उम्मीद है डॉ० जैन उस पुनीत कार्य को अवश्य ही सम्पन्न करेंगे।

पुस्तक का आवरण चित्र रोमैण्टिक मिजाज के माफिक है। छपाई साफ-सुथरी है।

डॉ० अशोक त्रिपाठी
प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग
कौशाम्बी डिग्री कालेज
मऊ, बाँदा